

BIBLIOTHECA INDICA;

▲

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED UNDER THE SUPERINTENDENCE OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

Nos. 30, 33, 38, 39 and 41.

---

THE KÁVYÁDARŚA OF ŚRÍ DANDIN,

EDITED, WITH A COMMENTARY, BY

PANDITA PREMACHANDRA TARKABÁGĪ'SA.

*Professor of Rhetoric in the Sanskrit College, Calcutta.*

FASCICULUS V.

CALCUTTA :

PRINTED BY C. B. LEWIS, AT THE BAPTIST MISSION PRESS.

1863.



# काव्यादर्शः ।

महाकवि श्रीदण्ड्याचार्यविरचितः ।

आसियाटिक्सोसाइटीसमाख्यसभासमादेशेन

गवर्षमेष्टकलिकातासंस्कृतविद्यामन्दिरासद्वाराध्यापक

श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचित

मालिन्यप्रोक्कनीगामकटीकासहितः ।

कलिकाता राजधान्यां

मिसन्प्रेसयन्त्रे मुद्रितः ॥

प्रकाश्याः १७८५ ॥

शीटाख्याः १८ ६१ ॥



## भूमिका ।



काव्यादर्शस्यास्य रचयिता किञ्च कविकुलवर्धः श्रीदश्याचार्यः कस्मिन् देशे कस्मिन् काले वा जात इति निश्चेतुं न शक्यते किन्तु प्रबन्धेऽस्मिन् वैदर्भमार्गस्य नितरां प्रशंसनेन तन्मार्गानुसारि-गुणालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनेन च दाक्षिणात्ये विदर्भदेशजोऽयमिति सम्भाव्यते 'जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत् । कवी इति ततोऽप्यासे कवयस्त्वयि दक्षिणि' इति प्राचीनपद्येन प्राचीनतरः कवि-वरश्चायमिति मात्र सन्देहः ।

अथ च कलापरिच्छेदच्छन्दोविचितिप्रभृतीन् सुबहून् प्रबन्धान् नि-बबन्ध, तेषु चायं काव्यादर्शो दशकुमारचरित्रश्च गद्यकाव्यं देशे-ऽस्मिन् परं प्रचरति ।

इह खलु द्विविधमेवालङ्कारिकप्रस्थानमीक्ष्यते, तत्रैकं मुनिभिरुप-दिष्टं प्राचीनं येन भोजराजप्रभृतयः समचरन्त, अन्यदभिनव-गुप्तादिभिरङ्गावितमभिनवं येन च मम्मटभट्टप्रभृतयः प्रतस्थिरे ।

अथ तु प्राचीनमेव प्रस्थानमाख्याय यद्यत्कृता गुणालङ्कारादय-स्तथा निरूपिताः यथास्मिन्नध्वनीनां नवीनपदवी कर्द्दमदुर्गमेव प्रतिभाति ।

प्राचीनतरस्यास्य यशस्य सुपरिशुद्धपुस्तकं प्रायेण दुष्प्रापमा-सीदिति कलिकातासंस्कृतविद्यामन्दिराध्यक्षेबाध्यक्षीकृतसंस्कृतशास्त्र-कलापेन श्रीमता काञ्चीएलसाहेबेन वाराणस्यादिदेशतः कतिचित् पुस्तकान्यानाय मे दत्तानि, मया च तानि समालोच्य सम्यग्विविच्य च यथामति परिशोधितोऽयं प्रबन्धो मन्ये मुदमाधास्यति सहृदयाना-मिति ।

श्रीप्रेमचन्द्र शर्मा ।



# काव्यादर्श

## प्रथमपरिच्छेदस्य निर्घण्टपत्रम् ।



|  | श्लोकाः | श्लोकाः |
|--|---------|---------|
| मङ्गलाचरणम् . . . . .                            | १       | १       |
| वाक्सामान्यस्य प्रशंसा . . . . .                 | ४       | ३       |
| काव्यस्य प्रशंसा . . . . .                       | ६       | ५       |
| दुष्टकाव्यस्य निन्दा . . . . .                   | ६       | ६       |
| काव्यमीमांसाशास्त्रज्ञानस्यावश्यकत्वम् . . . . . | ८       | ८       |
| काव्यस्य प्रजायुत्पत्तिः प्रयोजनम् . . . . .     | ८       | ८       |
| काव्यलक्षणम् . . . . .                           | ८       | १०      |
| काव्यभेदाः . . . . .                             | १३      | १२      |
| महाकाव्यलक्षणम् . . . . .                        | १६      | १४      |
| मध्यकाव्यभेदाः . . . . .                         | २३      | २३      |
| मिथ्यकाव्यभेदाः . . . . .                        | २६      | २१      |
| काव्यस्य संस्कृतादिभेदान्तराणि . . . . .         | ३०      | २२      |
| कथावृत्तयोर्भाषाविवेकः . . . . .                 | ३५      | ३८      |
| रोतिषु वेदग्भीगौषोर्विवेकः . . . . .             | ३७      | ४०      |
| श्लेषादिगुणाः . . . . .                          | ३८      | ४१      |
| श्लेषगुणस्य लक्षणम् . . . . .                    | ३८      | ४३      |
| प्रसादगुणस्य लक्षणम् . . . . .                   | ४२      | ४५      |
| समतागुणस्य लक्षणम् . . . . .                     | ४       | ४७      |
| माधुर्यगुणस्य लक्षणम् . . . . .                  | ४८      | ५१      |
| प्रसङ्गादनुप्रासनिरूपणम् . . . . .               | ५२      | ५५      |
| यमकलक्षणम् . . . . .                             | ५६      | ५८      |
| प्राग्वत्स्य माधुर्यप्रतिबन्धकत्वम् . . . . .    | ५८      | ६२      |

|                                 | पृष्ठाङ्कः | संख्याङ्कः |
|---------------------------------|------------|------------|
| सौकुमार्यगुणस्य लक्षणम् .. .. . | ६६         | ६८         |
| अर्थव्यक्तिगुणस्य लक्षणम् .. .  | ६८         | ७३         |
| उदारत्वगुणस्य लक्षणम् .. .. .   | ७२         | ७६         |
| खोजोगुणस्य लक्षणम् .. .. .      | ७५         | ८०         |
| कान्तिगुणस्य लक्षणम् .. .. .    | ७८         | ८५         |
| समाधिगुणस्य लक्षणम् .. .. .     | ८३         | ८९         |
| काव्यस्य कारणानि .. .. .        | ८१         | १०३        |
| प्रथमपरिच्छेदसमाप्तिः .. .. .   | ८४         | —          |

### द्वितीयपरिच्छेदस्य निर्घण्टपत्रम् ।

|  |     |    |
|--|-----|----|
| द्वितीयपरिच्छेदारम्भः, अलङ्कारसामान्यलक्षणम् | ८६  | ९  |
| अर्थालङ्कारविभागाः .. .. .                   | १०० | ४  |
| समावेशाः .. .. .                             | १०१ | ८  |
| उपमासामान्यलक्षणम् .. .. .                   | १०५ | १४ |
| धर्मापमा .. .. .                             | १०७ | १५ |
| वस्तूपमा .. .. .                             | ११० | १६ |
| विपर्ययापमा .. .. .                          | ११० | १७ |
| अन्योन्योपमा .. .. .                         | १११ | १८ |
| नियमोपमा .. .. .                             | ११२ | १८ |
| अनियमोपमा .. .. .                            | ११२ | २० |
| समन्वयोपमा .. .. .                           | ११३ | २१ |
| अतिशयोपमा .. .. .                            | ११३ | २२ |
| उत्प्रेक्षितोपमा .. .. .                     | ११४ | २३ |
| अद्भुतोपमा .. .. .                           | ११४ | २४ |
| मोक्षोपमा .. .. .                            | ११५ | २५ |
| संशयोपमा .. .. .                             | ११५ | २६ |
| निर्णयोपमा .. .. .                           | ११६ | २७ |



|                                       | शुद्धाङ्कः | साकाङ्कः |
|---------------------------------------|------------|----------|
| सुषोपमा .. ... ..                     | ११६        | २८       |
| समानोपमा ... ..                       | ११७        | २९       |
| निन्दोपमा .. ..                       | ११८        | ३०       |
| प्रशंसोपमा .. ..                      | ११८        | ३१       |
| आधिख्यासोपमा .. ..                    | ११९        | ३२       |
| विरोधोपमा ... ..                      | ११९        | ३३       |
| प्रतिषेधोपमा .. ..                    | ११९        | ३४       |
| घट्टोपमा.. ..                         | १२०        | ३५       |
| तत्त्वाख्यानोपमा .. ..                | १२०        | ३६       |
| असाधारणोपमा .. ..                     | १२०        | ३७       |
| अभूतोपमा.. ..                         | १२१        | ३८       |
| असम्भावितोपमा .. ..                   | १२२        | ३९       |
| बहूपमा.. ..                           | १२२        | ४०       |
| विक्रियोपमा .. ..                     | १२२        | ४१       |
| मालोपमा .. ..                         | १२३        | ४२       |
| वाक्यार्थोपमा .. ..                   | १२४        | ४३       |
| प्रतिवस्तूपमा .. ..                   | १२५        | ४४       |
| तुल्ययोगोपमा .. ..                    | १२७        | ४८       |
| हेतूपमा .. ..                         | १२७        | ५०       |
| उपमादोषविचारः .. ..                   | १२८        | ५१       |
| उपमाबोधकशब्दाः .. ..                  | १२९        | ५७       |
| रूपकसामान्यलक्षणम्, समस्तरूपकम् .. .. | १३५        | ६६       |
| व्यस्तरूपकम् .. ..                    | १३६        | ६७       |
| समस्तव्यस्तरूपकम् .. ..               | १४०        | ६८       |
| सकलरूपकम्.. ..                        | १४०        | ७०       |
| अवयवरूपकम् .. ..                      | १४१        | ६९       |
| अवयविरूपकम् ... ..                    | १४२        | ७३       |
| एकाङ्गादिरूपकम् .. ..                 | १४३        | ७५       |
| युक्तरूपकम् ... ..                    | १४३        | ७७       |
| अयुक्तरूपकम्.. ..                     | १४४        | ७८       |

|                                | श्लोकः | श्लोकाङ्कः |
|--------------------------------|--------|------------|
| विषमरूपकम् .. .. .             | १४४    | ७६         |
| सविशेषणरूपकम् ... .. .         | १४५    | ७९         |
| विरुद्धरूपकम् .. .. .          | १४५    | ८१         |
| हेतुरूपकम् .. .. .             | १४६    | ८५         |
| स्त्रियरूपकम् .. .. .          | १४७    | ८७         |
| उपमा रूपकव्यतिरेकरूपके .. .. . | १४७    | ८८         |
| आक्षेपरूपकम् .. .. .           | १४८    | ९१         |
| समाधानरूपकम् .. .. .           | १४९    | ९२         |
| रूपकरूपकम् .. .. .             | १४९    | ९३         |
| तत्त्वापह्नवरूपकम् .. .. .     | १५०    | ९४         |
| दीपकम् .. .. .                 | १५२    | ९७         |
| मालादीपकम् .. .. .             | १५८    | १०७        |
| विरुद्धार्थदीपकम् .. .. .      | १५९    | १०९        |
| एकार्थदीपकम् .. .. .           | १६०    | १११        |
| स्त्रियार्थदीपकम् .. .. .      | १६१    | ११३        |
| आवृत्तिस्तद्धेदाः .. .. .      | १६२    | ११६        |
| आक्षेपस्तद्धेदाः .. .. .       | १६४    | १२०        |
| धर्माक्षेपः ... .. .           | १६८    | १२७        |
| धर्म्याक्षेपः .. .. .          | १६८    | १२९        |
| कारणाक्षेपः .. .. .            | १७०    | १३१        |
| कार्याक्षेपः... .. .           | १७१    | १३४        |
| अनुज्ञाक्षेपः .. .. .          | १७१    | १३५        |
| प्रभुत्वाक्षेपः .. .. .        | १७२    | १३७        |
| अनादराक्षेपः .. .. .           | १७३    | १३९        |
| आशीर्वाचनाक्षेपः .. .. .       | १७४    | १४१        |
| परुषाक्षेपः... .. .            | १७५    | १४२        |
| साधिव्याक्षेपः .. .. .         | १७५    | १४५        |
| यत्राक्षेपः .. .. .            | १७६    | १४७        |
| परवशाक्षेपः .. .. .            | १७७    | १४९        |
| उपायाक्षेपः .. .. .            | १७८    | १५१        |

|  | पृष्ठाङ्कः | श्लोकाङ्कः |
|--|------------|------------|
| रोषाक्षेपः ... ..                      | १७८        | १५३        |
| मूर्च्छाक्षेपः ... ..                  | १७९        | १५५        |
| अनुकोशाक्षेपः ... ..                   | १७९        | १५७        |
| स्मिथाक्षेपः ... ..                    | १८०        | १५९        |
| अनुशयाक्षेपः ... ..                    | १८१        | १६१        |
| संशयाक्षेपः ... ..                     | १८१        | १६३        |
| अर्थान्तराक्षेपः ... ..                | १८२        | १६५        |
| हेत्वाक्षेपः ... ..                    | १८२        | १६७        |
| अर्थान्तरन्यासः ... ..                 | १८३        | १६९        |
| अर्थान्तरन्यासभेदाः ... ..             | १८५        | १७०        |
| व्यतिरेकः ... ..                       | १८६        | १८०        |
| एकव्यतिरेकः ... ..                     | १८७        | १८१        |
| उभयव्यतिरेकः ... ..                    | १८९        | १८३        |
| सशेषव्यतिरेकः ... ..                   | १८९        | १८५        |
| साक्षेपसहेतुव्यतिरेको ... ..           | १८९        | १८६        |
| प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेकः ... ..       | १८३        | १८९        |
| सादृश्यव्यतिरेकभेदान्तराणि ... ..      | १८४        | १८२        |
| विभावना ... ..                         | १८९        | १८९        |
| समासोक्तिः ... ..                      | २०३        | २०५        |
| समासोक्तिभेदाः ... ..                  | २०६        | २०८        |
| अपूर्वसमासोक्तिः ... ..                | २०९        | २१२        |
| अतिशयोक्तिः ... ..                     | २१०        | २१४        |
| अतिशयोक्तिप्रशंसा ... ..               | २१०        | २२०        |
| उत्प्रेक्षा ... ..                     | २१४        | २२१        |
| उत्प्रेक्षाव्यञ्जकशब्दाः ... ..        | २२४        | २३४        |
| हनुस्तद्धेदाः ... ..                   | २२५        | २३५        |
| सूक्ष्मः ... ..                        | २३९        | २६०        |
| लेशः ... ..                            | २४२        | २६५        |
| क्रमः ... ..                           | २४६        | २७३        |
| प्रयोरसवदूर्जस्त्रिणां लक्षणानि ... .. | २४७        | २७५        |

|                                 | श्लोकाः | श्लोकाः |
|---------------------------------|---------|---------|
| पर्यायोक्तम् .. .. .            | २६७     | २६५     |
| समाहितम् .. .. .                | २६६     | २६८     |
| उदात्तम् .. .. .                | २७१     | ३००     |
| अपङ्क्तिः .. .. .               | २७३     | ३०४     |
| श्लेषः .. .. .                  | २७७     | ३१०     |
| श्लेषभेदाः .. .. .              | २८२     | ३१४     |
| विशेषोक्तिः .. .. .             | २८७     | ३२३     |
| तुल्ययोगिता .. .. .             | २९२     | ३३०     |
| विरोधः .. .. .                  | २९४     | ३३३     |
| अप्रस्तुतप्रशंसा .. .. .        | २९८     | ३४०     |
| व्याजस्तुतिः .. .. .            | ३००     | ३४३     |
| निदर्शनम् .. .. .               | ३०१     | ३४८     |
| सहोक्तिः परिवृत्तिश्च .. .. .   | ३०५     | ३५१     |
| चौशीः .. .. .                   | ३०६     | ३५७     |
| सङ्कीर्णम् .. .. .              | ३११     | ३५६     |
| सङ्कीर्णभेदाः .. .. .           | ३१३     | ३६०     |
| भाविकम् .. .. .                 | ३१५     | ३६४     |
| भाविकभेदाः .. .. .              | ३१५     | ३६५     |
| द्वितीयपरिच्छेदसमाप्तिः .. .. . | ३१८     | —       |

### तृतीयपरिच्छेदस्य निर्घण्टपत्रम् ।

|  |     |    |
|--|-----|----|
| तृतीयपरिच्छेदारम्भः, यमकं, तद्भेदाः, .. .. . | ३२० | १  |
| गोमूत्रिकाः .. .. .                          | ३७५ | ७८ |
| अर्द्धभ्रमः, सर्वतोभद्रश्च, .. .. .          | ३७७ | ८० |
| स्वरस्थानवर्णनियमाः .. .. .                  | ३८० | ८३ |
| प्रहेलिकाः .. .. .                           | ३८६ | ८६ |
| प्रहेलिकास्थानानि .. .. .                    | ३९० | ८७ |
| समागता प्रहेलिका, वञ्चिता प्रहेलिका .. .. .  | ३९० | ८८ |
| व्युत्क्रान्ता, प्रमुषिता .. .. .            | ३९१ | ८९ |

|                                 | पृष्ठाङ्कः | श्लोकाङ्कः |
|---------------------------------|------------|------------|
| समानरूपा, परुषा .. .. .         | ३६२ ..     | १००        |
| सङ्ग्राता, प्रकल्पिता .. .. .   | ३६२ ..     | १०१        |
| नामान्तरिता, निभृता .. .. .     | ३६३ ..     | १०२        |
| समानशब्दा, समूहा .. .. .        | ३६३ ..     | १०३        |
| परिहारिका, एकच्छन्ना .. .. .    | ३६४ ..     | १०४        |
| उभयच्छन्ना, सङ्कीर्णा .. .. .   | ३६४ ..     | १०५        |
| दोषविभागाः .. .. .              | ४०६ ..     | १२५        |
| अपार्थत्वम् .. .. .             | ४०६ ..     | १२८        |
| व्यर्थत्वम् .. .. .             | ४१० ..     | १३१        |
| एकार्थत्वम् .. .. .             | ४१३ ..     | १३५        |
| ससंशयत्वम् .. .. .              | ४१६ ..     | १३६        |
| अपक्रमः .. .. .                 | ४१६ ..     | १४४        |
| शब्दहीनत्वम् .. .. .            | ४२१ ..     | १४८        |
| यतिभ्रंशः .. .. .               | ४२५ ..     | १५२        |
| वृत्तभङ्गः .. .. .              | ४२८ ..     | १५६        |
| विसन्धित्वम् .. .. .            | ४३० ..     | १५६        |
| देशकालकला लोकन्यायागमविरोधाः .. | ४३२ ..     | १६२        |
| देशविरोधोदाहरणम् .. .. .        | ४३४ ४३५ .. | १६५ १६६    |
| कालविरोधोदाहरणम् .. .. .        | ४३५ ..     | १६७ १६८    |
| कलाविरोधोदाहरणम् .. .. .        | ४३७ ..     | १७० —      |
| लोकविरोधोदाहरणम् .. .. .        | ४३६ ..     | १७२ —      |
| न्यायविरोधोदाहरणम् .. .. .      | ४४० ..     | १७४ १७५    |
| आगमविरोधोदाहरणम् .. .. .        | ४४१ ..     | १७७ १७८    |
| देशविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .    | ४४२ ..     | १८० —      |
| कालविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .    | ४४३ ..     | १८१ —      |
| कलाविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .    | ४४३ ..     | १८२ —      |
| लोकविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .    | ४४४ ..     | १८३ —      |
| न्यायविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .  | ४४४ ..     | १८४ —      |
| आगमविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .    | ४४५ ..     | १८५ —      |
| ग्रन्थसमाप्तिः .. .. .          | ४४६ ..     | —          |



श्रीगणेशाय नमः ।

## काव्यादर्शः ।

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।

मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥ १ ॥

सर्वानर्थान् सूते कामपि सहस्रैव निर्लतिं तनुते ।

वाग्देवो, तां सन्तः स्वादरवन्तः सदा भजत ॥ १ ॥

सगुणा सालङ्कारा सस्रदयन्ती पदे पदे ध्वनिभिः ।

सत्कविभणितिः सरसा कस्य न वा मानसं हरति ॥ १ ॥

द्विजश्रीप्रेमचन्द्रस्य व्याख्यानप्रोच्छ्रनाच्चिते ।

काव्यादर्शं सुदर्शोऽस्मिन् सन्तः सन्तु समुक्ताः ॥ २ ॥

निखिलशास्त्रपारावारपारीणः सहृदयधुरीणः कविनि-  
वहवर्यः श्रीदण्ड्याचार्यः केनापि काव्यरहस्यं बुभुत्सुना नृप-  
तितनयेन भूयोभूयः सविनयमनुरुध्यमानः, किमनया पर-  
प्रबन्धाध्यापनया स्वरचितमेवाभिनवमलङ्कारप्रबन्धमिममध्या-  
पयेयमिति मन्यमानः काव्यादर्शनामकं काव्यालङ्कारादिनि-  
रूपणप्रबन्धमिमं निर्माय तमध्यापयामासेति किंवदन्ती ।

तत्र तावत् सदाचारपरिपालनमनुरुन्धानः सरस्वत्या  
मननसङ्घणं मङ्गलमाचरति । चतुर्मुखेति । सरस्वती वाक्-

स्वरूपा भगवतो विष्णोर्मूर्त्तिर्मम मानसे चित्तं अथ च सरो  
विशेषे नित्यं सर्वदा रमतां विहरतु, मम मानस-  
ज्ञानविषयीभूता सती विलसत्वित्यर्थः । ननु सरस्वत्यदोषा  
सदोषा चानुभूयते तत्र सदोषाया मानसमन्विहितत्वप्रार्थन-  
मनुचितमिति विशेषणाभ्यां तां विशिनष्टि, चतुर्मुखो ब्रह्मा  
तस्य मुखान्येव अम्भोजानि तेषां वनं समूहः, वृक्षादिममष्टा-  
वेव वनशब्दस्य रूढत्वात् तदवच्छिन्नप्रदेशे तु साक्षणिकत्वात्,  
तत्र हंसवधूहंसोव, ब्रह्ममुखाम्भोजविहारिणी वेदादिरूपा  
सरस्वती यथा परिशुद्धा तादृक् सरस्वती मे मानसमन्विहिता  
भवतु न तु हालिकादिमुखदमतिः सदोषेति भावः । अतएव  
सर्वशुक्ला सर्वतः स्वरूपतोऽर्थतश्च शुक्ला निर्मला निर्दोषे-  
त्यर्थः पदपदांशवाक्यार्थरसगतदापरहितेति यावत्, अथ च  
धवला, एतेन काव्यरूपा सरस्वतीत्यायातं भवति सदोषाया  
विशुद्धकाव्यत्वानङ्गीकारात्, काव्यरूपायाः सरस्वत्या भगवन्मू-  
र्त्तित्वं । यथा विष्णुपुराणे, काव्यालापास ये केचिद्गीतकान्य-  
खिलानि च । शब्दमूर्त्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनाः ॥ इति ।  
युज्यते च तदुपासनारूपं मङ्गलाचरणं यन्थादी, उपासना  
चात्मनः अरणमननिदिध्यासनरूपा, मानसे रमतामित्यनेन  
च तन्नित्यरूपाण्युपासना कृतेति प्रतीयते मानसव्यापारविशेष-  
रूपत्वाच्चास्याः । अत्र सरस्वत्यां हंसवधूवारोपं प्रति चतुर्मुख-  
मुखे अम्भोजवनत्वारोपस्य हेतुत्वात् परम्परितरूपकमन्विष्ट-  
शब्दनिबन्धनम्, अम्भोजवनत्वारोपेणैव तदुपपत्तौ मानसे मा-



नमारापकरणन्तु न रुचिरं सरःप्रतीतिस्तु व्यञ्जनयेति युक्त-  
 मत्यग्यामः एकान्ततदाग्रहे तु श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनयोस्तयोः  
 सङ्करः । अन्यापि हंसवधूः सर्व्वशुक्ला अम्भोजवने विहरति  
 मानससरसि च रमते । नित्यमित्यत्र दीर्घमिति क्वचित्  
 पाठः दीर्घं सुचिरं प्रारिप्सितयन्यसमाप्तिं यावदिति तदर्थः ।  
 सरस्वती वागधिष्ठात्री देवतेति केचित्, तस्मत्ते तस्या ब्रह्ममुख-  
 सम्बन्धोऽधिष्ठेयाधिष्ठात्रोरभेदाङ्गीकारात्, सर्व्वशुक्लेति च सति  
 बाधे सङ्कोचस्यादरणीयत्वेन सर्व्वपदस्य करचरणतलाधर-  
 नयनादिभिन्नाङ्गपरत्वादुपपन्नमिति ध्येयम् । मम सरस्वती  
 मानसे शिष्याणां हृदि रमतामिति योजयन्त्यन्ये ॥ १ ॥

पूर्व्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलभ्य च ।

यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यनशाणम् ॥ २ ॥

ननु कीदृशीयं काव्यरूपा सरस्वती यस्या उपासनयाति-  
 महार्घत्वमाविष्कृतमित्यनुयुज्यमान इव तल्लक्षणं तावत् प्रति-  
 जानीते । पूर्व्वेति । पूर्व्वेषां भरतादीनां शास्त्राणि काव्यनिरू-  
 पणग्रन्थान् संहृत्य संचिष्य अतिविस्तृतानामेतेषामत्यन्तानुपा-  
 देयांशपरित्यागेनोपादेयांशान् संगृह्येत्यर्थः, तथा प्रयोगान्  
 महाकविप्रणीतान् काव्यप्रबन्धानुपलभ्य च सम्यगालोच्य च,  
 उपलक्ष्य चेति क्वचित् पाठः, एतेन प्राचीनप्रणीतमपि शास्त्रं  
 प्रयोगविरुद्धञ्चेदनुपादेयमेवेति न केवलं पूर्व्वशास्त्रानुसारेण

किन्तु प्रयोगानुसारेण चास्माभिरेतत् क्वचित इति एवमितम् ।  
 अस्माभिर्यथासामर्थ्यं यथाशक्ति, श्रीदृष्टवारणाद्यैतत् । का-  
 व्यस्य, लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति, लक्षणमित्यत्र भेदानुमापकोऽ-  
 साधारणो धर्म इत्यर्थः, क्वियते इत्यादि लक्ष्मिणा पदाव-  
 लीति वक्ष्यमाणवाक्येन प्रतिपाद्यते । एतेषांभिधेयं दर्शितं  
 काव्यं हि ग्रन्थस्यास्य प्रतिपाद्यं प्रयोजनज्ञानान्तरमेव वक्ष्यते  
 सम्वन्धस्तु यथाचयं स्वयमूहनोयः । एतेषां ग्रन्थादाववश्य-  
 वक्तव्यत्वं यथा, ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रातुं श्राता प्रवर्तते ।  
 ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजन इति । निरूपयिष्य-  
 माणानां गुणादीनान्तु उपोहातमङ्गल्युत्थापितत्वात् काव्यनि-  
 रूपणप्रतिज्ञयैव प्रतिज्ञाततया न पृथक् प्रतिज्ञा कृता ॥ २ ॥

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्व्वथा ।

वाचामेव प्रसादेन लोकायात्रा प्रवर्तते ॥ ३ ॥

इत्थं प्रतिज्ञया वाग्विगेषरूपस्य काव्यस्य ग्रन्थस्य वाच्यता-  
 मुक्त्वा प्रजाव्युत्पत्तिरूपं ग्रन्थप्रयोजनं वक्तुं प्रथमं त्वत् श्लोक-  
 द्वयेन वाक्स्वामान्यस्यापादेयत्वमाह । इति । इह संसारे  
 शिष्टैः स्थिरवृत्तिभिः, न पाणिपादचपला न नेत्रचपला मुनिः ।  
 न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य लक्षणमिति महाभारताक-  
 लक्षणवद्भिर्भहेश्वरेन्द्रचन्द्रपाणिनिवररुद्रिप्रभृतिभिरनुशिष्टानां  
 प्रकृतिप्रत्ययविभागादिना व्युत्पादितानां संस्कृतानां प्राकृता-  
 नाञ्छेत्यर्थः, तद्विगतयस्मैतानुश्रामनसम्भवादिति भावः । तथा

शिष्टानामपि एतद्भूयावशिष्टानाञ्च देशीनामित्यर्थः, तासामनु-  
शासनाभावादिति भावः । शिष्टानां स्वतः शिष्टानां संज्ञा-  
रूपाणामिति केचित् । इत्थं त्रिविधानां वाचामेव प्रसादेन  
साचिथेन सर्वथा सर्वेण प्रकारेण लोकानां देवादिपाम-  
रान्तानां यात्रा व्यवहारः प्रवर्तते प्रकर्षेण भवति । तत्रोत्त-  
मानां संस्कृतया मध्यानां प्राकृतया नीचानाञ्च देव्या वाचा  
व्यवहारः ॥ ३ ॥

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाङ्गं ज्योतिरारुंसारं न दीप्यते ॥ ४ ॥

अन्वयेन वाचां व्यवहारोपयोगित्वमुक्त्वा व्यतिरेकेण तदेव  
द्रढयति । इदमिति । शब्दाङ्गं वागाख्यं ज्योतिः, प्रकाशक-  
त्वात्तेज इव संसरत्यनेनेति संसारः सृष्टिरित्यर्थः आरुंसारं  
सृष्टिकालमारभ्य, यदा संसरत्यस्मिन्निति संसारो जगत् आ-  
संसारं जगदभिव्याप्य यदि न दीप्यते न स्फुरेत् तदा इदं  
कृत्स्नं सर्वं जगत् तद्गतलोकजातमित्यर्थः, तमो मोहान्ध-  
कारमयं सत् अन्धं चतुर्दिकलमिव ज्ञानशून्यं जायेत, अन्धं  
• तमो गाढध्वान्तव्याप्तमिति वा, ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसमित्यन्तरः ।  
यदा इदमिन्द्रियासन्निकृष्टं कृत्स्नं जगत् अन्धं तमो गाढान्ध-  
कारकवलितमिवाज्ञातं जायेत, यथा ज्योतिषि सूर्येऽदीप्य-  
माने जगदन्धकारमयं सदज्ञातं भवति तथा शब्दाभावे इत्य-  
र्थः, वेदाप्रवाक्यैरेव सर्वेषां ज्ञानसम्भवादिति भावः ॥ ४ ॥

आदिराजयशोविम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।

तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥ ५ ॥

इत्थं वाक्कामान्यस्य व्यवहारमूलत्वेनोपादेयत्वं प्रदर्श्य  
तस्यैव गुणालङ्कारादिरूपकृततया काव्यरूपतामापन्नस्यो-  
पादेयत्वमाह । आदिराजेति । आदिकालीना ये राजान  
इच्छाकुप्रभृतयस्तेषां यशोरूपं विम्बं प्रतिरूपं क्वायेत्यर्थः, वा-  
ङ्मयं कविगणकृतकाव्यप्रबन्धरूपमादर्शं दर्पणं प्राप्य इदानीं  
तेषां राज्ञामसन्निधानेऽपि न नश्यति न विच्छिद्यते इति स्वयं  
पश्य विचारय, अप्रामाण्यस्यात्यन्तपरिहारार्थतत् अतएवात्र  
न गर्हितत्वं दोषः । अन्यस्मिन्नादर्शं हि सन्निहितानामेव विम्बं  
पतति अत्र त्वसन्निहितानामपीति व्यतिरेकः । एतेनातीतानां  
यशःस्वापनं काव्यस्य प्रयोजनमुक्तं, एतस्योपलक्षणं काव्य-  
कर्तृस्त्वद्देदुश्च यशःप्रभृतीन्पि प्रयोजनान्तराणि ज्ञेयानि,  
यदुक्तं, प्रकाशकृता, काव्यं यशमेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-  
क्षतये । सद्यःपरनिर्वृतये कान्तामस्मिततयोपदेशयुजे । इति ।  
सर्वे च पुरुषार्था एतस्माज्जायन्ते, यदुक्तं, धर्माद्वैकाममोक्षेषु  
वैचक्षण्यं कलासु च । करोति कीर्त्तिं प्रीतिश्च साधुकाव्यनि-  
षेवणमिति ॥ ५ ॥

गौर्गाः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गौत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥ ६ ॥

काव्यस्योपादेयत्वमुक्त्वा तस्य गुणालङ्कारादिरूपकारे

निर्दोषतायाश्च यतनीयमित्याह । गौरिति । गौराणी सम्यक्  
 प्रयुक्ता दोषाभावेन गुणालङ्कारादिमद्भावेन च कविना शोभनं  
 निबद्धा सती कामदुचा सर्वकामप्रपूरिका गौर्धेनुरिव बुधैः  
 सामाजिकैः स्मर्यते सुप्रयुक्ता वाणी कामधेनुवत् सर्वकाम-  
 पूरिका भवतीति ज्ञायते । तथा च श्रुतिः । एकः शब्दः सु-  
 प्रयुक्तः सम्यक् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवतीति । वैप-  
 रीत्ये दोषमाह । सैव गौः पुनर्दुष्प्रयुक्ता सदोषतया रचिता  
 सती प्रयोक्तुः कर्दुर्गात्रं वृषभत्रं मूर्खचनित्यर्थः, शंसति सूच-  
 यति, एतेन दोषाभावे गुणालङ्कारादिमद्भावे च सर्वथा  
 यतनीयमित्येव प्रतिपादितं न तु सदोषस्याकाव्यत्वमिति ध्ये-  
 यम् ॥ ६ ॥

तदल्पमपि नापेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।

स्यादपुः सुन्दरमपि श्वित्रैणेकेन दुर्भगम् ॥ ७ ॥

तदिति । तत्तस्मात् प्रयोक्तुरविज्ञताख्यापकत्वादित्यर्थः  
 काव्ये अल्पमपि पदपदांशमात्रगतमपि दुष्टं दोषः कथनञ्च  
 नापेक्ष्यं सर्वथा तत्परित्यागे यतनीयं । ननु गुणालङ्कारादि-  
 ना सुन्दरतरे तस्मिन् तिष्ठतु नामाल्पयोयान् दोषः किं वि-  
 हन्येत तेनेत्यत्राह सुन्दरमपि लावण्यहाराङ्गदादिना रम-  
 णीयमपि वपुः एकेन केवलेन एकावयवस्थितेन वा श्वित्रेण  
 कुष्ठभेदेन दुर्भगं निन्दितं स्यात् । एतेन दोषाः काव्यस्याप-  
 कर्षमात्रजनका न तु काव्यत्वविघातका इति सूचितं दृश्यन्ते

च महाकविप्रयोगेषु केषुचित्ते ते दोषा इति एतदिच्छा-  
पनार्थमेव प्राचां तददोषौ शब्दार्थाविति चदोषं गुणवत्  
काव्यमित्यादि काव्यलक्षणेषु दोषपदोपादानं न तु सति तत्रा-  
काव्यताप्रतिपादनार्थमिति रहस्यम् । उक्तञ्चान्यत्र कोटानु-  
विद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता । दृष्टेष्वपि मता यत्र रसा-  
द्यनुगमः स्फुट इति ॥ ७ ॥

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।

किमन्वस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥ ८ ॥

इत्यञ्च काव्ये दोषाणां हेतुत्वात्त्या गुणानामुपादेयत्वम-  
र्थाद्भक्तं भवति हेतोपादेयानाञ्च धर्माणां परिज्ञानस्य शा-  
स्त्रोपदेशमापेक्षतया तत्र स्वक्रियमाणशास्त्रस्योपयोगितां दर्श-  
न्नाह । गुणेति । अशास्त्रज्ञः काव्यमीमांसाशास्त्रानभिज्ञो जनः,  
गुणः उपादेयधर्मा वक्ष्यमाणाः श्लेषप्रसादादयः अनुपामो-  
पमाद्यलङ्काराश्च अलङ्काराणां काव्यशोभाजनकत्वेनापादेय-  
त्वात्, दोषाः श्रुतिकटुत्वादयश्च, तान् कथं विभजते विशेषेण  
भजते विभक्ततया जानातीत्यर्थः, भजतिरत्र ज्ञानार्थः ।  
द्वैचित्र्यवैरस्यजनकत्वेन गुणदोषाणां किञ्चित्परिज्ञानस्य स्वतः  
सम्भवेऽपि विशेषपरिज्ञानं शास्त्रादेव जायते शास्त्रकर्तृणां  
निपुणाभिनिवेशादिना तत्तद्विशेषाद्भावनादिति विपदोपा-  
दानं । दृष्टान्तेनेदं द्रढयति रूपाणि द्रव्यगुणविशेषा-  
स्तेषां भेद उल्लेखत्वापल्लेखत्वरूपः श्वेतत्वपीतत्वादिरूपो वा

विशेषस्तस्योपलब्धिषु प्रत्यक्षेषु अन्वस्य चतुर्विकलस्य किमधि-  
कारो योग्यतास्ति नास्त्येवेत्यर्थः, तस्माच्छास्त्रोपदेशेनैव जना-  
हेयोपादेयज्ञानवन्तो भवन्ति तदर्थ एव ममायमारम्भ इति  
भावः ॥ ८ ॥

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥ ९ ॥

अत इति । अतः गुणदोषविभागादेः शास्त्रसापेक्षत्वादि-  
त्यर्थः, सूरयः पण्डिता भरतादयः प्रजानां लोकानां व्युत्पत्तिं  
वाग्व्यवहारनैपुण्यमभिसन्धाय उद्दिश्य, विचित्रा बहुविधा  
वैदर्भगौडादिरूपा मार्गा रीतयो यासां तादृशीनां वाचां  
काव्यवाक्यानां क्रियायै करणाय, उपलक्षणञ्चैतत् ज्ञाना-  
यापीत्यर्थः, करणवज्ज्ञानस्यापि यशःप्रभृतिजनकत्वात्, विधि-  
विधानं धर्मिधर्माविभागादिना निरूपणमित्यर्थः, तं निबबन्धुः  
निबन्धेन प्रोचुः । एतेन तद्गतानुगतिकतया ममापि प्रजा-  
व्युत्पत्त्यर्थमेवायमुद्यमोऽननु प्रतिष्ठार्थमिति सूचितम्, तस्माद्  
ग्रन्थस्यास्य प्रजाव्युत्पत्तिः प्रयोजनं ग्रन्थाभिधेयस्य काव्यस्य  
प्रयोजनन्तु यथायथं कविवोद्भूतं यशःप्रभृतिकं पूर्वमुक्तं  
ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ १० ॥

अथ धर्मिणि ज्ञाते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते धर्मि

चास्य शरीरं तदेव प्रथमं निरूपयन्नाह । तैरिति । तैः पूर्व-  
 सूरभिः काव्यानां शरीरञ्च आत्मभूतस्य रसादिव्यङ्ग्यस्य  
 देहभूत आश्रयस्य तथा अलङ्काराञ्च दर्शिताः । चद्वयमु-  
 भयप्राधान्यद्योतकम् । काव्यानामिति वङ्गवचनं मुक्तकादिभे-  
 देन काव्यस्य वङ्गविधत्वसूचनाय । अलङ्कारपदञ्च अलं क्रियते  
 प्रकृष्टीक्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या क्लेषप्रसादादिगुणानामनुप्रासो-  
 पमाद्यलङ्काराणाञ्च प्रतिपादकं गुणानामपि काव्यशोभा-  
 जनकतया तैर्दर्शितत्वात् । भेदस्थानयोरग्रे दर्शयिष्यते । यद्वा  
 शरीरञ्चेति चकारोभिन्नक्रमे तैश्चत्यर्थः । अलङ्काराञ्चेति च-  
 कारोऽनुक्रममुच्चयार्थः, तेन च गुणानां दोषाणाञ्च परिग्रहः  
 तद्विगतयानामपि निरूपितत्वादित्यवगन्तव्यम् । दर्शिता इत्यत्र  
 वङ्गवचनं पुंस्त्वञ्च अलङ्कारा इति परप्रयुक्तापेक्षया, कश्चिन्न-  
 ङ्गविभक्त्योरित्यनुशासनात् । इत्थं प्राचां संवादं प्रदर्श्य तन्मता-  
 नुसारेणैव स्वयं लक्षणरूपं काव्यशरीरं निरूपयति । शरीरं  
 तावदिति । तावदिति वाक्यालङ्कारं । इष्टाः समदयश्चद्या-  
 समत्कारभूमय इत्यर्थः, येऽर्थाः तैर्यवच्छिन्ना यल्लक्षणीकृता  
 पदावली पदसमूहः काव्यस्य शरीरमित्यन्वयः । अच्युत्व चम-  
 त्कारभूमित्वं, चमत्कारस्य लोकोत्तराह्लादः तद्भूमिस्तज्जनकः,  
 लोकोत्तरत्वञ्चाह्लादगतं सुखत्वव्याणाऽनुभवसम्बन्धिका जाति-  
 विशेषः रिपुस्ते मृतः पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यार्थज्ञानजन्या-  
 ह्लादस्य न लोकोत्तरत्वमिति न तत्र काव्यत्वप्रसक्तिः । तादृ-  
 शाह्लादं प्रत्यर्थाणां कारणताञ्च व्यङ्ग्यवैशिष्ट्येन दोषासमानाधि-



करणगुणालङ्कारमङ्गावसत्यादित्चारुत्वेन च सम्भवति, सम्भवति च तेन काव्यस्य भेदत्रयं, तथाहि व्यङ्ग्यवैशिष्ट्यजन्या चमत्कृतिर्यत्र वाच्यचमत्कृतेरत्यधिका तत्र ध्वनिरिति व्यवहारः यत्र च व्यङ्ग्यचमत्कृतिर्वाच्यचमत्कृतेः कुचिन्निस्तीना तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति व्यवहारः, यत्र च व्यङ्ग्यचमत्कृतिर्नास्त्येव वाच्यचमत्कृतिरेव परं वरीवर्त्ति तत्र चित्रमिति व्यवहारः, इत्थं त्रिविधं काव्यमन्यैरुक्तमनुसर्त्तव्यं, यदि च वाच्यव्यङ्ग्यचमत्कृतिनिरपेक्षः शब्दोऽपि गुणालङ्कारोपकृतश्चमत्कारं जनयति तस्यापि काव्यत्वमन्यैरङ्गीकृतं, यथा, सुपां तिडाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् । तदेतदाहुः भौशब्दं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशीति, तदा इष्टेति पृथक् पदं पदावलीविशेषणं मन्तव्यं, विशिष्टविशेषणत्वाच्च रूपी घटोऽनित्य इत्यदौ रूपघटयोरनित्यत्वप्रतीतिवदर्थपदयोर्द्वयोरपीष्टत्वप्रतीतिः ततश्च शब्दचित्रमर्थचित्रञ्चेति चित्रस्य भेदद्वयम् । उक्तञ्च प्रकाशकता शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतमिति, चित्रमिति गुणालङ्कारमात्रयुक्तम् । एतेन लक्षणेऽनुद्दिष्टानां गुणालङ्कारदोषाणां कथमये निरूपणं कृतमिति चाद्यस्य नावकाशः इष्टपदेन तेषामुद्देशादिति ध्येयम् । अत्रार्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यतया त्रिविधः तत्राभिधयोपस्थापो वाच्यः लक्षणया लक्ष्यः व्यञ्जनया व्यङ्ग्य इति व्यञ्जकताच शब्दानां सर्वेषामर्थानाञ्च, तेषां व्यङ्ग्योऽपि वस्त्वलङ्काररत्यादिभेदान्निविधः, तत्र वस्त्वलङ्काररूपव्यङ्ग्यजन्यचमत्कारः संलक्ष्यक्रमः रत्यादिव्यङ्ग्यजन्यचम-

स्कारो रसादिपदव्यपदेशोऽसंलक्ष्यक्रम इति अन्यत्र विस्तर  
इति नैतत् सर्वं निरूपयिष्यते । पदानि असमासाङ्गसुप्-  
तिङन्तानि तस्युगन्तानि च, प्राकृतादिपदानान्तु संस्कृतस्यानी-  
यतया तदन्ततास्येव । निराकाङ्गपदानां काव्यत्वाववहा-  
रात् साकाङ्क्षेति पदावलीविशेषणं देयं तेन पदावली वाक्य-  
मित्येवार्थः । इत्यञ्च अर्थोपसृक्तं वाक्यमेव काव्यशरीरं न तु  
वाक्यमर्थश्च दाविति, काव्यताया उभयपर्याप्तत्वे काव्यमुच्चैः  
पद्यते काव्यादर्शोऽवगम्यते काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञात इत्यादि-  
विश्वजनीनव्यवहारविरोधात् लक्षणाभ्युपगमस्य चान्यायत्वात्  
प्रत्येकपर्याप्तत्वे च एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः  
तस्मादाक्यमात्रस्यैव शरीरत्वमिति सुष्ठुक्तम् । शरीरमित्युक्ते  
शरीरो चापेक्ष्यते शरीरो चात्र चित्रकाव्ये गुणालङ्कारोपसृक्ते  
वाच्यार्थ एव ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्योऽस्य वस्त्वलङ्काररसादिरू-  
पो व्यङ्ग्यार्थः । उक्तञ्च ध्वनिहृता । अर्थः महदयथायः काव्यात्मा  
यो व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ सन्ताविति,  
न च रसस्यैवाङ्गत्वमन्यैरुक्तमादरण्यं नीरमानानाप वस्त्वल-  
ङ्कारव्यञ्जकानां गुणालङ्कारमात्रोपसृक्तानाञ्च काव्यतया स-  
कलालङ्कारिकैरङ्गीकृतानामकाव्यतापत्तेः न च तत्रापि कथ-  
ञ्चित् परस्परया रसस्पर्शाऽस्तीति वाच्यं एवंविधरससम्बन्ध-  
गोः श्रुते मृगोधावतीत्यादीनामपि काव्यतापत्तेः पदार्थमात्र-  
स्यापि विभावानुभावव्यभिचारिभावान्यतमत्वात्, न च रस-  
स्यानात्मत्वे विनयानामनुस्यूतीकारासम्भवः काव्यस्य प्रथाजनं

हि वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां रसास्वादसुखपि-  
ण्डदानद्वारा कृत्वाकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति वाच्यं चम-  
त्कारजनकवाच्यार्थादिनापि तत्प्रमत्तवादिदिति दिक् ॥ १० ॥

पद्यं गद्यञ्च मिश्रञ्च तत्रिधैव व्यवस्थितम् ।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥ ११ ॥

काव्यस्य शरीरमुक्त्वा तद्भेदान् क्रमेणाह । पद्यमिति ।  
तत् काव्यं पद्यं गद्यं मिश्रञ्चेति त्रिधैव त्रिप्रकारमेव व्यवस्थितं  
प्राचीनैर्निर्दिष्टमितम् । एवकाराच्चातुर्विध्यादिकमस्य नास्तीति  
सूचितं । तत्र पद्यलक्षणमाह । पद्यमिति । चतुर्णां पदानां  
समाहारश्चतुष्पदी पादचतुष्टयात्मकं पद्यं स्यात् द्विपद्यादि-  
कन्तु वेदादिष्वेव नियतमिति लौकिकशास्त्रेषु तदभावाच्चतु-  
ष्पदीत्युक्तं, वस्तुतस्तु कन्दो नियतं वाक्यमेव पद्यं, महा-  
काव्यादौ प्रायेण पादचतुष्टयात्मकानामेव निवेशनीयत्वाच्च-  
तुष्पदीत्युक्तं । यदाहुः । कन्दो नियमवद्वाक्यं पद्यमित्यभि-  
धीयत इति कन्दो बहुपदं पद्यमित्यादि च । तच्च पद्यं वृत्तं  
जातिश्चेति द्विधा । तत्राचरसङ्घातं वृत्तमुक्त्याद्युक्त्यादिकं  
मात्रमङ्घाता जातिरार्थादिः ॥ ११ ॥

कन्दो विचित्रां सकलस्तन्प्रपञ्चो निदर्शितः ।

सा विद्या नैस्तितीर्पूर्णा गम्भीरं काव्यसागरम् ॥ १२ ॥

कन्द इति । कन्दांसि विचोयन्ते निरूप्यन्तेऽचेति  
कन्दो विचितिः शेषादि कृतकन्दोयन्तः कन्दो विचितिनामकः

खलुतच्छन्दोपन्यो वा तस्यां सकलः तयोर्द्वैतजात्याः प्रपञ्चो  
विस्तारो निर्दिशतः समार्द्धमविषमत्वेन उक्त्यात्युक्त्यादिना  
च वृत्तभेदाः आर्यागोत्युद्गीतोत्यादिना जातिभेदाश्च निरु-  
पिता इत्यर्थः । अतः सैवानुशीलनीया यान्वाङ्मयभिर्या  
तत् सर्वमत्र नोक्तमिति भावः । कवीनां कृदाज्ञानस्यावश्य-  
कत्वमाह । सा विद्या कृन्दाज्ञानं कृन्दाविचिन्तितविद्या वा  
गम्भीरं विविधच्छन्दानि बहुवाक्यवर्णनीयरसभावादिभिर्निर्वि-  
डम्, अथचागाधं काव्यमेव सागरं तितोषूणां करणेन  
ज्ञानेन च तत्पारं जिगमिषूणाम् अथच लिखन्वृत्तियषूणां नैः  
पोतरूपा । तितोषूणामित्यत्र विविधूणामिति क्वचित् पाठः,  
सागरं प्रवेष्टुमिच्छूनां यथा नानावस्तुपूर्णा नैरुपयोगाय भ-  
वति तथा काव्यं वर्णयितुमनुशीलयितुं वा कृतयज्ञानां कृन्दा-  
विचिन्तितविद्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

मुक्तकं कुलकं काव्यः संघात इति तादृशः ।

सर्गवन्धाङ्गरूपत्वाद्मुक्तः पद्यविस्तरः ॥ १३ ॥

एवं त्रिविधेषु काव्येषु पद्यमयस्यान्यैरुक्तानामवान्तरभेदा-  
नां प्रदर्शनमनतिप्रयोजनमिति हृदयेन प्रधानप्रभेदं महा-  
काव्यं प्रदर्शयितुमुपक्रमते । मुक्तकमिति । इतिशब्द एवमर्थः,  
मुक्तकं कुलकं काव्यः महातश्च इत्येवं तादृशस्तत्सजातीयो-  
परश्च युष्मकादिरित्यर्थः, एवंरूपः पद्यविस्तरः अन्यैरुक्तः  
पद्यमयकाव्यभेदसमूहः सर्गवन्धाङ्गरूपत्वात् निरूपयिष्यमाण-

महाकाव्यरूपप्रधानभेदैकदेशस्वरूपत्वादनुकः ग्रन्थवाङ्मन्यभि-  
या अप्रदर्शितः ग्रन्थान्तरेषु वेदितव्य इति शेषः, एतेन प्र-  
तिषेधनञा कथं तत्पुरुष इति चोद्यस्य नावसरः अध्याहतस्य  
ग्रन्थान्तरवेदितव्यत्वस्य विधेयत्वेन तस्य पुर्युदासत्वात्, अन्ये तु  
सादृश्यार्थकपुर्युदासनञा अनुक्त उक्तप्राय एवेत्यर्थ इत्याहुः ।  
तत्र मुक्तकं श्लोकान्तरसम्बन्धेन परित्यक्तमेकपद्यात्मकं, तथा  
चाग्नेयम् । मुक्तकः श्लोक एवैकश्लोकान्तरसमः सतामिति । कु-  
लकं पञ्चान्यूनश्लोकात्मकम् । उक्तश्चान्यत्र, “द्वाभ्यान्तु युगलकं  
सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते । कलापकं चतुर्भिस्तु पञ्चभिः  
कुलकं मतम्” । इति । अपरे तु पञ्चात्मकस्य वाणावलीति  
संज्ञामाहुः । यथा, “एकः श्लोको मुक्तकं स्यात् द्वाभ्यां  
युगलकं स्युतम् । त्रिभिर्गुणवती प्रोक्ता चतुर्भिस्तु प्रभद्रकम् ।  
वाणावली पञ्चभिः स्यात् षड्भिस्तु करहाटकः” । इति ।  
कोषः परस्परनिरपेक्षः श्लोकसमूहः । यदुक्तं, “कोषः श्लोक-  
समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः । ब्रज्याक्रमेण कथितः स  
एवातिमनोरमः” । इति । ब्रज्या च सजातीयसमूहः । यत्र  
प्रत्येकं परिसमाप्तार्थैः पद्यैः कथा समाप्यते स संघातः ।  
यदुक्तं । यत्र कविरिकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये । सं-  
घातः स निगदितो वृन्दावनमेषदूतादिरिति । इत्यमुक्तल-  
क्षणा मुक्तकादयो महाकाव्यैकदेशरूपत्वात् पृथग्लक्षिताः,  
कोषसंघातावपि महाकाव्येषु तत्तदुच्चावचवर्णने सम्भवत एवे-  
त्यनुसन्धेयम् ॥ १३ ॥

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।  
 आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥ १४ ॥  
 इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।  
 चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥ १५ ॥  
 नगरार्खवशैलर्त्तचन्द्राक्रोद्यवर्त्मनैः ।  
 उद्यानसलिलक्रोडामधुपानरतोत्सवैः ॥ १६ ॥  
 विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोद्यवर्त्मनैः ।  
 मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥ १७ ॥  
 अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।  
 सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुरन्धिभिः ॥ १८ ॥  
 सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तरूपेतं लोकरञ्जकम् ।  
 काव्यं कव्यान्तरस्यायि जायेत सदलङ्कृति ॥ १९ ॥

कोऽसौ सर्गबन्धः यदङ्गरूपत्वान्मुक्तकादयो न पद्यं ल-  
 च्छिता इत्याकाङ्गायामाह । सर्गबन्ध इति । म हायं सर्ग-  
 बन्धः तस्य सर्गनिर्बन्धमानत्वात् । तदपि किंस्वरूपमिति  
 तल्लक्षणं तावत् प्रतिजानीते । उच्यते इति । तस्य महा-  
 काव्यस्य लक्षणं स्वरूपमुच्यते अनन्तरमेव निरूप्यते । आशी-  
 रित्यादि आशीरिष्टजनस्य शुभाशंसनं, नमस्क्रिया स्थापकष-  
 बोधानुकूलव्यापारविशेषः सच प्रकृते वाग्विशेषात्मकः  
 तस्य वाचिककाव्यिकमानसिकत्वेन त्रैविध्यात् । तथा वसति  
 प्रस्तुतवृत्तान्ताऽस्मिन्निति वस्तु प्रबन्धनायकः अपरो वा तत्-

सम्बन्धी, तस्य निर्देश उपन्यासः, वाच्यदोषविकल्पे, मुखमा-  
दिभागः, आशीःप्रसूतीनामन्यतमं तस्यादिभाग इत्यर्थः ।  
तत्राशीः कीचकबधादौ, नमस्क्रिया रघुवंशादौ, वस्तुनिर्देशः  
शिगुपासबधादौ ॥ १४ ॥

इतिहासेति । इतिहासा रामायणमहाभारतादयः ते-  
षामन्यतमस्य कथया रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेन उद्भूतं  
निबद्धम् । इतरदा एतस्मादन्यदा, सन् सत्यभृतोवृत्तान्त  
आश्रीयत इत्याश्रयो वर्णनीयो यत्र तत् । सदाश्रयमित्यनेन  
कल्पितवृत्तान्तस्य महाकाव्ये वर्णनं प्रतिषिद्धं । तथा चतुर्णां  
धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः तद्रूपेण फलेन प्रयोजने-  
नापेतम्, एकत्र चतुर्णां फलत्वासम्भवात् सर्वे पुनर्वर्णनीयाः  
परन्तु अन्यतममेव फलमिति मन्तव्यम् । उक्तञ्च, चत्वारस्तत्र  
वर्गाः स्युस्सेष्वेकञ्च फलं भवेदिति । तथा चतुरो व्यवहार-  
कुशल उदात्तोधीरोदात्तो नायकः कथाव्यापी प्रधानपुरुषो  
यत्र तत् । यद्यपि त्यागी कृतो कुलीनः सुश्रीकोरूपयौवनो-  
त्साही । दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेतेति नायक-  
लक्षणे दक्षवैदग्ध्यपदोपादानेन चतुरत्वस्य लक्षणघटकतया प्रा-  
प्तत्वात् पृथक् चतुरेति नायकविशेषणमफलमित्यसन्नोषस्तदा  
चतुरोदात्तपदस्य धीरोदात्त इत्येवार्थः कर्त्तव्यः चतुरधी-  
रपदयोः पर्यायत्वात् । धीरोदात्तलक्षणं यथा । “अविक-  
त्यनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । श्रेयान्निगूढमानो-  
धीरोदात्तोदृढव्रतः कथित” इति । अथ च नायकः कश्चि-

देकोदेवः, कचिदेकः सदंशजः सन्नियः, कचिदा एकवंशजा  
 वहवः सन्नियाः, यदुक्तं । तत्रैकोनायकः सुरः । “सदंशः  
 सन्नियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः । एकवंशभवा भूषाः  
 कुलजा वहवोऽपि वा” इति । तत्रान्यस्योदाहरणं रघु-  
 वंशः ॥ १५ ॥

महाकाव्ये नायकवृत्तान्तवर्णनमात्रं न कवीनां पु-  
 षार्थः इतिहासादिभिरेव तत्परिज्ञानसिद्धेः किन्तु प्राम-  
 ङ्गिकतत्तदुच्चावचवर्णनया काव्यशोभामप्यादनमिति वर्णनी-  
 यान् विषयान् निर्दिशति नगरेत्यादि द्वाभ्यां । तृतीया-  
 न्तजातस्यालङ्कृतमित्यनेनान्वयः । चन्द्रार्कौदयेति चन्द्रार्का-  
 स्तमनोपलक्षणम् । क्रीडेति उद्यानमलिलयोर्दयोरप्यन्वेति ।  
 रतोत्सवः सम्भोगशृङ्गारः स च विप्रलम्भवर्णनात् परमेव  
 वर्णनीयः । उक्तञ्च न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्रुते  
 इति । विप्रलम्भैरिति बहुवचनेन तस्य पूर्वरागमानप्रवास-  
 करुणात्मकतया चतुर्विधत्वं सूचितम् । कुमारोदयः पुत्रो-  
 त्यन्तिः । मन्त्रोविपक्षजयाद्यर्थं मन्त्रणा । दूतः कार्यप्रेष्यः  
 स च निश्चयार्थमितार्थमन्देशहारकत्वेन त्रिविधः । प्रयाणं  
 युद्धार्थयाचा । आजिर्युद्धम् । नायकस्याभ्युदयोरिपुजया-  
 दिः । मन्त्रादिपञ्चकं क्रमिकं, तथा हि प्रथमं मन्त्रणा ततो  
 दूतप्रेषणं ततः प्रयाणं ततो युद्धं ततश्च रिपुजयादिरूपा-  
 भ्युदयः । शेषं स्पष्टम् । एतानि अपिना चान्यानि च साङ्गोपा-  
 ङ्गानि महाकाव्ये वर्णनीयानीत्यर्थः । यदुक्तं, “सन्ध्यासूर्येन्दु



रजनीप्रदोषध्वान्तवासराः । प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसा-  
गराः । सम्भोगविप्रलम्बी च मुनिस्वर्गपुराध्वराः । रणप्रया-  
णोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः । वर्षनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा  
अमी इह” । इति ॥ १६ ॥ १७ ॥

असङ्क्षिप्तं पञ्चवितृत्तान्तं, महाकाव्ये हि ग्रन्थवाङ्मन्य  
शङ्कया सङ्क्षेपेण वस्तुवर्णनं न चमत्कारं पुष्पाति, तद्यथा,  
“रामोदशरथाज्जातः प्राप्तविद्यश्च कौशिकात् । मिथिलार्यां  
धनुर्भङ्गा मैथिलीं परिणीतवान्” इति । रसाः षट्कारा-  
दयः, भावाः प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणः उदुङ्क-  
मात्राः स्थायिनः देवादिविषया रतिश्च, तैर्निरन्तरमभि-  
व्याप्तं, तत्र षट्कारवीरशान्तानामन्यतमोऽङ्गित्वेन अन्ये तु  
रसा भावा वा अङ्गत्वेन, यदुक्तमन्यत्र,\* षट्कारवीरशा-  
न्तानामेकोऽङ्गीरस इव्यते इति । सर्गैरिति उपेतमित्यने-  
नान्वेति, सर्गोऽवान्तरवृत्तान्तसमाप्तेर्नाम, बहुवचनमष्टान्यु-  
नत्वत्रिंशदनधिकत्वयोर्बोधकं, अष्टसर्गान्नतु न्यूनं त्रिंशत्स-  
र्गाच्च नाधिकम् । महाकाव्यं प्रयोक्तव्यं महापुरुषकीर्त्ति-  
युगितोशानसंहितोक्तेः ।\* वस्तुतस्तु प्रायिकमेतत् वैपरीत्यस्था-  
• ऽपि दर्शनात् । अनतिविस्तीर्णैरिति त्रिंशदन्यूनद्विशत्यनधिक-  
पद्यात्मकैरित्यर्थः । यदुक्तमोशानसंहितायाम् । नात्यन्त-  
विस्तरः सर्गस्त्रिंशतोवा नचोनता । द्विशत्यानाधिकं कार्य-  
मेतत् पद्यस्य सञ्चणमिति । अव्यवृत्तैरिति हतवृत्ततादि-  
दोषपरित्यागेन माधुर्यादिगुणसद्भावेन च वैरस्यानावह-

युतिसुखदुःखनैरिद्वयार्थः । यदुक्तं । अस्मिन् युते च चित्तस्य  
 वैरस्यं, न च दृष्टता । तानि वक्ष्यामि पद्यानि प्रसिद्धि-  
 प्रच्युतानि चेति । वृत्तपदस्य पद्यपरं कश्चिदाख्यादेरपि  
 दर्शनात् । सुसन्धिभिः सुद्विहसन्धानैः भाविसर्गसापेक्षैरि-  
 त्यर्थः । यदुक्तं, सर्गात्मे भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं  
 भवेदिति । यदा सन्धयो नाटकस्यस्योक्ता मुखप्रतिमुख-  
 गर्भविमर्शनिर्व्वहनाख्याः पद्य । उक्तञ्च सर्व्वे नाटकसन्धय  
 इति । तेषां सुसिद्धत्वञ्च साङ्गानामेतेषां यथाक्रमं विनि-  
 वेशः, अङ्गानि सापेक्षपादीनि दृश्यरूपकादावुक्तानि ज्ञेयानि ।  
 भिन्नवृत्तान्तैः पृथक्पृथगवान्तरकथाप्रकाशकैः, यदा भिन्नं वृत्तं  
 पृथक्कन्दोनिबद्धः श्लोकोऽन्तेऽवसाने येषां तैः, एकेन कन्दसा-  
 र्गं निर्माय कन्दोऽन्तरेण समापयेदित्यर्थः, उक्तञ्च, एकवृ-  
 त्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैरिति । एकवृत्तमयत्वञ्च सर्गाणां  
 प्रायिकं नानावृत्तमयस्यापि कस्यचिद्दर्शनात् । उक्तञ्च, नाना-  
 वृत्तमयः कापि सर्गः कश्चन दृश्यतइति । यथा । शिशुपाल-  
 वधे चतुर्थः सर्गः । सदलङ्कृतीति सत्यः शब्दार्थः । भाजनम-  
 द्वारा रसोपकारिका अलङ्कृतयो यमकोपमादयो यत्र तत् ।  
 इत्थं लक्षणमुक्त्वा प्रशंसति लोकरञ्जकमिति, एवं लक्षणसम्बन्ध-  
 कायं लोकरञ्जकं सामाजिकगणविनोदकं, सत् कल्पान्तरस्यापि  
 प्रलयकालावधिस्यापि जायेत तद्विनोदलोत्पत्त्यर्थं तत्र रचणीय-  
 त्वादितिभावः । अत्रान्तरशब्दोऽन्तावध्यर्थः । एतेनामपायिकी-  
 र्त्तिप्रत्याशया कविभिरत्र यतनीयमिति द्योतितम् ॥ १८ ॥ १९ ॥

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।

यद्युपात्तेषु सम्यत्तिराराधयति तद्विदः ॥ २० ॥

इत्थं लक्षणरूपतयोक्ताणां धर्माणां केषाञ्चित् खण्डका-  
द्यादौ सम्भवेनातिव्याप्तिस्तदारणाय समुदायस्य लक्षणत्वा-  
भ्युपगमे कुत्रचिदापतन्तीमव्याप्तिं वारयति । न्यूनमिति । अत्र  
एषु निरुक्तेष्वङ्गेषु मध्ये यैः कैश्चिल्लक्षणघटकैरङ्गैर्न्यूनं हीन-  
मपि काव्यं न दुष्यति लक्षणलक्षितत्वान्निन्दितं न भवति ।  
यदि उपात्तेषु यथा लाभं वर्णितेषु सम्यत्तिः रसपरिपोष-  
स्तद्विदः काव्यज्ञान् आराधयति सन्तोषयति । एतदेवोक्तं  
भोजराजेन, नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय, विदुषां मनः । यदि  
शैलर्त्तुराद्यादेर्वर्णनेनैव तुष्यतीति । यद्युपात्तार्थसम्यत्तिरिति  
पाठे उपात्तानामर्थानां सम्यत्तिः समृद्धिराराधयति चम-  
त्कारमुग्धान् करोति । एतेन चमत्कारविशेषजनकत्वमेव  
महाकाव्यलक्षणमिति फलितं नगरादिवर्णनघटितत्वन्तु परि-  
चायकमात्रं, चमत्कारस्य महाकाव्यखण्डकाव्ययोर्विभिन्न इति  
नाव्याप्यतिव्याप्तिश्चेति ध्येयम् ॥ २० ॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं, तेन विद्विषाम् ।

निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥ २१ ॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।

तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनञ्च धिनेति नः ॥ २२ ॥

नायकप्रतिनायकयोस्तुत्कर्षापकर्षौ काव्यस्य प्रतिपाद्यौ, तद-

एने प्रकारद्वयमाह । गुणत इति । गुणतो गुणवत्त्वेन प्राक् प्रथमं नायकमुपन्यस्य वर्णयित्वा तेन गुणवता नायकेन, विद्विषन्ति साधूनि विद्विषः अन्याय्यपथवर्त्तिनः प्रतिनायकास्तेषां, बद्धवचनमनुगाभिप्रायेण, निराकरणं पराजयः, इत्येष मार्गोरोतिः प्रकृतिसुन्दरः स्वभावतोरम्यः प्रायेणैवं बद्धभिर्वर्णत इत्यर्थः, अयमर्थः नायकस्तावत् सच्चरित्रतया प्रतिनायकस्यासच्चरित्रतया वर्णनीयौ, तथाविधयोश्च तयोर्जयपराजयौ सर्व्वेषां शुश्रूषणीयौ भवत इति । यथा रामचरिते पित्राज्ञापरिपालनादिमत्कर्मवता रामेण परस्त्रीहरणाद्यमत्कर्मवतोरारवणस्य पराजय इति । गुणत इति नायकस्य सामान्यगुणास्त्वागादयः पूर्व्वमुक्ताः, विशेषाः पौरुषगुणाश्च शोभादयः, यथा, “शोभाविलासो माधुर्य्यं गाम्भीर्य्यं धैर्य्यतेजसो । ललितौदार्य्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः” इति ॥ २१ ॥

वंशेति । रिपोरपि वंशः सत्कुलता, वीर्य्यं बलं, श्रुतं विद्या, आदिना दानादिपरिग्रहः । एतानि वर्णयित्वा तज्जगत् तथा भूतरिपुकर्मकपराजयात् नायकोत्कर्षवर्णनञ्च, च त्वर्थे, नोऽस्मान् धिमेति प्रीणयति । यथा हयग्रीवबधे हयग्रीवस्य स्वर्गविजयादिवर्णनं । न इत्यनेनास्मिन्नेव कल्पे स्वस्याभिरुचिः सूचिता, न च धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायक इति प्रतिनायकलक्षणविरुद्धमेतदिति वाच्यं परपीडनादिदोषसामानाधिकरण्येनैव तेषां गुणवर्णनस्यौचित्यात् एकान्तगुणवतो-

धार्मिकस्य पराजयेन च नायकस्योत्कर्षासम्भवात् प्रत्युत निन्द-  
नीयत्वप्रसङ्गादिति ध्येयम् ॥ २२ ॥

अपादः पदसन्तानोगद्यमाख्यायिका कथा ।

इति तस्य प्रभेदौ द्वौ, तयोरमाख्यायिका किल ॥ २३ ॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।

स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥ २४ ॥

उद्देशक्रमप्राप्तं गद्यं निरूपयति । अपाद इति । माचा-  
क्षरप्रतिनियतत्वरूपः परिच्छेदः पादः तच्छून्यः पदसन्तानो  
गद्यम् । अस्ति च तादृशः पादः पद्ये, यथा गः श्रोः, गौ  
स्त्रीत्यादिः, लक्ष्मैतत्सप्तगणा इत्यादिश्च । अस्य च चूर्णका-  
दयोभेदा मुक्तकादीनां महाकाव्य इव आख्यायिकादा-  
वन्तर्भावान्न पृथग् लक्षिताः, ते च यथा, चूर्णकोत्कलिका-  
प्राये आविद्धं वृत्तगन्धि चेति । आविद्धस्थाने मुक्तकमिति  
विश्वनाथः पठति, तत्र, चूर्णकमल्पसमासं दीर्घसमासमुत्कलि-  
काप्रायम् । समासरहितमाविद्धं वृत्तभागान्वितं वृत्तगन्धी-  
ति । प्राचीनमतमनुसूरन् गद्यस्य प्रधानभेदद्वयं दर्शयति ।  
आख्यायिकेति । आख्यायिका कथा चेति तस्य गद्यस्य द्वौ  
प्रभेदौ । एतयोर्लक्षणमन्यैरुक्तं यथा । “कथायां सरसं वस्तु  
पद्यैरेव विनिर्मितं । क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।  
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेवृत्तकीर्त्तनमिति” । यथा, का-  
दम्बर्थादि । “आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वैशादिकीर्त्तनं ।

अस्वामन्यकवीनाञ्च वृत्तं गद्यं कश्चित् कश्चित् । कथांशानां  
व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते । आर्यावक्त्रापवक्त्राणां वन्दसा  
येन केनचित् । अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनमिति ।  
यथा हर्षचरितादिः । एतन्नक्षत्रद्वयोक्तपरस्परभेदकधर्मा-  
णां प्राचीनप्रबन्धेषु व्यभिचारमाकलय्य तत्राश्रद्धधानोवक्तृ-  
वैखण्ड्यकृतोऽनयोर्भेद इति मतं दूषयितुमुत्थापयति । तयो-  
रिति । तयोः कथाख्यायिकयोर्मध्ये आख्यायिका किल नाय-  
केनैव वाच्या नायक एवाख्यायिकायामिति वृत्तवक्तृत्यर्थः ।  
यदुक्तं वृत्तमाख्यायते यस्यां नायकेन स्वचेष्टितमित्यादि ।  
एवकारेण वक्त्रन्तरव्यवच्छेदः । अन्या कथा पुनर्नायकेनेतरेण  
वा वाच्या, अत्र वाशब्दस्यार्थे कश्चिन्नायकस्य कश्चित्तदितरस्य  
च वक्तृत्वमित्यर्थः । दृश्यते च कादम्बर्यां चन्द्रापीडस्य नायकस्य  
महाश्वेतासंलापादौ वक्तृत्वम् । अन्यथा नायकवाच्यायां कथा-  
यामाख्यायिकालप्रसक्त्या दुरूपनेयातिव्याप्तिः स्यादिति वि-  
भावनीयम् । नन्वाख्यायिकायां नायकवक्तृत्वनियमे तत्रात्म-  
गुणकथनस्यापि सम्भवेन नायकस्योदात्तत्वव्याख्या इत्याश-  
ङ्गाह । स्वगुणेति । अत्र नायकवक्तृकत्वे, भूतार्थशंसिनः सत्या-  
र्थवादिनो नायकस्य स्वगुणाविक्रिया निजगुणोत्कर्षस्थापनं  
दोषो न भवति, असत्यभूतानाकाङ्क्षितस्वगुणकथनस्यैव दोष-  
त्वात् ॥ २३ ॥ २४ ॥

अपि त्वनियमोदृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।

अन्योवक्त्रा स्वयमेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥ २५ ॥

इत्थं प्राचीनमतमनूद्य दूषयति । अपित्विति । अपि तु किन्तु तत्र आख्यायिकात्वेन प्रसिद्धे प्रबन्धे अन्यैरणुदीरणात् नायकभिन्नवक्तृकत्वस्यापि दर्शनात् अनियमो नायकमात्रवक्तृकत्वनियमव्यभिचारोद्दृष्टः, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोष इति नैवं भेदकरणमादरणीयमिति भावः । ननु यत्र नायकभिन्नवक्तृत्वं तस्य कथात्वमेवास्तु आख्यायिकात्वप्रसिद्धिरवोधमूलेत्यत्राह । अन्य इति अन्यो नायकभिन्नः, स्वयं नायको वा वक्तैति भेदकरणं कीदृक् न किमपि, स्वरूपगतवैलक्षण्यस्यैव भेदकत्वात् वक्तृवैलक्षण्यकृतभेदोऽकिञ्चित्कर इत्यर्थः ॥ २५ ॥

वक्त्राच्चापरवक्त्रञ्च सोच्छ्वासत्वञ्च भेदकम् ।

चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत्, प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥ २६ ॥

आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।

भेदश्च दृष्टोलम्भादिरुच्छ्वासेवास्तु किं ततः ॥ २७ ॥

इत्थं वक्तृवैलक्षण्यकृतभेदं निरस्य प्रकारान्तरेण सृजुधियां भेदकरणं दूषयितुमुत्थापयति । वक्त्रञ्चेति । वक्त्रापवक्त्रे क्वन्दोविशेषौ । वक्त्रं नाद्यान्नसौ स्यातामर्भेर्योऽनुष्टुभि ख्यातमिति वक्त्रलक्षणं । अयुजि ननरलागुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ-जरावित्यपरवक्त्रलक्षणम् । वैतालीयं पुष्पितायाश्चेच्छक्यपरवक्त्रकमिति च । उच्छ्वासः कथांशव्यवच्छेदस्य संज्ञा, क्वचिदाश्वास इति दृश्यते । तत्सहितत्वञ्च । भेदकं कथातो-भेदसाधकमेतत्तत्रयमाख्यायिकायाश्चिह्नमसाधारणोधर्मः, कथा-

यान्तु नैतन्नयमस्तीति चेदित्यन्तं अशुभिया मतम् । तत्र  
 वक्त्रापवक्त्रकृतभेदं दूषयति, प्रसङ्गेति । स्मृतस्यानुपेक्षणी-  
 यत्वं प्रसङ्गः, अयमाशयः यदि कथायामार्याकरणे प्रवृत्तः  
 कविर्वक्त्रमपरवक्त्रमा स्मृत्वा निवेशयति तत् किं कमपि दोष-  
 मुक्त्वा मयत् तस्याः कथात्वं विघातयेत् अपि तु नैव तदभाव-  
 घटितकथालक्षणस्य केनाप्यनुकत्वात् प्रत्युत तन्निवेशाभ्यनुज्ञान-  
 स्यापि कुत्रचिद्दर्शनात्, यदुक्तं कथालक्षणमधिष्ठत्य । आर्या-  
 वक्त्रापवक्त्राणां कन्दमा येन केनचिदिति । तस्मादविचारवि-  
 जृम्भितोऽयं भेदकरणप्रयास इति । मोक्षामत्वस्य भेदकत्वं  
 दूषयति । भेदयेति । लभः कथापरिच्छेदस्य संज्ञा, आदिना  
 उक्त्वासादीनां ग्रहणं, भेदोभिन्नः, वाशब्दस्यार्थः, लभ्यादिरु-  
 च्छामयेति विभिन्ननामा कथाख्यायिकयोः परिच्छेदो दृष्टोऽस्तु  
 ततः किं, संज्ञाया विभिन्नत्वान्न किमपि, न हि घटकलमेति  
 संज्ञादयेन संज्ञिनो घटस्य भेदः शक्यते वक्तुं, स्वरूपवैलक्षण्य-  
 स्यैव भेदकत्वात् यथा घटपटयोरिति, दृष्ट इति कुत्रचिदि-  
 तिशेषः कादम्बर्यादौ लभकस्याप्यनिवेशात् ॥ २६ ॥ २७ ॥

तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥ २८ ॥

अत्र स्वमतमाह । तदिति । एका जातिरेकजातीया गद्यम-  
 यत्वरूपैकधर्मावत्त्वादेकैवेत्यर्थः । संज्ञाद्वयाङ्कितेति घटकलस-  
 संज्ञादयवत् कथाख्यायिकासंज्ञाभ्यामेक एवार्थः प्रतिपाद्यत



इत्यर्थः । इत्थं प्रधानभेदयोरभेदं प्रतिपाद्य इतरभेदानामप्य-  
 श्यक्तानां तत्तद्भेदकधर्मप्रयोजकं मन्यमानस्तान् सामान्य-  
 रूप एवान्तर्भावयति । अत्रैवेति । पुं प्रधानवर्णनमाख्यानम्,  
 आख्यानजातयः आख्यानत्वरूपसामान्यधर्मवन्तः खण्डकथा-  
 दयः । अत्र अत्रैवान्तर्भवित्यन्तीति भाविप्रयोगात् प्रौढिवादेना-  
 भेदप्रतिपादनं ग्रन्थकृतो न तु वस्तुतः, प्रामाणिकतमैर्मुनि-  
 भिरपि तत्तद्भेदाभ्युपगमात् । यथा आग्नेये । “आख्ययिका  
 कथा खण्डकथा परिकथा तथा । कथालिकेति मन्यन्ते गद्य-  
 काव्यञ्च पञ्चधा” इति । एवं कथाख्यायिकयोरप्यभिन्नत्वप्रति-  
 पादनमेतन्मूलकमेवेति मन्तव्यम् ॥ २८ ॥

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।

सर्गबन्धसमा एव नैते वैशिष्टिका गुणाः ॥ २९ ॥

वर्णनीयभेदेन कथाख्यायिकयोर्भेदं ब्रुवतामपि मतं दूष-  
 यति । कन्येति । कन्या अजातोपयमा पुरुषान्तरे प्रतिपाद-  
 नाय कृतनिश्चया तस्या हरणं युद्धादिना ग्रहणं राक्षसविवाह  
 इत्यर्थः । राक्षसोयुद्धहरणादिति स्मृतेः । विप्रलम्भः पूर्व-  
 रागमानप्रवासकरुणात्मकतया चतुर्विधः, स च सम्भोग-  
 स्तोपलक्षकः, विप्रलम्भानन्तरं सम्भोगवर्णनस्यावश्यकत्वात् ।  
 उदयः सूर्याचन्द्रमसोः नायकस्याभ्युदयो वा, आदिना पुर-  
 पर्वतकाननादयः । एते आख्यायिकाया विशेषधर्माः परैरु-  
 च्यन्ते । यथाख्यायिकामुपक्रम्याह भामहः । कन्याहरणसंग्राम-

विप्रलम्भोदयान्वितेत्यादि । सर्गबन्धेति । सर्गबन्धसमाः महा-  
काव्यसाधारणा एव, का कथा कथायां, महाकाव्येऽप्येते  
वर्ष्यन्ते तस्मात् वैशेषिका गुणाः व्यवच्छेदका धर्माः । न चा-  
ख्यायिकायामेषां नियतत्वमन्यत्रानुषङ्गिकत्वमितीदमेव भेद-  
कमस्त्विति वाच्यं कथञ्चिदपि साधारण्यवतां भेदकत्वा-  
नङ्गीकारात् असाधारणानामेव तथात्वौचित्यात् उक्तञ्च, अय-  
मेव हि भेदोभेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यास इति ॥ २८ ॥

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।

मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥ ३० ॥

ननु कवेरभिप्रायकृतैरङ्गनैरङ्किता कथेति भामहोक्त्या  
कथायां किञ्चिच्चिह्नं निवेशनीयं तदेवानयोर्भेदकमिति मतं  
दूषयति । कवीति । कवेर्भावोऽभिप्रायस्तेन कृतं चिह्नं । यथा  
शिशुपालवधे सर्गान्तश्लोकेषु श्रीशब्दः, किरातर्जुनीये च  
लक्ष्मीशब्दः । तदन्यत्रापि न दुष्यति आख्यायिकायामपि  
निवेशनीयं चिह्नं दुष्टं न भवति तस्य कवेरिच्छाधीनत्वेना-  
नियतत्वात् । एतदेवाह । मुखमिति । इष्टार्थसंसिद्धौ अभि-  
प्रेतार्थसम्पादने मङ्गलाद्यर्थमित्यर्थः कृतात्मनां कृतयत्नानां  
किं हि मुखं कः प्रारम्भो न स्यात् सर्वमेवेच्छया प्रारम्भणीयं  
भवेदित्यर्थः । मुखमित्यत्र मुखमिति पाठे सुखं सुखदमप्रति-  
बद्धमित्यर्थः ॥ ३० ॥

मिश्राणि नाटकादीनि, तेषामन्यत्र विस्तरः ।

गद्यपद्यमयो काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३१ ॥

क्रमप्राप्तं मिश्रकाव्यमाह । मिश्राणीति । नाटकादीनि दृश्यकाव्यानि मिश्राणि गद्यपद्योभयमिश्रितत्वान् मिश्रसंज्ञकानि योगार्थबलादेव लक्षणलाभः । आदिशब्दात् प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणाञ्च परिग्रहः । नाटकादिलक्षणजिज्ञासुन् प्रत्याह । तेषामिति । तेषां नाटकादीनामन्यत्र भरतादियन्येषु विस्तरः प्रपञ्चः, तस्मादस्माभिर्वैफल्यभियात्र नोक्तानि तत्रैव ज्ञातव्यानीत्यर्थः । तानि च नामतो यथा । “नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः । ईहामृगाङ्गवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश । नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकं । प्रस्थानोत्सायकाव्यानि प्रेङ्खनं रासकं तथा । संलापकं श्रीगदितं शिल्पिकञ्च विलासिका । दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशोभाणिकेत्यपि । अष्टादश प्राङ्गुरूपकाणि मनीषिणः” इति । दृश्यकाव्यस्य मिश्रत्वमुक्त्वा अव्यकाव्यस्यापि तदाह । गद्यपद्यमयोति । अत्र गद्यमयत्वं पद्यमयत्वञ्चाधिक्येन ज्ञेयम् । अन्यथा आख्यायिकादौ यत्किञ्चित् पद्यसद्भावेन मिश्रत्वं प्रसज्येत । काचिदिति न तु सर्वा तेन गद्यपद्यमय्या राजस्तुते विरुदसंज्ञान्यैरुक्ता ज्ञातव्या । यथा । “गद्यपद्यमयो राजस्तुतिर्विरुदमुच्यत इति ॥ ३१ ॥

तदेतद्वाच्यं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।  
अपभ्रंशश्च मिश्रश्चेत्याङ्गरार्याश्चतुर्विधम् ॥ ३२ ॥

एवं गद्यादिभेदेन काव्यस्य चैविध्यमुक्त्वा पुनरपि भाषा-  
विभेदेन चातुर्विध्यमाह तदेतदिति । वाच्यं काव्यप्रबन्धः ।  
संस्कृतं संस्कृतभाषामयम्, एवमप्येऽपि, मिश्रं संस्कृतादिनाभा-  
षामयम् । एवं भाषाणां ज्ञानान्वात् कवयः स्वस्वावज्ञेन एक-  
या द्वाभ्यां तिसृभिर्वङ्गीभिर्वा भाषाभिरितिवृत्तं वर्णयेयुः-  
दाह भोजराजः । “संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः ।  
शक्योवाचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः । पैशाच्या शौरमेत्याच  
मागधान्योनिबध्यते । द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि  
कथ्यते ॥ ३२ ॥

संस्कृतं नाम देवो वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।  
तद्भवस्तत्समोदेशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥ ३३ ॥

संस्कृतादीनां लक्षणमाह । संस्कृतमिति । देवी दैवतसं-  
स्कारसम्पन्ना देवैरुच्चार्यमाणा वा वाक् महर्षिभिः पाणिन्या-  
दिभिः, नामेति प्रसिद्धौ, संस्कारसम्पन्नत्वात् संस्कृतमन्वा-  
ख्याता संस्कृतेत्याख्यया पञ्चाङ्गवद्भता, उद्देश्याधीनत्वात्  
स्तीत्वम् । अनुपदप्रयोगाच्च शब्दनित्यतावादे स्वरमः सूचितः,  
पाणिन्यादयो हि तत्तद्वाकरणसूत्रैः प्रकृतिप्रत्ययादिविभा-  
गपरिकल्पनया नित्यायाः संस्कृतवाचः प्रतिपत्त्यर्थं शिथ्या-

भां संस्कारोपायः प्रदर्शितः नतु वाक्सम्पादिता स्थिताया  
 इवावाख्यानसम्भवात् । प्राकृतं निर्वक्ति । तद्भव इति । प्रा-  
 कृता नीचास्तत्सम्बन्धित्वात् प्राकृतम् । अन्वर्थवसादेव लक्षण-  
 नाभः । संस्कृतरूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वात् प्राकृतमिति कश्चित् ।  
 तस्य क्रमोव्यवस्था संस्कृतोत्पन्नत्वेन संस्कृतसदृशत्वेन तत्तद्देश-  
 व्यवहृतत्वेन चानेको बह्विधः, तत्र साक्षात् संस्कृतोत्पन्ना  
 महाराष्ट्री भाषा, शौरसेन्यादयः संस्कृततुल्याः अपराश्च तत्त-  
 द्देशविलसिताः, केचित्तु देशीनामपि संस्कृतसादृश्यात् दा-  
 वेव भेदावाङ्गः । यथा, “आर्षोत्यमार्षतुल्यञ्च द्विविधं प्राकृतं  
 विदुः” इति । वस्तुतस्तु सर्वसामपि प्राकृतभाषाणां संस्कृ-  
 तोत्पन्नत्वात् क्रियाकारकान्वयादिमत्त्वेन संस्कृतसादृश्यात् म-  
 हाराष्ट्रादितत्तद्देशव्यवहृतचरत्वाच्चैकत्रैव संस्कृतभवत्वादि ध-  
 र्मात्रयमस्तीति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृतं प्राकृतं विदुः ।

सागरः सक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ ३४ ॥

प्राकृतस्योत्कर्षापकर्षौ दर्शयति । महाराष्ट्राश्रयामिति ।  
 • महाराष्ट्रोदक्षिणापथवर्ती, देशविशेषः, तदाश्रयां पूर्वं तत्र-  
 त्यजनव्यवहृतां महाराष्ट्रीं भाषां प्रकृतमुत्तमं प्राकृतं विदुः  
 पण्डिता जानन्ति, साक्षात् संस्कृतोत्पन्नत्वेन संस्कृतवच्छ्रोतृणां  
 श्रुतिसुखजनकत्वात्, अतएव प्राकृताः कवयोऽनया भाषया  
 सुवहन् चमत्कारकारिकाव्यप्रबन्धान् निर्ममुरित्याह ! सागर

इति । सूक्तयश्चमत्कारजनकवचनान्येव रत्नानि तेषां सागरः  
सागररूपोनिलयः सेतुबन्धः प्राकृतकाव्यविशेषः तदादि,  
आदिना दशमुखबधादिपरिग्रहः, यन्मयः यथा महाराष्ट्रा  
रचितः ॥ ३४ ॥

शौरसेनी च गौडो च लाटो चान्या च तादृशी ।

याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥ ३५ ॥

अन्यान्यपि प्राकृतानि दर्शयति । शौरसेनीति । शूरसे-  
नोमथुरासन्निहितदेशविशेषः, गौडः कोकटवङ्गयोरन्तराल-  
देशः, लाटो दक्षिणदेशविशेषः, एतद्देशत्रयव्यवहृतपूर्व्या भाषा,  
शौरसेनीप्रभृतिः तथा तादृशी तत्प्रजातीया तत्तद्देशनामोप-  
लक्षिता अन्या आवन्तीमागधीप्रभृतिश्च, प्राकृतमित्येवं प्राकृ-  
तेति नाम्ना व्यवहारेषु नाटकादिवर्णनीयतत्तद्देशीयजनेक्ति-  
प्रत्युक्तिषु सन्निधिं याति कविभिर्निवेश्यते, तादृशीत्यनेन  
देशनामोपलक्षिताः सर्वा एव भाषाः प्राकृतसंज्ञयोच्यन्त इति  
सूचितम् । ताश्च प्राच्यावन्तीमागध्यर्द्धमागधीद्राविडावाह्ली-  
कीप्रभृतयः । जात्यादिनामोपलक्षितानान्वपभ्रंशत्वमित्यनन्त-  
रमेव वक्ष्यते ॥ ३५ ॥

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।

शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदभ्रंशतयोदितम् ॥ ३६ ॥

अपभ्रंशं निरूपयति । आभीरादीति । काव्येषु नाटकादिषु  
आभीरादिगिरः आभीरीप्रभृतयो गोपचाण्डालशकारादीर्ना

व्यवहरणीया भाषा अपभ्रंश इति सूताः अपभ्रंशनाम्ना भाषा  
निरूपकैर्निरूपिताः । काव्येष्वित्यस्य व्यावृत्तिं दर्शयति । शा-  
स्त्रेष्विति । शास्त्रेषु वेदादिशास्त्रोक्तयज्ञादिषु । अतएवोक्तं,  
न स्त्रेष्वित्यस्य यज्ञादाविति । संस्कृतादन्यदिति । तत्र प्राकृत-  
स्याप्यपभ्रंशलमित्यर्थः । प्रसङ्गादिदमुक्तम् ॥ ३६ ॥

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम् ।

आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥ ३७ ॥

एवं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशान् लक्षयित्वा यथोद्देशं लक्षणी-  
यस्य मिश्रस्य योगशक्त्या नानाभाषामिश्रितत्वरूपलक्षणलाभात्  
निरर्थकं तत्रदर्शनमिति तत्परित्यज्य संप्रति नियमाय सर्वेषां  
लक्ष्याणि प्रदर्शयति । संस्कृतमिति । सर्गबन्धः सर्गनामकैः  
परिच्छेदैर्बध्यमानः प्रबन्धो महाकाव्यमित्यर्थः, आदिना देवस्तु-  
त्यादिखण्डकाव्यपरिग्रहः, संस्कृतं संस्कृतभाषामयमेव । अत-  
एवाग्नेये । सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् । तद्भवं  
न विशेषतः तत्समं नापि किञ्चनेति । इत्यस्य महाकाव्यस्य  
संस्कृतत्वनियमात् तत्र वीचानामपि संस्कृतप्रयोगो न दोषाय,  
भाषाणां वक्तृविशेषगतत्वनियमस्तु नाटकादिमिश्रकाव्य एवेति  
वक्ष्यामः । प्राकृतमिति । स्कन्धकं कन्दोविशेषः आदिना  
गलितकादीनां ग्रहणम् । उक्तञ्च कन्दसा स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्  
गलितकैरपीति । स्कन्धकादिच्छन्दोबद्धं काव्यं प्राकृतमयमेव  
भवतीत्यर्थः । यथा सेतुबन्धादि । एतदुपलक्षणम्, उपरू-

पकान्तर्गतसदृकस्यापि प्राकृतमात्रमयत्वं ज्ञेयं । यदाह ।  
 सदृकं प्राकृताशेषपाद्यं स्यादप्रवेशकमिति । स्कन्धकादिकमि-  
 त्यत्र स्कन्धकादि यदिति क्वचित् पाठः । आसारादीनीति ।  
 आसारादीनि छन्दोविशेषाः तन्निबद्धं काव्यमपभ्रंशमयमेव  
 कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्र परिच्छेदस्य कडवकसंज्ञा, यदुक्तम् ।  
 अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कडवकाभिधाः । तथापभ्रंश-  
 योग्यानि छन्दांसि विविधानि चेति । यथा कर्णपराक्रमादि ।  
 नाटकादित्विति । तुरेवार्थे, नाटकाद्येवेत्यर्थः, आदिना प्रकर-  
 णादिरूपकाणां सदृकवर्जं नाटिकाद्युपरूपकाणाञ्च ग्रहणं ।  
 तत्र रूपकाणि दश, उपरूपकाण्यष्टादश, यदुक्तं, नाटकमथ  
 प्रकरणं भाषव्यायोगसमवकारडिमाः । ईहामृगाङ्गवीथ्यः  
 प्रहसनमिति रूपकाणि दश । “नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सदृकं  
 नाथ्यरामकम् । प्रस्थानोत्सायकाव्यानि प्रेङ्गणं रामकं तथा ।  
 संलापकं श्रीगदितं शिल्पिकञ्च विलासिका । दुर्घसिका प्रक-  
 रणी हस्तीशो भाषिकेत्यपि । अष्टादश प्राङ्गरूपरूपकाणि मनी-  
 षिणः” इति । एषां लक्षणानि दशरूपकादौ ज्ञातव्यानि ।  
 मिश्रकमिति, नानाभाषात्मकत्वान्मिश्रसंज्ञकमित्यर्थः । यथा  
 अभिज्ञानशकुन्तलमालतीमाधवादि । नानाभाषात्मकत्वञ्च ना-  
 टकादौ तत्तद्वर्णं तत्तद्भाषाभिरेवोक्तिप्रत्युक्तिनियमात् ।  
 यदुक्तं नाटकाद्यधिकृत्य । “पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्  
 क्षतात्मनाम् । शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनाञ्च योषिताम् ।  
 आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् । अत्रोक्ता मगधी



भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् । चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिना-  
श्चार्द्धमागधी । प्राच्या विदूषकादीनां धूर्त्तानां स्यादवन्तिका ।  
योधनागरिकादीनां दाचिणात्याहिदीव्यताम् । शकाराणां  
शकादीनां शाकारीं संप्रयोजयेत्" इत्यादि ॥ ३७ ॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।

भूतभाषामयीं प्राङ्गरङ्गुतार्थां वृहत्कथाम् ॥ ३८ ॥

मिश्रस्योदारणान्तरं दर्शयति । कथाहीति । कथा गद्य-  
काव्यविशेषः पूर्वोक्तः । हीति यस्मादर्थे, यतः कथा सर्वभा-  
षाभिर्बध्यते अतः सापि मिश्रमित्यर्थः । हीत्यात्र अपीति पाठे,  
कथापि मिश्रं यतः सा सर्वभाषाभिर्बध्यत इति हेतुहेतु-  
मद्भावेनान्वयः । ननु कथालेन प्रसिद्धे कादम्बर्यादौ सर्व-  
भाषामयत्वं नास्तीत्यत्राह । संस्कृतेन चेति । अथमाश्रयः,  
सर्वभाषामयत्वं केवलसंस्कृतमयत्वञ्चेति कथायां प्रकारद्वयं,  
तत्र पूर्वोक्तप्रकारे मिश्रत्वमिति । कथाप्रसङ्गेन वृहत्कथां  
लक्षयति । भूतभाषामयीमिति । भूतभाषा पेशाची भाषा,  
अङ्गुतार्थामङ्गुतरसव्यञ्जिकाम् । पेशाच्याश्चापभंशरूपत्वादप-  
भंशकाव्यं वृहत्कथेति ज्ञेयम्, यथा वृहत्कथासरित्सागरः ।  
वृहत्कथासरित्सागरसारस्तु संस्कृतेन तस्यानुवादरूपः ॥ ३८ ॥

लास्यच्छलितशल्यादि प्रेक्ष्यार्थमितरत्पुनः ।

श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयो गतिरुदाहता ॥ ३९ ॥

पुनरपि दृश्यश्रव्यत्वभेदेन काव्यस्य भेदद्वयमाह । ला-

स्येति । स्त्रीजनकृतं शृङ्गाररसप्रधानं नृत्यं लास्यं । तदाह ।  
 लासः स्त्रीपुंसयोर्भावस्तदर्थं तत्र बाधु वा । लास्यं, मनसिजो-  
 लासकरं मृदङ्गहाववत् । देव्यै देवोपदिष्टत्वात् प्रायः स्त्रीभिः  
 प्रयुज्यत इति । भरतश्च । “कोमलं मधुरं लास्यं शृङ्गाररस-  
 संयुतम् । गौरीतोषकरश्चापि स्त्रीनृत्यन्तु तदुच्यते” इति ।  
 क्लृप्तं पुंनृत्यं । तदाह । पुंनृत्यं क्लृप्तं प्राञ्जरिति । शल्या,  
 भाले हस्तं समावेष्ट्य नृत्यं शल्येति कीर्त्तितमित्युक्तलक्षणा ।  
 शल्येत्यत्र साम्येति पाठे, साम्यं गीतवाद्यलयसमयनृत्यमन्यैरा-  
 सकनान्ना पठितम् । “आदिना ताण्डवहस्त्रीशरामानां ग्रह-  
 णम्” । उक्तञ्च । “तस्मात्सं ताण्डवञ्चेति क्लृप्तं शल्यथा मह ।  
 हस्त्रीशकञ्च रामञ्च षट्प्रकारं प्रचक्षते” इति । ताण्डवमुद्धृत-  
 पुंनृत्यं, यथा, “वीररौद्ररसाधारमुद्धृतं शङ्करप्रियम् । पुरु-  
 षेण समारम्भं नृत्यं ताण्डवमुच्यते” इति । अन्यच्च । “उद्धृतन्तु  
 महेशस्य शासनात्ताण्डुनोदितम् । भरताय, ततः ख्यातं लोके  
 ताण्डवसंज्ञया” इति । हस्त्रीशं मण्डलाकारेण स्त्रीशमूहनृत्यं,  
 यथा, “मण्डलेन तु यत् स्त्रीणां नृत्यं हस्त्रीशकन्तु तत् । तत्र  
 नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः” इति । हस्त्रीशमेव  
 तालबन्धविशेषयुक्तं रासकम् । इत्थं लास्यादिसहितं काव्यं  
 प्रेक्षार्थं प्रेक्ष्यः सामाजिकैर्दृश्योऽर्थः नटैरामाद्यवस्थानुकरणेन  
 प्रकाशमानं काव्यप्रतिपाद्यं यत्र तदिति व्युत्पत्त्या लक्षणलाभः  
 तच्चाभिनयप्रधानं नाटकादिकम् । अथमाह । इतरदिति ।  
 इतरत् प्रेक्षार्थकाव्याद्भिन्नं मुक्तकादिकं अथमेव अवन-

मात्रविषयतावत् । अत्रणमात्रविषयत्वं अव्यसङ्गणमित्यर्थः,  
तदाह भोजराजः । अयं तत्काव्यमाङ्ग्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते ।  
आचयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधमिति । एतेन नाट-  
कादौ दर्शनविषयत्वसामानाधिकरण्येन अत्रणविषयत्वान्न अव्य-  
त्वप्रसक्तिः । केचित्तु अव्यमेवेत्येवकारेण गेयत्वादिना परक-  
तानां अव्यभेदानां निरासः कृतः तेषामस्मन्मते अव्यएवान्त-  
र्भावादिति वदन्ति । इति इत्थं सा प्रसिद्धा प्राचीनैरङ्गीकृते-  
त्यर्थः, एषापि, अपिः पूर्वभेदसमुच्चये, द्वयी गतिः पन्था द्विवि-  
धाभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अस्त्यनेकोगिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।

तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥

इत्थं सप्रभेदं काव्यशरीरं निरूप्य अलङ्काराश्च दर्शिता  
इत्यनेन निरूपयितव्येषु गुणालङ्कारेषु प्रथमं तावद्गुणान्  
निरूपयितुं वाचां विचित्रमार्गाणामित्यनेनोद्दिष्टां रीति-  
माह । अस्त्यनेक इति । मार्गः पदविन्यासप्रणाली रीतिरि-  
त्यर्थः । अनेक इति । गौडी वैदर्भी पाञ्चाली चेति त्रिविध  
इति वामनः । साटीसहितास्ता इति चतुर्विध इति विश्व-  
नाथप्रभृतयः । षड्विध इति भोजराजप्रभृतयः । यथा “वैद-  
र्भीचाय पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा । साटीया मागधी  
चेति षोढा रीतिर्निर्गद्यत” इति । अस्तीति प्राचां ग्रन्थेषु  
निरूपित इति शेषः । अस्ति चेत् भवतापि निरूप्यतामित्य-

चाह । सूत्रेति । परस्परं सूत्रः प्रणिधानमस्यः अत्यन्त-  
 इत्यर्थः भेदोयस्य सः । तथाहि पाञ्चाली, वैदर्भीगौडोरन्त-  
 रालवर्त्तिनीति तदुभयरूपैव, एवं लाटी वैदर्भीपाञ्चाल्यो-  
 रिति तद्रूपैव, एवमन्या अपि बोध्याः । अतश्च किञ्चिद्भेदवतां  
 प्रदर्शनेन ग्रन्थपञ्चवनमप्रयोजनमिति तत्सर्वं ग्रन्थान्तरतोवे-  
 दितव्यमिति भावः । इत्थं पाञ्चाल्यादिष्वसम्पत्तिं प्रदर्शय वैद-  
 र्भीगौडोरेव निरूपणं प्रतिजानीते । तत्रेति । तत्र तेषु मा-  
 र्गेषु मध्ये । वर्ण्येते इत्यत्र हेतुः प्रस्फुटान्तराविति, सुकुमार-  
 विकटात्मकत्वेन अत्यन्तविसदृशावित्यर्थः, ईदृशानामेव पृथङ्नि-  
 रूपणमुचितमिति भावः ॥ ४० ॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दृशगुणाः स्मृताः ।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

प्रतिज्ञाते वैदर्भीगौडौ क्रमेणाह । श्लेष इति । गुणाः श-  
 ब्दार्थयोरुत्कर्षाधायकत्वाद्गुणशब्दवाच्याः श्लेषादिसमाध्यन्तादृश  
 वैदर्भमार्गस्य वैदर्भीरीतिमत्काव्यवन्धस्य प्राणाः प्राणवदुष्जी-  
 वकाः तान् विना तत्र निष्प्राणदेहे देहिव्यवहारस्यैव वैदर्भ-  
 जनानां काव्यव्यवहारस्यानङ्गीकारात् । इत्यञ्च श्लेषादिगुण-  
 वती पदरचना वैदर्भीति लक्षणमायातं भवति, अत्र च  
 स्वल्पप्राणाच्चरवत्त्वादिसामानाधिकरण्येन गुणानां लक्षणत्वम-

वगन्तव्यं तादृशसामानाधिकरणस्यापि तत्रावश्यं निवेश्यत्वा-  
 ददाह रुद्रटः । “असस्रैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।  
 वर्गद्वितीयवज्रला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया” इति । नव्या-  
 स्वात्मनः शौर्यादीनामिव रसस्य धर्माणां माधुर्य्याजः प्रमा-  
 दानामेव गुणत्वं न तु शब्दार्थमात्रवृत्तीनां श्लेषादीनां  
 दशानामित्याहुस्तत्प्राचीनसम्प्रदायविरुद्धमिति सूचयन्नाह,  
 सृता इति । प्राचीनैराम्नाता अवश्यं मन्तव्या इत्यर्थः । गौडी-  
 माह । एषामिति । गौडवर्त्मनि गौडरीतौ, एषां श्लेषादि-  
 दशगुणानां विपर्ययोवैपरीत्यं, स च क्वचिदत्यन्ताभावरूपः  
 क्वचिदंशेन सम्बन्धरूपश्च, प्राय इत्यनेन च कुत्रचिद्वैदर्भीगौडोः  
 साम्यमपि वर्त्तत इति सूचितं । साम्यञ्च गुणविरुद्धासम्बन्धात्  
 किञ्चिद्गुणसम्बन्धाच्च, अतएवोक्तमसमस्तगुणा गौडीति । इत्यञ्च  
 वैदर्भीविरुद्धधर्मावतो पदरचना गौडीति लक्षणमुक्तं भवति, ता-  
 दृशविरुद्धधर्मावत्त्वञ्च दीर्घसमासादिना बन्धवैक्यरूपं । यदाह  
 पुरुषोत्तमः वज्रतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया ।  
 रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्राऽस्तोभवाक्या चेति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।

शिथिलं, मालतीमाला लालालिकलिला यथा ॥ ४३ ॥

क्रमेण श्लेषादिगुणानां स्वरूपमाह । श्लिष्टेति । अल्पः  
 प्राण उच्चारणप्रयत्नो येषां तादृशान्यक्षराण्युत्तराणि प्रधा-  
 नानि, सुबहूनीत्यर्थः, यत्र तत्, अल्पप्राणाश्च स्तरा वर्गीया-

युग्मवर्णा यरलवाश्च । अतएव शिथिलम् । अत्रापिकारोऽध्या-  
 हत्तव्यः । शिथिलमपि अनुद्धतमपीत्यर्थः असृष्टमप्रकाशितं  
 शैथिल्यं यस्य तत्, विन्यासविशेषेण शिथिलत्वेनाप्रतीयमान-  
 मित्यर्थः तादृशं वाक्यं स्निष्टं श्लेषाख्यगुणवत् । इत्यञ्च अल्प-  
 प्राणवर्णघटितत्वेन शिथिलस्यापि विन्यासविशेषवशेनाशिथिल-  
 त्वेन प्रतिभासनं श्लेष इति लक्षणं ज्ञातव्यम् । लक्ष्यं दर्श-  
 यति । मालतीति । लोलैरितस्ततः पतद्भिरलिभिः कलिला  
 व्याप्ता । अत्र मकारादयोवर्णा अल्पप्राणाः, तद्वटितमपि  
 वाक्यं सानुप्रासविन्यासमहिम्ना किञ्चिद्गाढमिव प्रतिभाति ।  
 अन्येतु वर्णमात्रघटितानामपि बहूनां पदानां गाढताहेतु-  
 दीर्घसमासरहितत्वेऽपि विन्यासविशेषेणैकपदवद्गामनरूपमशै-  
 थिल्यं श्लेषः तादृशश्लेषश्च गौड्यामपि सम्भवतीत्याहुः । तस्या-  
 दाहरणं यथा । “उन्नञ्जलकुञ्जरेन्द्रभसास्फालानुबन्धो-  
 द्रुतः सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वनिनीः ।  
 उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपद्योन्माथी यथायं तथा प्रायः  
 प्रेङ्खदसङ्ख्यशङ्खधवला वेल्लेयमुद्गच्छति” इति । अत्र बन्धवैक-  
 व्याप्तौद्येव । वस्तुतस्तु अल्पप्राणाक्षरघटितस्यापि बन्धस्यान्त-  
 रान्तरा महाप्राणाक्षरविन्यासेन किञ्चिद्गाढत्वं श्लेष इति  
 क्रमदीश्वरोक्तमादरणीयं यथा, अल्पप्राणेषु वर्णेषु विन्यासो-  
 ऽप्यन्तरान्तरा । महाप्राणस्य च श्लेषोयथायं भ्रमरध्वनि-  
 रिति । अन्यथा श्लेषस्यानुप्रासादिघटितत्वे तद्वटितवक्ष्यमाण  
 माधुर्याद्यभिन्नत्वापत्तिरिति ध्येयम् ॥ ४३ ॥

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् ।  
वैदर्भैर्मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति ॥ ४४ ॥

उक्तलक्षणः श्लेषः क्वचिद्गौडैरप्याद्रियतइत्याह । अनु-  
प्रासेति । अनुप्रासोवर्णावृत्तिरूपः शब्दालङ्कारविशेषः तस्य  
धिया ज्ञानेन, बन्धगौरवात् रचनाया गाढत्वज्ञानात् । गौ-  
डैर्गौडदेशीयकविभिः, तत् तथाविधं मालतीमाला लोलालि-  
कलिलेत्यादि श्लेषोदाहरणम्, इष्टमिति गौडानामनुप्रास-  
प्रियत्वादिति भावः । एवञ्च पुरुषोत्तमादिकृतगौडीलक्षणे  
सुमहाप्राणाक्षरेति विशेषणं प्रायिकाभिप्रायेणेति ज्ञेयम् ।  
नन्वेवं वैदर्भीगौडोरैक्यमापतितमित्यत्राह । वैदर्भैरिति ।  
इतीति इत्यपीत्यर्थः अनुप्रासशून्यमपि मालतीदामेत्यादि-  
वाक्यं विदर्भदेशीयैः स्मिष्टत्वेनेष्टमित्यर्थः, कुत्रचिदनुप्रास-  
सङ्गावेऽपि सर्वत्र तदभावादनुप्रासविरहिण्यपि वैदर्भाणां  
श्लेषाङ्गीकारान्न वैदर्भीगौडोः समानविषयत्वमिति भावः ।  
अस्ति चायास्पृष्टशैथिल्यत्वं सहृदयानुभवसिद्धम् । अत्र मका-  
राणां चयाणां लकारयोस्तकारयोश्च द्वयोरवृत्तावपि व्यव-  
हितस्थितत्वेन चमत्काराजननाम्नानुप्राससम्भवः, वक्ष्यति च  
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरतेति । अथश्च श्लेषः शब्द-  
गुणः । अर्थगुणः श्लेषस्तु क्रमकौटिल्यानुत्पत्तौपपत्तियोग-  
रूपघटनात्मकोऽन्यैरुक्तो ज्ञातव्यः, तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः,  
कौटिल्यं विदग्धचेष्टितम्, अनुत्पत्तौपपत्तौवर्णनाविरहः,

उपपत्तिरूपपादकयुक्तिविन्यासः, एषां योगः संमेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तदात्मकः । यथा, “दृष्टैकाग्रमस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरादेकस्या नयने पिधाय विहित-क्रीडानुबन्धच्छलः । ईषदकृतकन्धरः सपुलकः प्रेमोत्स-न्मानसामन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्ताऽपरां चुम्बति” । अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यं, लोका-व्यवहाररूपमनुल्लवणत्वम्, एकाग्रमस्थिते, पश्चादुपेत्य, नयने निमील्य, ईषदकृतकन्धर इति चोपपादकानि, इत्येषामत्र योगः ॥ ४४ ॥

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।

लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥ ४५ ॥

प्रसादं लक्षयति । प्रसादवदिति । प्रसिद्धार्थं प्रसिद्धार्थ-प्रतिपादकम्, उभयार्थकशब्दस्याप्रसिद्धार्थं प्रयोगे निहतार्थ-त्वरूपदोषापत्त्या प्रसिद्धार्थं प्रयुक्तमित्यर्थः, तथा प्रतीतौ सुभगं सुन्दरम्, अधिकपदत्वकष्टत्वादिदोषासम्बन्धेन स्रष्टि-त्यर्थापस्थापकमित्यर्थः । ईदृशं वचो वाक्यं प्रसादवत् प्रसा-दाख्यगुणयुक्तमित्यन्वयः, एवञ्च दोषाभावकृतमर्थस्य वैमल्यं प्रसाद इति लक्षणं, तस्य वाक्यगतत्वं परम्परयेति बोध्यम्, अस्योदाहरणं दर्शयति । इन्दोरिति । इन्दीवरद्युति श्याम-सम्, लक्ष्म कलङ्कः । अत्रेन्दिन्दीवरादयः शब्दाः प्रसिद्ध-चन्द्रार्थेषु प्रयुक्ताः अतिमात्रतस्यार्थबोधकाः ॥ ४५ ॥



व्युत्पन्नमिति गौडोयैर्नातिरूढमपीष्यते ।

अथानत्यर्जुनाञ्जन्मसदृशाङ्कोवलक्ष्णः ॥ ४६ ॥

अस्य गौड्यां विपर्ययं दर्शयति । व्युत्पन्नमिति । गौ-  
डोयैः पुनर्नातिरूढमपि अनतिप्रसिद्धमपि निहतार्थत्वादि  
दोषवदपीत्यर्थः व्युत्पन्नं व्युत्पत्तिमत् बन्धगौरवप्रतिभासनेन  
वैचित्र्यवदित्यर्थः, इत्येवं मत्वा इष्यते । अयं भावः, गौडा हि  
शिथिलबन्धे काष्ठे निहतार्थत्वादिदोषान् मन्यन्तएव परन्तु  
यत्र गाढोबन्धस्तद्गुणमपि वैचित्र्यवदिदमित्याद्रियन्ते इति ।  
यथेति । अनत्यर्जुनमनतिधवलं किञ्चिन्नीलमित्यर्थः यदञ्जन्म  
इन्दीवरं तस्य सदृशस्तुल्योऽङ्कः कलङ्कोवस्य सः, बललो-  
धवलो गौः किरणोवस्य सः चन्द्र इत्यर्थः । अत्रार्जुनशब्दः  
कार्तवीर्यपाण्डवविशेषयोः प्रसिद्धः, शूक्लवर्णं त्वप्रसिद्ध इति  
निहतार्थः, अञ्जन्मशब्दश्च न केनापि प्रायेणोत्पले प्रयुक्त  
इत्यप्रयुक्तः, एवमुपमितिगर्भबहुव्रीहिणैव आदृश्यबोधसम्भवे  
सदृशशब्दश्चाधिकः श्रुतिकटुश्च, एवं बलशब्दोऽप्रयुक्तः श्रुति-  
कटुश्च, गोशब्दश्च हृषीकेशो प्रसिद्धः किरणे त्वप्रसिद्ध इति  
• निहतार्थः, किञ्च अनत्यर्जुनाञ्जन्मेत्यत्र सन्धौ कष्टत्वं, तदेवं  
दोषबहुत्वमपि वाक्यं बन्धगाढत्वमहिम्ना गौडैः काव्यत्वेना-  
ङ्गीक्रियत इति गौड्यां निरुक्तप्रसादाभावाद् वैदर्भीतोभेदः ।  
वस्तुतस्तु वैदर्भपक्षपातितया ग्रन्थकृतैवमुक्तं गौडानामपि  
दोषाणामनङ्गीकारादिति ध्येयम् । अयञ्च प्रसादोऽर्थवैमल्य-

रूपोऽर्थगुणः, शब्दगुणः प्रसादस्तु ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा ।  
 यथा । “यो यः शक्तं विभर्त्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डुवीनां  
 चमूनां योयः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो  
 वा । योयस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यस्य यस्य प्रतीपः  
 क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्”  
 इति ॥ ४६ ॥

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः ।

बन्धामृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ॥ ४७ ॥

समतां लक्षयति । सममिति । बन्धेषु संघटनासु अवि-  
 षममविभिन्नम्, उपक्रमोपसंहारयोर्बन्धगतवैषम्याभाववदि-  
 त्यर्थः ईदृशं वाक्यं समं समताख्यगुणवत् । इत्यञ्च येन बन्धे-  
 नोपक्रम्यते तेनैव बन्धेन समापनं समतेति लक्षणं ज्ञातव्यम्,  
 बन्धास्तावत् कतिविधा इत्यत्राह । ते इति । ते बन्धाः,  
 मृदुः कोमलः, स्फुटोविकटः, मध्यमस्तदुभयात्मकः, त-  
 दात्मकः, बन्धानां मृदुत्वादिकमपि कथमित्यत्राह । मृदु-  
 स्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनय इति, मृदुवर्णा ह्रस्वस्वरवर्णा-  
 न्नादन्यव्यञ्जनरूपाः, स्फुटाविकटा दीर्घस्वराष्टडुठशषहा-  
 य । एतच्छेषा उन्मिश्रा मध्यमाः, एतेषां विन्यासोयोनिः  
 कारणं येषां ते । अत्र वर्णशब्दः असमासमध्यमसमासदीर्घ-  
 समासानामुपलक्षकः, यदाह, “असमासा, समासेन मध्यमेन

च भूषिता । तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता”  
इति । एवञ्च त्रिविधवर्णसमासघटितानां बन्धानां त्रैविध्यात्  
तद्गता समतापि त्रिविधेति भावः । इयञ्च समता शब्दगुणः,  
अर्थगुणभूता तु प्रक्रान्तप्रत्ययाद्यविपर्यासेनार्थस्य विसम्बादिता-  
विरहः स च प्रक्रमभङ्गाख्यदोषाभावरूपः अन्यैरुक्तो ज्ञातव्यः ।  
यथा, उदेति सविता तामस्ताम एवास्तमेति चेत्यादि ॥

॥ ४७ ॥

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः ।

उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भःकणेशितः ॥ ४८ ॥

चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दोमलयमारुतः ।

सर्द्धते रुद्धमद्धैर्यौ वररामामुखानिलैः ॥ ४९ ॥

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालङ्कारडम्बरौ ।

अपेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥ ५० ॥

इत्थं बन्धत्रैविध्येन त्रिविधां समतां क्रमेण सार्द्धश्लोकेन  
दर्शयति । कोकिलेति । एति पीडयितुमागच्छति । अत्र मृदु-  
बन्धेनोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य मृदुबन्धेनैव समापनमिति मृदु-  
बन्धगता समता । स्फुटबन्धगतां दर्शयति । उच्छलदिति ।  
उच्छलन्तोदूरमुत्सर्पन्तः शीकरा यस्य तत्, तथा अच्छादय-  
च्छमतिनिर्मलं यन्निर्झराम्भस्तस्य कणैरुचितः सितः शीतल  
इत्यर्थः, अत्रापि मलयानिलोमामेतीत्यनुषङ्गः । अत्र स्फुट-  
बन्धेनोपक्रान्तस्य तेनैव समापनमिति स्फुटबन्धगता ॥ ४८ ॥

मध्यमबन्धगतां समतां दर्शयति । चन्दनेति । चन्दन-  
 प्रणयश्चन्दनवनसंसर्गस्तेन उदधिकोगन्धोयस्य सः । इति  
 मिश्रवर्णमध्यमसमासघटितत्वान्मध्यमोबन्धः । उपक्रमोपसंहारौ  
 च तेनैवेति मध्यमबन्धगतेयं समता । केचित्तु कोकिलाला-  
 पेत्यादिस्लोकद्वयमिदं समतायाः प्रत्युदाहरणं प्रतिश्लोकमुप-  
 क्रमोपसंहारयोर्विभिन्नबन्धकलादित्याहुस्तत्र रुचिरम्, उ-  
 दाहरणं दर्शयित्वैव प्रत्युदाहरणदर्शनाया औचित्यात् ।  
 इत्थं समतात्रयं लक्षयित्वा गौड्यामेतद्विपर्ययं दर्शयितुं  
 प्रथमं वैषम्यप्रकारं दर्शयति । स्पृष्टत इति । विरहिण उक्ति-  
 रियम् । अत्र मलयमारुत इति कर्तृपदमध्याहर्त्तव्यम् । रुद्धं  
 स्तम्भितं मम धैर्यं येन सः मामधीरं कुर्वन्नित्यर्थः, वररामाः  
 पद्मिनीस्त्रियः, तासां मुखानिलैः स्पृष्टते तत्तद्दृशो भवति  
 समानसौगन्ध्यवत्त्वादिति भावः । अत्र प्रथमपादे स्फुटोब-  
 न्धः द्वितीयेतु मृदुरिति विभिन्नबन्धकत्वान्नास्ति समता ॥  
 ॥ ४६ ॥

निरुक्तसमतायां गौडीयानामनास्त्रां दर्शयति । इत्यना-  
 लोच्येति । इत्येवं स्पृष्टतइत्यादिस्लोकार्द्धप्रदर्शितं वैषम्यं स-  
 मताविपर्ययजन्यदोषमनालोच्य अनङ्गीकृत्य, अर्था मृदुवि-  
 कटमध्यमरूपाः काव्यार्थाः, अलङ्कारा अनुप्रासोपमादयः,  
 तेषां उम्बरौ उत्कर्षौ, प्रतियोगिद्वित्वाद्द्विवचनम्, अपेक्षमाणा  
 अर्थविशेषानुरोधप्रयुक्ता गुणनैरपेक्षणाऽलङ्कारकृतवैचित्र्यानु-  
 रोधप्रयुक्ता चेत्यर्थः, पौरुष्या गौडदेशीया काव्यानां पङ्क्ति-

मार्गो वृद्धे वृद्धिं गता, वृद्धे इति पाठे प्रवृत्ता । गौ-  
 षानामयमाशयः । अर्थानुसारिणो हि बन्धाः, अर्थस्य मृदु-  
 विकटमध्यमात्मकाः, तत्र यदि प्रथमं मृदुरर्थः अवसाने च  
 विकटः तदा मृदुबन्धेनोपक्रान्तमपि विकटबन्धेन समापनीयं  
 बन्धानामर्थानुगतत्वनियमात् एवम्बिधस्थले समतापरित्यागो  
 गुण एव । यथा सारङ्गाः किमु वल्लितैः किमफलैराडम्बरैर्ज-  
 मुका मातङ्गा महिषा मदं व्रजत किं शून्येऽथ शूरा न के ।  
 कोपाटोपसमुद्गतोत्कटशटाकोटेरिभारेः शनैः सिन्धुध्वानिनि-  
 ङ्ङुते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितमित्यादावुत्तरार्द्धे कु-  
 पितसिंहरूपार्थस्योद्भूतत्वात् सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव ।  
 अत्रार्थपदञ्च वक्त्राद्युपलक्षकं तेन वक्त्राद्यौचित्यवशादपि बन्ध-  
 वैषम्यं युज्यते, प्रकृते च स्पृष्टते रूद्धमद्भैर्यं इत्यत्र शृङ्गारि-  
 णोऽपि वक्तुर्धैर्यरोधेन वायुं प्रति कुपितत्वात् कुपितवाक्यस्य  
 चोद्भूत्यौचित्यात् युज्यते विकटबन्धः । वररामामुखानिलै-  
 रित्यत्र तु कोपाभावात् शृङ्गाराङ्गस्य वररामापदवाच्य-  
 नायिकारूपार्थस्य मृदुत्वाच्च मृदुबन्ध इति समतात्यागोगुण  
 एव, अतएव पतत्प्रकर्षतादोषस्याऽपि क्वचिद्गुणत्वमुक्तं ।  
 • यथा । चञ्चहुजभ्रमितचण्डगदाविघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य  
 सुयोधनस्य । स्थानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति  
 कचांस्तव देवि भीम, इत्यत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया  
 शब्दाडम्बरत्यागो गुण एवेति । वैदर्भास्तु गुणपक्षपाति-  
 तया विसदृशार्थकेऽपि सन्दर्भे उपक्रान्तबन्धत्यागो दोष

एवेति मन्यन्ते इत्यनयोर्विपर्ययः । अलङ्कारेति । गुण-  
समानाधिकरणएवालङ्कारा रसोत्कर्षका नतु तन्निरपेक्षा  
इति वैदर्भाणां मतं, गौडानान्तु तन्निरपेक्षा अपीति भेदः ।  
यथा च प्रकृते सद्भूते इत्यादौ उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः  
एतच्च प्रसङ्गादुक्तम्, अर्थवैपरीत्येन गौडानां बन्धवैषम्या-  
ङ्गीकारस्यैव प्रस्तुतत्वादित्यवधेयं । केचित्तु अर्थालङ्कार उप-  
मादिः, उम्बरोविकटवर्णता तौ अपेक्षमाणा इत्यादि व्या-  
चक्षते, तन्न सङ्गतं गौडानामनुप्रासादेः शब्दालङ्कारस्याऽपि  
प्रियतमत्वेनापेक्ष्यमाणत्वात् वैदर्भाणाञ्चार्थालङ्कारौदासीन्य-  
स्याद्दृष्टचरत्वात् ॥ ५० ॥

मधुरं रसवद्, वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ ५१ ॥

माधुर्यं लक्षयति । मधुरमिति । रसवद्वाक्यं मधुरं मा-  
धुर्यगुणवदित्यन्वयः । नन्वेतावता रस एव माधुर्यगुण इत्या-  
यातं, तच्च प्राचीनानां नवीनानाञ्च मतविरुद्धं, गुणानाम-  
लङ्कारवच्छब्दार्थनिष्ठतया रसोपकारकत्वस्य प्राचीनैः, सा-  
क्षाद्रसधर्मत्वस्य च नवीनैरङ्गीकृतत्वात् रसात्मकत्वस्य तु न  
केनाप्युक्तत्वादित्यत्राह । वाचीत्यादि । वाचि वाक्यघटक-  
तत्तद्वर्णादौ, तथा वस्तुन्यपि वाक्यप्रतिपाद्यतत्तदर्थे च,  
रसाः शृङ्गारादयः रसनधर्मयोगित्वाद्भावतदाभासादयश्च,

तेषां स्थितिर्यञ्जकतया सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति वाक्यस्य रसव्यञ्जकवर्णादिमत्त्वं तादृशार्थवत्त्वञ्च माधुर्याख्योगुण इति । तत्रासमासा अल्पसमासा वा मृदुवर्णाः षट्कारकरुणशान्तानां, विकटवर्णास्तद्गतदीर्घसमासाश्च वीरवीभत्सरौद्राणां, मध्यवर्णा मध्यसमासाश्च हास्याद्भुतभयानकानां व्यञ्जकाः । अर्थाश्च तत्तद्रसीयविभावानुभावव्यभिचारिभावरूपास्तत्तद्रसव्यञ्जकाः । अर्थानां रसव्यञ्जकत्वञ्च रत्यादिस्थायिभावव्यञ्जकत्वरूपं, यदुक्तं प्रकाशकता, व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृत इति । ननु रसमेव तावन्न जानीमस्तत्कथं तद्व्यञ्जकवर्णादीनां माधुर्यव्यञ्जकत्वमवगन्तव्यमिति रसप्रकारं निर्वक्ति । येनेति । धीमन्तः सामाजिकाः नतु निर्बुद्धयो-हालिकादयः, येन माद्यन्ति मत्तप्राया भवन्ति स रस इत्यर्थः, एतदुक्तं भवति, धीमतां मत्तताहेतुस्तावत् काव्यार्थानुशीलनोद्बुद्धश्चमत्कारापरपर्यायोलोकोत्तराह्लादः स एव रस इत्यर्थः । वैषयिकानन्दस्तु ब्रह्मानन्दनिर्वृतानिव न तानुन्मदयति । अत- एवेकं । “काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम् । व्यसनेन तु मूर्खाणां मिद्रया कलहेन च” इति । एतदेवो-पमया विशदयति, मधुमेवेति । अन्ये त्वाङ्गः पृथक्पदत्वं माधुर्यं तच्च शब्दगुणः, यथा श्वासान् मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते इत्यादि । उक्तिवैचित्र्यरूपन्तु माधुर्यमर्थ-गुणः, यथा, “भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति” इत्यादि ॥ ५१ ॥

यथा कयाचिच्छ्रुया यत्प्रमानमनुभूयते ।

तद्रूपा हि पदासक्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ ५२ ॥

माधुर्यं ऽस्मिन् वैदर्भीगौडोः प्रभेदं दर्शयितुं प्रथमं वैदर्भ्य-  
नुकूलतया 'वाचि रसस्थितिः' इत्यनेनोक्तं श्रुत्यनुप्रासवद्वर्णम-  
घस्य रसव्यञ्जकत्वमाह । यथेति । श्रूयते ऽनयेति श्रुतिरुच्चारणं,  
करणे क्तिः, यथा कयाचित् कण्ठयथा दन्तयथा अपरया वा श्रुत्या  
उच्चारणेन, यदिति क्रियाविशेषणं, समानं पूर्वोच्चरितव्यञ्जनम-  
दृशं यदनुभूयते, हीति निश्चये, तद्रूपा तादृशमादृश्यानुभव-  
विषयव्यञ्जनवती पदासक्तिः अव्यवधानेन तादृशपदानां प्र-  
योगः सानुप्रासा श्रुत्यनुप्रासवती, सैव रसावहा रसव्यञ्जिका ।  
अयमर्थः, कण्ठताल्वाद्येकस्थानोच्चार्यत्वेन व्यञ्जनानां सादृश्यं  
श्रुत्यनुप्रासः, यदाह विश्वनाथः । उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने  
तालुरदादिके । सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते इति ।  
अयञ्चानुप्रासोविभिन्नवर्णविषया वैदर्भाणामतीव श्रुतिसुखा-  
वहः । एकवर्णविषयस्तु केकट्टित्तिसंज्ञागौडानां श्रुतिसुखावह  
इति वक्ष्यते । तद्युक्तव्यञ्जनवदाक्यं रसावहमिति, अस्ति  
चैवंविधस्यले काव्यशोभाकरोमाधुर्यगुणः । उक्तञ्च । "यथा  
ज्योत्स्ना शरच्चन्द्रं यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्रासस्तथा  
काव्यमलङ्कृतमिह लभ" इति । शब्दालङ्कारस्यानुप्रासस्या-  
लङ्कारनिरूपणप्रकरणे लक्षणीयत्वेऽपि मार्गविभागप्रसङ्गादत्र  
लक्षणं कृतं, वक्ष्यति च । "काव्यिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्य-  
लङ्किया" इति ॥ ५२ ॥



एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः ।  
ततः प्रमृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत् ॥ ५३ ॥

उदाहरति । एष इति । लक्ष्मीं राज्यश्रियं । ब्राह्मणाः  
प्रिया यस्य सः । धर्मस्योत्सव इति दानादिना धर्मकृत्यं प्रवर्त्त-  
यामासेत्यर्थः । अत्र षकाररकारयोरेकस्मिन् मूर्द्धनि, एवं  
जकारयकारयोस्तालौ, दकारलकारयोश्च दन्ते, उच्चार्यमा-  
णत्वात् साम्यमिति श्रुत्यनुप्रासः सच धर्मवीरपरिपुष्टस्य राज-  
विषयकरतिभावस्य व्यञ्जक इति माधुर्यसङ्गावः ॥ ५३ ॥

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ।  
अनुप्रासादपि प्रायोवैदर्भरिदमिष्यते ॥ ५४ ॥

अत्र वैदर्भीगौडोर्विपर्ययं दर्शयति । इतीति । इतिपदं  
पद्यममाप्तिस्तुचकम् । इदमनन्तरोक्तश्रुत्यनुप्रासवत् पद्यं गौ-  
डैर्नादृतं न माधुर्यगुणवत्त्वेनाङ्गीकृतं समानश्रुतिकवर्णानां  
रसोपकारकताविशेषाननुभवादिति भावः । कस्तर्हि तैस्तथा-  
त्वेनाङ्गीक्रियते इत्यत्राह । अनुप्रासस्त्विति । अनुप्रासोऽय-  
मनन्तरवक्ष्यमाणो वर्णावृत्तिरूपः, तत्प्रियः तेषां गौडानां  
रसोपकारकत्वेनादरणीयः । अनुप्रासादपीति । वक्ष्यमाण-  
वर्णावृत्तिरूपादित्यर्थः । अत्र अपेक्ष्येति पदस्थान्तर्भूतत्वेन  
यज्जर्भत्वात् पञ्चमी । इदं निरुक्तश्रुत्यनुप्रासवत् काव्यम् ।  
अत्र अपीति प्राय इति पदाभ्यां वैदर्भाणामपि कोमलवर्णा-  
वृत्त्यनुप्रासेऽप्यादरः सूचितः, अतएव वृत्त्यनुप्रासप्रस्तावे का-

व्यप्रकाशे, माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेभ्यते । आजःप्रकाश-  
कैस्त्रैश्च परुषा, कोमला परैरिति, मधुरवर्णानुप्रासवद्वन्धस्यो-  
पनागरिकात्वमुक्तम् । उपनागरिका वैदर्भी, परुषा गौडी,  
कोमला पाञ्चाली, अत्र वैदर्भाणां श्रुत्यनुप्रासमात्रे गौडानाञ्च  
वर्णावृत्त्यनुप्रासमात्रे वैचित्राभ्युपगमे तेषामनुभव एव प्रयो-  
जकः ॥ ५४ ॥

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।

पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ ५५ ॥

गौडानां प्रियमनुप्रासं लक्षयति । वर्णावृत्तिरिति । पा-  
देषु च पदेषु चेति चद्वयमुभयप्राधान्यसूचकं, पादगता पद-  
गता वेत्यर्थः । अत्र पादेषु चेति प्रथमोपादानेन बद्धवचनेन  
च श्लोकव्यापिन्या एव वर्णावृत्तैर्वैचित्रजनकत्वमिति प्रथमः  
कल्पः सूचितः, अतएव पतत्प्रकर्षताया दोषत्वनिर्व्वचनं मङ्ग-  
च्छते यथा, कः कः कुत्र मधुर्घुरायितघुरीत्यादि । पदेषु चेति,  
एतदशक्तौ पादगतेषु केषुचित् पदेष्वपि सा निवेशनीयेति  
कल्पान्तरं दर्शितम् । वर्णावृत्तिरिति वर्णपदमत्र व्यञ्जनवर्ण-  
परं, स्वरमात्रस्य सादृश्यन्तु न वैचित्रावर्धिमन्युपेक्षितमभि-  
युक्तैः । वर्णस्य वर्णयोर्वर्णानाम्वा आवृत्तिः पुनरुच्चारणमनु-  
प्रासः पुनरुच्चारणेन सादृश्यप्रतीतिरनुप्रास इत्यर्थः सादृश्य-  
प्रतीतिरेव वैचित्रजनकत्वेनालङ्कारत्वात् । उक्तञ्च - प्रकाश-  
कृता । वर्णमास्यमनुप्रास इति । सादृश्यञ्च विभिन्नयोरेव सम्भ-

वतीति उच्चारणकालभेदेन एकस्यापि वर्णस्य भेदो बोध्यः ।  
 अत्रासक्तोषे वर्णावृत्तिपदस्य वर्णस्य पुनरुच्चारणेन प्रत्यभिज्ञा-  
 प्रत्यय इत्येवार्थो बोध्यः पुनःपुनःश्रवणसमवायजन्यायाः प्रत्य-  
 भिज्ञाया अपि वैचित्रजनकत्वात् । आवृत्तिश्च पूर्वोच्चरित-  
 स्वरसहितस्यैवेति नियमो न वाच्यः स्वरवैषम्येऽपि वैचित्रस्यानु-  
 भविकत्वात्, तदाह विश्वनाथः । अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि  
 स्वरस्य यदिति । निरुक्तं सादृश्यप्रतीतेः प्रत्यभिज्ञाया वानुप्रा-  
 सत्वं स्पष्टयति । पूर्व्वेति । पूर्व्वस्य प्रथमोच्चरितवर्णस्यानुभवः आव-  
 णप्रत्यचस्तज्जनितो यः संस्कारो भावनाख्यस्तस्य बोधिनी उद्घो-  
 धिका अदूरता द्वितीयवर्णस्य सन्निकृष्टकालीनता यदि भवति  
 तदा वर्णावृत्तिरनुप्रास इत्यर्थः । अयमर्थः, संस्कारानुद्घो-  
 सादृश्यप्रतीतेः प्रत्यभिज्ञाया वा असम्भवात् द्वितीयादिवर्णज्ञा-  
 नमात्रस्य च वैचित्र्याजनकत्वात् वैचित्र्यस्यैवास्कारत्वात् द्वि-  
 तीयवर्णज्ञानोद्भूतसंस्कारजन्या सादृश्यप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा वा  
 विषयतया वर्णगता अनुप्रासव्यपदेशहेतुरिति । तादृशसंस्का-  
 रोद्घोधश्च एकद्विचित्रिसदृशवर्णव्यवधानेऽपि सम्भवति बहु-  
 वर्णव्यवधाने तु न सम्भवतीत्यनन्तरं प्रत्युदाहरणेन दर्शयि-  
 श्यते । अयश्चानुप्रासश्चेकवृत्तिगतत्वेन द्विविधः । यदाह  
 प्रकाशकारः । केकवृत्तिगतोद्विधेति । तत्र व्यञ्जनसङ्घस्य स्वरू-  
 पतः क्रमतस्य सकृत्साम्यं केकानुप्रासः । तथा व्यञ्जनसङ्घस्य  
 स्वरूपत एव सकृदसकृदा साम्यं तस्यैव च स्वरूपतः क्रमतस्यास-  
 कृत्साम्यम्, एकस्य व्यञ्जनस्य सकृदसकृच्च साम्यं वृत्त्यनुप्रासः ।

यदाह विश्वनाथः । “केकोव्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधेति ।  
अनेकस्यैकधा साम्यमसकृदाप्यनेकधा । एकस्य सकृदप्येष वृत्त्य-  
नुप्रास उच्यते” इति । शब्दार्थयोः पौनरुक्तरूपोलाटानुप्रा-  
सोऽप्यन्यैरुक्तो वर्णावृत्तिरूप एव । यदाह विश्वनाथः । “शब्दा-  
र्थयोः पौनरुक्तं भेदे तात्पर्यमात्रतः” । लाटानुप्रास इत्युक्त  
इति । यथा, “स्मेरराजीवनयने नयने किं न मीलिते । पश्य  
निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम्” इति ॥ ५५ ॥

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तवकविभ्रमे ।

इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म सन्दधात्यनिनः श्रियम् ॥ ५६ ॥

चारु चान्द्रमसं भीरु विम्बं पश्यैतदम्बरे ।

मन्मनोमन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम् ॥ ५७ ॥

अस्मिदाहरणं दर्शयति । चन्द्र इति । शरन्निशोत्तंसे  
शरन्निशायाः शिरोभूषणायमाने, इन्द्रनीलनिभं श्यामलं,  
लक्ष्म कलङ्कः । अत्र प्रथमे पादे शकारयोः, द्वितीये ककार-  
योर्वकारयोश्च तृतीये च नकारयोर्लकारयोश्चानतिदूरा-  
वृत्तत्वेन साम्यप्रतीतिरिति वृत्त्यनुप्रासः । चतुर्थपादे तु  
द ध त नकाराणां दन्त्यत्वाद्द्वैदर्भप्रियः श्रुत्यनुप्रासः । उभय-  
विधेनानेनापसकृतः शब्दः स्वोपस्थाप्यं शृङ्गारोद्दीपनविभाव-  
भूतं चन्द्रमुपसकृत्य शृङ्गारमुपस्करोतीति शब्दनिष्ठं साधुर्यम् ।  
अत्रैव च रूपकोपमानुप्राणितया निदर्शनया पुरस्कृतस्माद्दृश-  
वाच्यार्थः शृङ्गारं पुष्पातीत्यर्थनिष्ठश्च ॥ ५६ ॥

इत्थं स्वरवैसादृश्येनानुप्रासं दर्शयित्वा स्वरसादृश्येनास्या-  
तीववैचित्र्यं ख्यापयितुमुदाहरणान्तरं दर्शयति । चार्च्चि-  
ति । मानिनीं प्रति कामिन उक्तिरियम् । विम्बं मण्ड-  
लम् । अत्र प्रथमे पादे चाकारयोः रुकारयोश्च साम्यादृत्त्य-  
नुप्रासः, द्वितीये ब्बभयोः सकृत्साम्याच्चेकानुप्रासः, तृतीये च  
मन्ममन्मयोरपि तथात्वाच्चेकानुप्रासः । चतुर्थे तु दकारयो-  
स्तकारयोश्च स्वरवैसादृश्येन साम्यादृत्त्यनुप्रासः । अस्मिन्  
पद्येऽपि शब्दार्थोभयगतं माधुर्यमस्ति अर्थोऽपि चन्द्रविम्बस्य  
विरहिनिर्दयहननोद्यमासम्बन्धेऽपि तत्कल्पनादतिशयोक्त्युपसृ-  
तो विप्रलम्भं पुष्पातीति रसावहः । एवं स्वरसादृश्यवैसा-  
दृश्याभ्यामनुप्रासो भवतीत्युदाहरणद्वयेन सूचितम् ॥ ५७ ॥

इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम् ।

न तु रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति ॥ ५८ ॥

अनुप्रासलक्षणकारिकायामदूरतापदस्य प्रयोजनमन्वय-  
व्यतिरेकाभ्यां दर्शयन्नाह । इत्यनुप्रासमिति । अतिदूरमत्य-  
धिकमन्तरं व्यवधानं यस्यास्तादृशी श्रुतिर्यत्र स तथा तद्वि-  
न्नमित्येवं पूर्वश्लोकद्वयप्रदर्शितप्रकारमनुप्रासमिच्छन्ति गौडा  
इति शेषः । नत्विति । अत्र रामा इति माकारश्रवणस्याति-  
दूरे चन्द्रमा इति माकारस्य श्रुतिरिति पूर्ववर्णसंस्कारोद्घो-  
धाभावात् इत्येवंविधस्थले न तु न पुनरनुप्रासमिच्छन्ती-  
त्यन्वयः । अत्र स्वरसादृश्यघटितस्यैवानुप्रासस्याभावः न तु

स्वरवैसादृश्यघटितस्य, विभिन्नस्वरयोः पूर्वपादे मकारयोश्च-  
त्तरपादे दकारयोश्चानतिदूरस्थयोः सत्त्वेन वृत्त्यनुप्रासस्यान-  
पलपनीयत्वादिति ध्येयम् ॥ ५८ ॥

स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपश्च नः कृशः ।

च्युतोमानोऽधिकोरागो मोहोजातोऽसवोगताः ॥ ५९ ॥

सानुप्रासा रसावहेत्युक्तं । यत्रानुप्रासः सन्तमपि रसं दोष-  
सद्भावान्नापकरोति न तत्र माधुर्यमिति दर्शयति । स्मर  
इति । नायकोपेक्षया गलितमानाया नायिकायाः पश्चात्ता-  
पवर्णनमिदं । खर उग्रशासनः । खलः प्रणयभङ्गात् क्रूरः ।  
कोप ईर्ष्यामानः, मानः सखीषु मान्यता, च्युत इति तासां  
वचनाकरणादितिभावः, असवः प्राणा गता गतप्रायाः । अत्र  
पूर्वाद्धे रकारयोः खकारयोः ककाराणाञ्च साम्याद्वृत्त्यनुप्रासः ।  
उत्तराद्धे च तकारादीनां दन्त्यानां तथात्वाच्चुत्त्यनुप्रासः ।  
एवं द्विविधोऽप्यनुप्रासादोषसभीचीनः सुपरिच्छदः कश्चिन्मिव  
विप्रलम्भगृह्णारं नापकुरुते ॥ ५९ ॥

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यञ्च नियच्छति ।

अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥ ६० ॥

अत्र दोषं तावद्दर्शयति । इत्यादीति । आदिशब्दः प्रकार-  
वचनः, इत्यादि एवंप्रकारकमनुप्रासवद्वाक्यं बन्धस्य पारुष्यं  
शैथिल्यञ्च नियच्छति बोधयति, तत्र पूर्वाद्धे पारुष्यमुत्त-  
राद्धे शैथिल्यं तस्मान्नात्र माधुर्यमिति भावः । तत्र पारुष्यं

श्रुतिकटुत्वं तच्च बद्धविसर्गश्रुतिजनितम् । उक्तञ्च । अनुस्वार-  
विसर्गा तु पारुष्याय निरन्तराविति । शैथिल्यमाहतविसर्ग-  
तया बन्धस्यागाढत्वम्, आहतविसर्गता च श्रोत्रप्राप्तविसर्गता  
एषाञ्चामकृतप्रयोग एव दोषः । अत इत्यादि । एवं दोष-  
समानाधिकरणं, दक्षिणात्या वैदर्भाः, वस्तुतस्तु दोषाणां  
रसपरिपन्थितया गौडानामपि परिहरणीयत्वाद्यन्यकृता  
वैदर्भपक्षपातितया दक्षिणात्या इत्युक्तं, यत्र तु वक्त्राद्यौ-  
चित्यवशात् पारुष्यस्य रसानुकूलता, तत्र शानुप्राप्ते माधुर्य-  
सङ्गावोऽव्याहत एव । यदाह । “वक्त्रि क्रोधसंयुक्ते तथा  
वाचे समुद्धते । रौद्रादौ तु रमेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणोभवेत्”  
इति । प्रकृते चैतच्चयं नास्तीति दोष एव ॥ ६० ॥

आवृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुः ।

तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥ ६१ ॥

ननु, वर्णावृत्तेरभावहत्वस्वीकारे तथाभूतं यमकमप्यत्रैव  
निरूपणीयं स्यादित्यत्राह । आवृत्तिमिति । वर्णसङ्घातः पू-  
र्व्वोत्तरितवर्णसमुदायो गोचरो विषयो यस्यास्तादृशीमावृत्तिं  
पुनरुच्चारणं यमकं विदुरालङ्कारिका जानन्ति । अत्र वर्णस-  
ङ्घातपदं स्वरव्यञ्जनसमुदायपरम्, अनुप्रासवत् स्वरवैसादृश्ये  
यमकत्वाभावात् । यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च  
सखि सादरं वच इत्यादावेकार्थपदस्यावृत्तौ यमकत्वं नास्तीति  
विभिन्नार्थकेति वर्णसङ्घातविशेषणं देयं, तथात्वे च सार्थकयो-

रेव यमकत्वप्राप्तौ ससुरभिं सुरभिं सुमनोभरैरित्यादौ रभिं  
 सुरभिंस्वित्यादौ निरर्थकयोरपि यमकत्वदर्शनादर्थसद्भाव  
 एव विभिन्नार्थकत्वविशेषणं ज्ञेयम्, आवृत्तिश्च विभिन्नक्रमे  
 रसः सर इत्यादौ यमकत्वाभावात् पूर्वक्रमवती बोध्या,  
 सर्वञ्चैतत् स्पष्टीकृतं विश्वनाथेन, यथा, “सत्यर्थे पृथगर्थायाः  
 स्वरव्यञ्जनसंहतेः । क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं ‘विनिगद्यत’  
 इति । एवमेव यमकानुप्रासयोर्विवेको ज्ञातव्यः । तत्त्विति ।  
 तत् निरुक्तयमकवद्वाक्यन्तु नैकान्तमधुरं नातिशयेन माधुर्य-  
 गुणवत् अर्थानुसन्धानव्यगतया रसप्रतीतेर्यवहितत्वेन तदुप-  
 स्कारकत्वाभावादिति भावः, अनुप्रासस्तु अर्थानुसन्धानमन्त-  
 रेणैव श्रुतिमात्रेण शब्दमलङ्कुर्वन् रसं पुष्पातीति तत्र मा-  
 धुर्यसद्भावः, निरर्थकयमकेऽप्यर्थसद्भावसन्देहेनैव भवति विल-  
 म्बोरसाभिव्यक्तेरिति नास्ति माधुर्यम् । ननु यमकस्य रसानुप-  
 कारत्वे कथमलङ्कारत्वं शब्दार्थाऽन्यतरशोभाजननद्वारा रसो-  
 पकारकधर्माणामेवालङ्कारत्वादित्यत उक्तमेकाङ्गात्, यमक-  
 वति माधुर्यं वर्त्तत एव परन्तु अनुप्रासमन्त्रात्यन्तमिति ।  
 पश्चादिति अलङ्कारनिरूपणप्रस्तावे इत्यर्थः, विधास्यते प्रपञ्च-  
 यिष्यते । वर्णेत्यत्र एवेति पाठा न रुचिरः ॥ ६१ ॥

कामं सर्व्याऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निपिञ्चति ।

तथाप्यग्रास्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥ ६२ ॥

एवं शब्दगतं माधुर्यं दर्शयित्वा वस्तुन्यपि रसस्थिति-



रित्यनेन सूचितमर्थगतमाधुर्यं दर्शयति । काममिति ।  
 सर्वोऽपि, अपिशब्देन यथाकथञ्चिदर्थसम्बन्धवतां पुनरुक्त-  
 वदाभासशब्दश्लेषादीनां परिग्रहः, अलङ्कार उपमाद्यर्थाल-  
 ङ्कारः, कामं पर्याप्तं यथा तथा अर्थेषु वाच्यलक्ष्यव्यङ्गात्मक-  
 शब्दप्रतिपाद्यविभावादिवस्तुषु रसं निषिञ्चति निवेशयति  
 उत्कर्षकतया स्वाश्रयार्थगतां रसव्यञ्जकतामुत्तेजयतीत्यर्थः ।  
 इत्यञ्च सालङ्कारतया रसव्यञ्जकोऽर्थो मधुर इति प्रतिपादि-  
 तम् । एवं द्विविधमाधुर्यानुभवं प्रति दोषमात्रस्यैव प्रतिबन्ध-  
 कत्वेऽपि ग्राम्यतादोषस्य विशेषेण प्रतिबन्धकत्वं दर्शयन्नाह ।  
 तथापीति, तथापि रसोत्कर्षकस्यालङ्कारस्य सद्भावेऽपि, या-  
 मीणहालिकादिजनव्यवहृतः शब्दोऽर्थश्च ग्राम्यः तद्विपरीतो  
 विदग्धजनव्यवहृतोऽग्राम्यस्तत्तैव भृयसा बाहुल्येन एनं रस-  
 निषेकरूपं भारं वहति अग्राम्यताममानाधिकरणा एवाल-  
 ङ्कारा रसं निषिञ्चन्तीत्यर्थः, एतच्च अनस्मीलतादीनामुपल-  
 चकं ग्राम्यतावदस्मीलतादीनामपि रसप्रतिबन्धकत्वात् । या-  
 म्यताया रसप्रतिबन्धकत्वञ्च विदग्धवाक्येष्वेव, अधमवाक्येषु तु  
 तस्य गुणत्वमेव, उक्तञ्च गुण इत्यनुवृत्तौ, ग्राम्यत्वमधमोक्तिश्चिति  
 भृयसेत्यनेन अस्यैव बाहुल्येनोपयोगोऽलङ्काराणान्तु यथा  
 कथञ्चिदिति सूचितं, निरलङ्कारयोरपि विशुद्धशब्दार्थयोः  
 स्वत एव रसव्यञ्जकतासम्भवात् ॥ ६२ ॥

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।

इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ॥ ६३ ॥

अत्र प्रथममर्थस्याग्राम्यत्वज्ञानाय तद्गतं ग्राम्यत्वं दर्शयति ।  
 कन्ये इति । अत्र विदग्धोक्ता, अविदग्धस्योक्तौ ग्राम्यताया  
 गुणत्वेनेष्टत्वादित्युक्तं, कन्ये इति सम्बोधनं हि पुत्रीस्थानीयानामेव  
 युज्यते नायिकानान्तु सुन्दर्यादिपदेन, तदत्र वैरस्यादयादर्थस्य  
 ग्राम्यत्वं, नचात्र शब्दस्यापि तथा, विदग्धानामपि कुत्रचित्  
 कन्यापदप्रयोगसम्भवात् यथा, “कन्येयं कलधौतकोमलरुचिः  
 कीर्त्तिश्च नातः परा” इत्यादि । ग्रामिकजनमात्रप्रयोज्यकन्या-  
 दिशब्दानामेव हि प्राचीनैर्ग्राम्यत्वमुक्तं । कामयमानमिति ।  
 सुरताभिलाषरूपः कामो हि गूढ एव भङ्गा सूच्यमानः  
 कामिनीकुचकलशवच्चमत्कारमावहति स्पृशब्देनाभिधीयमा-  
 नस्तु सामाजिकानां सञ्जामाविर्भावयन् रसास्वादवैमुख्यं जन-  
 यतीति ग्राम्य एव । अत्र नायिकाकामं प्रति नायककाम-  
 प्रकाशस्य हेतुत्वात् सति च तादृशे हेतौ तादृशकार्यानुदया-  
 दिशेषोक्तिरलङ्कारः, तद्युक्तोऽप्यनुप्रासवदाक्याऽर्थो ग्राम्यतया  
 निकृष्टीकृतः सन्तमपि शृङ्गारं नोपकुर्वत इति भाधुर्याभावः,  
 एतदेव दर्शयति । इतीति । इत्येवमयं ग्राम्यो ग्राम्यतास्यदोष-  
 वान् अर्थस्यात्मा स्वरूपं वैरस्याय रमानुभवप्रतिबन्धाय प्रक-  
 ल्यते भवति, तस्मान्नात्र माधुर्यसङ्गाव इति शेषः ॥ ६३ ॥

कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्हयः ।

त्वयि निर्मत्सरोदिष्टेत्यग्राम्योऽर्थारसावहः ॥ ६४ ॥

इत्थं ग्राम्यं दर्शयित्वा तद्विपरीतमग्राम्यमर्थं दर्शयति ।

काममिति । अत्र वामे मनोश्चे वक्त्रे वा अक्षिणी यस्या इति  
 व्युत्पत्तिलभ्यो वामाक्षीति सम्बुद्धिपदार्था विदग्धजनोचितः ना-  
 यिकासौन्दर्यप्रकाशकतया चाटुकारस्याभिप्रेतमप्यादनसाम-  
 र्थादित्यग्राम्य एव । एवं कन्दर्पचाण्डालो मयि निर्दयस्त्वयि  
 तु निर्मात्सर इति वाक्याभ्यां त्वयि कामपराधीनोऽस्मि त्वन्तु  
 मां नेच्छसीति पूर्वश्लोकोक्त एवार्था भङ्गा सूचित इत्यग्राम्य  
 एव गूढतया सूच्यमानस्य चमत्कारजनकत्वेन वक्तृवैदग्ध्य-  
 व्यञ्जकतया सहृदयहृदयहारित्वात्, तस्मादेवंविधोऽग्राम्योऽ-  
 र्थारसावहः रसव्यञ्जकतया माधुर्यगुणवान् ॥ ६४ ॥

शब्देऽपि ग्राम्यतास्त्येव सा सभ्येतरकीर्तनात् ।

यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे ॥ ६५ ॥

अर्थगतमाधुर्यस्य प्रतिबन्धकं तद्गतग्राम्यत्वं दर्शयित्वा त-  
 थाविधं शब्दगतमप्याह । शब्देऽपीति । सा शब्दगता ग्राम्यता,  
 सभायामुच्चारणयोग्यत्वेन साधु सभ्यं तस्मादितरदसभ्यं ग्रामि-  
 कहालिकादिमात्रप्रयुज्यमानमित्यर्थः तस्य कीर्तनात् प्रयो-  
 गाद्भवति । यथेति । रत्युत्सवस्य निरूपणे बोधने । यकारा-  
 दिपदमिति । यकार आदौ यस्य तादृशं पदं यभमैथुन इति  
 यभधातुनिष्पन्नं पदनित्यर्थः । तादृशपदानां हि काव्ये  
 प्रयोगः प्रयोक्तुर्यामिकतथोपहसनीयत्वमुद्गावयन् श्रोतृणाञ्च  
 लज्जामुज्जागरयन् रसास्वादमन्तरयतीति न तत्र माधुर्य-  
 सद्भावः । निधुवनादिपदानान्तु विदग्धैरपि प्रयुज्यमानत्वान्न

ग्राम्यत्वम् । अतएव माघे, “अनिमिषमविरामा रागिणां स-  
र्वरात्रं नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनाभिवीक्ष्य” इत्यादौ  
निधुवनपदप्रयोगः ॥ ६५ ॥

पदसन्धानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः ।

दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया ॥ ६६ ॥

खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति ।

एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥ ६७ ॥

अन्यैरुक्तस्याश्लेषत्वदोषस्यापि माधुर्यप्रतिबन्धकत्वात् स्व-  
मते तस्यापि ग्राम्यपदेन ग्रहणमित्याह । पदसन्धानेति । प-  
दानां सन्धानं साकाङ्क्षतया विन्यासो यत्रेति पदसन्धानं  
वाक्यं, पदसङ्घातेति पाठे तु उक्तोऽर्थः स्फुट एव, तद्वृत्त्या वा,  
तथा वाक्यार्थत्वेन वाक्यार्थगतत्वेन वा, दुर्निन्दिता ब्रीडा  
जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जिका प्रतीतिर्दुष्प्रतीतिः तत्करं, वाक्यं वा-  
क्यार्थस्य वा तादृशदुष्प्रतीतिकरत्वरूपमश्लेषत्वमित्यर्थः । तद-  
पि ग्राम्यं ग्राम्यपदोपलक्षितत्वेन माधुर्ये परित्याज्यमित्यर्थः ।  
तत्र वाक्यगतं ब्रीडाव्यञ्जकत्वरूपमश्लेषत्वमुदाहरति । यथे-  
ति । या भवतस्तत्र प्रिया प्रणयिनीति प्रकृतार्थबोधानन्तरं  
याभवतः, याभो मैथुनं, यभमैथुन इत्यस्य घणि रूपं, तद्वि-  
शिष्टस्य प्रिया मैथुनसाधनत्वेन प्रणयिनीत्यसभ्यार्थव्यञ्जनेन सा-  
माजिकानां ब्रीडात्पादनादाक्यमिदमश्लेषमिति नात्र माधु-  
र्यसम्भवः । अश्लेषत्वस्य च पदपदांशपदार्थगतत्वसम्भवेऽपि

व्यापकत्वाभावेन न तत्रात्यन्तवैरस्यमिति तदगणयित्वैव वाक्य-  
वाक्यार्थमात्रगतास्त्रीलत्वस्य ग्राम्यत्वमुक्तं ग्रन्थकृतेति ज्ञेयम् ।  
नच यथा यकारादिपदमित्यनेन यभधातुनिष्पन्नपदप्रयोगे  
मुख्यग्राम्यत्वमुक्तं, या भवतः प्रियेत्यत्र च तदेव भवितुमर्हति  
तत्कथमस्त्रीलत्वरूपातिदिष्टग्राम्यत्वस्योदाहरणत्वेनेदमुपन्यस्तमि-  
ति वाच्यम् अभिधया वृत्त्या असभ्यार्थोपस्थापकशब्दस्यैव मुख्य-  
ग्राम्यत्वेन या भवत इत्यादौ तदभावात् व्यञ्जनयैवात्रासभ्यार्थ-  
द्योतनात्, समानेऽपि ग्राम्यत्वास्त्रीलत्वयोरसभ्यार्थप्रकाशकत्व-  
रूपस्वरूपे वृत्तिभेदकृतोपस्थापकत्वभेदेन भेदाङ्गीकारादित्य-  
वधेयम् ॥ ६६ ॥

वाक्यार्थगतास्त्रीलत्वरूपग्राम्यत्वमुदाहरति । खरमित्यादि ।  
वीर्यवान् प्रशस्तबलशाली पुरुषः कश्चिद्दीरः खरमुद्भटं प्रहृत्य  
रिपूनाहत्य विश्रान्तः विश्रामं लेभे इति प्राकरणिकार्थः  
शाब्दबोधविषयीभवन् वक्त्रादिवैलक्षण्यप्रतीतिसधीचीनयार्था  
व्यञ्जनया वीर्यवान् शुक्रवान् पुरुषः कश्चिद्युवा खरं प्रहृत्य  
सुरतप्रहोरं कृत्वा विश्रान्त इत्यसभ्यार्थद्योतकतया व्रीडा-  
व्यञ्जक इत्यस्त्रीलः । नचात्र वाक्यगतमस्त्रीलत्वम् एकार्थमात्र-  
सङ्केतितानां खरमित्यादिवाक्यघटकपदानां शाब्द्या व्यञ्जना-  
या अनाश्रयत्वेनासभ्यार्थोपस्थापकत्वाभावात् वाक्यार्थस्यैव च  
वक्त्रादिवैशिष्ट्यसचिवयार्था व्यञ्जनया द्वितीयार्थोपस्थापनात्  
पदानां परिवृत्तिसहत्वेन च दोषस्य तद्गतत्वासम्भवात् ध्वनि-  
गुणोभूतव्यञ्जदोषगुणालङ्काराणां हि शब्दार्थगतत्वव्यवस्थायां

तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमेव हेतुरिति प्राचां सिद्धान्तः,  
 यत्र हि शाब्द्या व्यञ्जनयाऽसभ्यार्थबोधस्तत्रैव शब्दगतमस्त्रीलत्वं  
 शाब्दी च व्यञ्जनानेकार्थशब्दनिष्ठा, यदुक्तं प्रकाशकता । “अने-  
 कार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधी-  
 कृद्वापृतिरञ्जनम्” इति । नचात्र वीर्यपदं बलशुक्रयोर्वाचक-  
 तया नानार्थं, बलस्य शुक्रमात्रजन्यत्वेनैकत्वाङ्गीकारात् वी-  
 र्यपदपरिवृत्तावप्यस्त्रीलत्वस्यानपायेनार्थगतत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वा-  
 त् । एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनीत्यत्र प्रायः  
 पदस्य प्रयोजनं दर्शयति । एवमादीति । एवमादि निरुक्त-  
 ग्राम्यतादोषवत्प्रभृति, आदिना अनुचितार्थत्वविरुद्धमतिकारि-  
 रित्वादिदोषवतां ग्रहणम्, उभयोरपि गौडवैदर्भयोः, न  
 शंसन्ति नाद्रियन्ते । एतेनानुप्रासकृतवैलक्ष्ण्येऽपि ग्राम्यता-  
 परिहारे ढयोः समानतेति सूचितम् ॥ ६७ ॥

भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते ।

विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता ॥ ६८ ॥

असभ्यार्थप्रतिपादकस्यापि सर्वजनव्यवहृतस्यादुष्टत्वं प्रति-  
 प्रसूते । भगिनीति । आदिना योनिलिङ्गादीनां ग्रहणम् ।  
 सर्वत्र व्यवहारेषु काव्येषु च, अनुमन्यते सर्वैरदुष्टतया स्वी-  
 क्रियते, सर्वजनपरिगृहीतस्य हि प्रयोगे दोषानुसन्धानायोगात्  
 श्रावजनवैमुख्यसम्भव इत्यदोषः । यदुक्तं । ‘सम्नीतस्य हि लोके  
 ऽस्मिन्न दोषान्वेषणं क्षमम् । शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्व-

भावनमिति । सम्बोधितस्यादुष्टतयाङ्गीकृतस्य । एतदुपलक्षणं गुप्त-  
लक्षितयोरप्यदुष्टत्वं ज्ञेयं । यदुक्तं । ग्राम्यं घृणावदश्लोत्साम-  
ङ्गलार्थं यदीरितम् । तत्सम्बोधितेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्य-  
तीति । गुप्तानि असम्बोधितेषु प्रसिद्धानि यथा, सम्बाधपदं  
सङ्कटार्थं प्रसिद्धं स्त्रीचिह्नार्थं त्वप्रसिद्धमिति । लक्षितानि  
लक्षणयाऽसम्बोधितवोधकानि, यथा जन्मभूमिपदं लक्षणया  
स्त्रीचिह्नवोधकमिति । किञ्च सुरतारम्भगोष्ठ्यां शान्तबीभ-  
त्सरसादौ च व्यङ्ग्ये अश्लीलत्वं न दोषः प्रत्युत गुण एव ।  
क्रमेण यथा, “करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलाडिते ।  
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजत” इति । अत्र  
करिहस्तादिशब्दा असम्बोधिताः, इयं हि सुरतप्रसङ्गसम्बाधायां  
कस्यचित् कामिन उक्तिः । “उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटि-  
तोदरसन्निभे । क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरक्तिमेः कस्य जा-  
यत” इति अत्र शान्तारसः । उत्कृष्टोत्कृत्य कृत्तिं प्रथ-  
ममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसान्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयव-  
सुलभान्यग्रपूतीनि जग्ध्वा । अन्तःपर्यस्तनेत्रः प्रकटितद-  
शनः प्रेतरङ्गः करङ्गादङ्गस्यादस्यिसस्यं स्यपुटगतमपि क्रय-  
मव्यग्रमत्ति । अत्र बीभत्सो रसः । माधुर्यमुपसंहरति ।  
विभक्तमितीति । विभक्तं रसघटितत्वादिशेषेण दर्शितम्,  
अनुप्रासकृतवैलक्षण्यञ्च वैदर्भगौडयोर्विभक्ततया दर्शितमिति  
वा । क्रमप्राप्तं सौकुमार्यं निरूपयति । उच्यते इति ॥

अनिष्टुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।

बन्धशैथिल्यदोषस्तु दर्शितः सर्वकोमले ॥ ६८ ॥

अनिष्टुरेति । निष्टुराणि श्रुतिकटूनि तद्विपरीतानि कोमलान्यक्षराणि तेषां प्रायोबाहुल्यं नतु सामस्यं यत्र तादृशं वाक्यं सुकुमारं सौकुमार्यगुणवत् । एतदेवाक्तं क्रमदीश्वरेण । कोमलाक्षरबाहुल्यं वदन्ति सुकुमारतामिति । प्रायपदप्रयोजनं दर्शयति । बन्धशैथिल्येति । सर्वकोमले सर्वकोमलाक्षरात्मके वाक्ये तु बन्धस्य शैथिल्यरूपोदोषोदर्शितः मयैव, मालतीमाला लोलालिकलिला यथेत्यत्र प्रकाशितः । दोषस्त्वित्यत्र दोषोहीति पाठे हिपदं प्रायपदप्रयोगं प्रत्युत्तरार्द्धवाक्यस्य हेतुत्वं बोधयति, तस्मात् कोमलाक्षराणां बहूनामन्तरान्तरा परुषाक्षरविन्यामेन मौक्तिकहारस्यान्तरान्तरा माणिक्यनिवेशेनेव बन्धस्य चारुत्वं सौकुमार्यमित्यर्थः । नचैवं श्लेषसौकुमार्ययोरभेदः लक्षणस्यैक्यादिति वाच्यं श्लेषस्याऽन्यप्राणमहाप्राणाक्षरघटितत्वेन सौकुमार्यस्य च कोमलाकोमलवर्णघटितत्वेन द्वयोर्विभिन्नत्वात् नचान्यप्राणत्वमेव कोमलत्वं महाप्राणत्वमेव च परुषत्वम् अन्यप्राणस्याऽपि वर्णविशेषसंयोगेन परुषत्वमम्भवात्, यथा, “चर्कत्तिं विरहात्त्यां मा त्वत्कीर्त्तिंश्रुतिमङ्गना” इति, अत्र ककारतकारावन्यप्राणावपि रकारसम्बन्धेन पारुष्यं भजतः, एवं महाप्राणोऽपि विन्यामविशेषेण कोमलत्वं भजति । यथा, “मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुममृद्धिसमेधितमेधया । मधुकराङ्गनया मुङ्गरुन्म-



दध्वनिभृता निभृताचरमुज्जगे” इति । अत्र धकारा महा-  
प्राणा अपि विन्यासमहिम्ना मधुरतां प्राप्नुवन्ति । इयञ्च  
सुकुमारता शब्दगुणः, अर्थगुणभृता तु अर्थस्यापारुष्यरूपा ।  
पारुष्यञ्चार्थस्यामङ्गलव्यञ्जकत्वरूपाश्लीलत्वम्, अतएव नवीनाः  
श्रुतिकटुत्वस्याश्लीलत्वस्य च दोषत्वाभिधानेन परित्याज्यत्वात्  
फलबलादेव तद्विपरीतस्य सौकुमार्यस्य प्राप्तौ तस्य गुणत्व-  
कीर्त्तनं प्राचामनुचितमिति वदन्ति ॥ ६६ ॥

मण्डलीकृत्य वर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।

कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥ ७० ॥

उदाहरति । मण्डलीकृत्येति । मधुरा गीतिर्गीतिसदृश-  
केकारवा यत्र तादृशैः कण्ठैर्गलैः, मधुरगीतिरूपैः कण्ठैः  
कण्ठस्वरैरिति वा, उपलक्षणे तृतीया । जीमूतमालिनि  
काले प्रावृषि, अन्येऽपि नर्त्तका मधुरं गायन्तो नृत्यन्तीति  
कलापिषु नर्त्तकव्यवहारप्रतीतेः समामोक्तिरलङ्कारः । अत्र  
मकारादीनां कोमलानामन्तरान्तरा टवर्गीययुक्तयुक्तान्तरूप  
परुषवर्णनिवेशेन बन्धोऽयं कामपि चारुतामावहति ॥ ७० ॥

इत्यनूर्जित एवार्था नालङ्कारोऽपि तादृशः ।

सुकुमारतयवैतदारोहति सतां मनः ॥ ७१ ॥

ननु वर्णविशेषविन्यासात्मकस्य सौकुमार्यस्य न गुणत्वमुचि-  
तम्, अर्थालङ्कारकतवैचित्र्यमन्तरेण स्वतश्चमत्कारजनकत्वा-  
भावादिति नवीनानां मतं दूषयन्नाह । इत्यनूर्जित एवार्थ

इति । इत्यस्मिन् मण्डलीकृत्येत्यादिपद्ये, अर्थः कलापिनृत्य-  
रूपः अनूर्जित एव रससम्पर्काभावाच्चमत्काराव्यञ्जक एव,  
तथा अलङ्कारः समामोक्त्यनुप्राणितः स्वभावोक्तिरूपः, नापि  
तादृशः न चमत्कारजनकः । तथाप्येतत्पद्यं सुकुमारतयैव  
मौकुमार्यगुणसम्बन्धमात्रेणैव सतां सामाजिकानां मन आरो-  
हति चमत्कारमुग्धं करोति । एतच्च गुणकृतवैचित्र्यमनङ्गी-  
कुर्वतां मुखमुद्रणायोक्तं वस्तुतस्तु शब्दार्थालङ्कारकृतवैचि-  
त्राणां विभिन्नत्वात् सत्यप्यर्थालङ्कारयोरौर्जित्ये तदनुसन्धा-  
नात् प्रागेव गुणकृतवैचित्रं सामाजिकानामनुभवपथमवतरति,  
अत एवोक्तं, “तथा कवितया किम्वा तथा वनितया च किम् ।  
पदविन्यासमात्रेण प्रया नापहृतं मनः” इति । यत्र च गुण-  
वैचित्रं नास्ति तत्र सद्यर्थालङ्कारवैचित्रं न काव्यशोभां  
पुष्पाति । यदाह भोजराजः । “अलङ्कृतमपि अयं न काव्यं  
गुणवर्जितम्” इति । अपरे च । यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्या-  
वपुरिव यौवनबन्धमङ्गनायाः । अपि जनदयितान् दुर्भगत्वं  
नियतमलङ्करणानि संश्रयन्त इति । एतदर्थमेव ग्रन्थकृता,  
प्राणा दशगुणाः सूता इत्यनेन गुणानां प्राणत्वमुक्तम् ॥ ७२ ॥

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि वध्यते ।

न्यक्षेण क्षयितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति ॥ ७२ ॥

मौकुमार्ये गौडवैदर्भयोर्विपर्ययं दर्शयन्नाह । दीप्तमित्य-  
परैरिति । दीप्तिरात्मविक्षृतिः उत्साहादिसमुद्बोधेन चित्तस्य

दोर्घप्रायत्वमित्यर्थः जनकतया तद्विशिष्टं दीप्तं वीररौद्रबो-  
भत्सरसादिरूपमोजस्वि व्यङ्गमित्यर्थः, तदत्र वर्तत इति  
कृत्वा भूम्नातिशयेन कृच्छ्रोद्यमपि आजस्विव्यङ्ग्यञ्जनानुकू-  
लतया परुषवर्णघटितत्वात् कष्टेनोच्चार्यमपि बध्यते विन्य-  
स्यते इत्यन्वयः । अयमर्थः गौडाहि, यत्र, वीररसादिरूप-  
मोजस्विव्यङ्गं तत्र परुषवर्णस्तद्वाञ्जनस्यावश्यकतया सौकुमार्यं  
नाद्रियन्ते, वैदर्भास्तु तत्रापि सौकुमार्यं प्रवेशयन्ति । यथा,  
कृतमनुमतं दृष्टं वा चैरिदं गुरुपातकं मनुजपशुभिर्निर्मर्या-  
दैर्भवद्भिर्दुदायुधैः । नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरोटि-  
नामयमहमसृञ्जेदोमांसैः करोमि दिशां वलिमिति । अत्र  
रौद्रेऽपि रसे नात्यन्तमुद्धतावर्णाः । गौडानां सौकुमार्य-  
वर्जनमुदाहरति । न्यचेणेति । न्यञ्चन्ति विप्रवधादिरूपनीच-  
कर्म कुर्वन्तीति न्यञ्चः कार्तवोर्यास्तान् स्यति नाशयतीति  
न्यचः परशुरामः । अग्न्यादेः सुदादाविति षत्वं । अत्र रौद्रो  
रसः, अतश्च सुकुमारबन्धत्याग उचित इति गौडा मन्यन्ते ।  
न्यचेणान्धेन धृतराष्ट्रेणेति केचित्, तन्न रुचिरं धृतराष्ट्रदुर्म-  
न्वितेन क्षत्रियक्षयात् करुणरससम्भवेन तत्र गौडानामपि  
• बन्धपारुष्यानैचित्यात् ॥ ७२ ॥

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य, हरिणोद्धृता ।

भूः खुरक्षुणागासृग्लोहितादुद्धेरिति ॥ ७३ ॥

अर्थव्यक्तिं निरूपयति । अर्थव्यक्तिरिति । अर्थस्यानेय-  
त्वमकल्पनीयत्वम् उपात्तशब्दादेवोपस्थितिरित्यर्थः, यावन्तो-

ऽर्था अन्वयोपयोगितया अपेक्ष्यन्ते तद्दोषकतया तावतां पदानामुपादानमिति निर्गलितोऽर्थः । अतएव क्रमदीश्वरः, यावद्वाच्याभिधानं यत्तदर्थव्यक्तिलक्षणमिति । इयञ्चार्थव्यक्तिः शब्दगुणः, अर्थगुणभूता तु वस्तुस्वभावस्फुटीकरणरूपा, अतएव तस्याः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण परिग्रह इति नव्याः, यदाङ्गः, अर्थव्यक्तिः स्वभावेत्कालङ्कारेण तथा पुनरिति । पदानां झटित्यर्थोपस्थापकत्वं शब्दगतार्थव्यक्तिरित्यन्ये, यदाङ्गः, अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणमिति । उदाहरति । हरिणेत्यादि । हरिणा वराहरूपिणा, अत्राप्रसिद्धस्यादधिलोहित्यस्य वर्णने कश्चिद्धेतुरवग्रमपेक्ष्यते स च हेतुभूतोऽर्थः सुरेत्याद्युपात्तशब्देनैव प्रत्याख्यते न तु कथञ्चित् कल्प्यत इत्यर्थस्य पदेनैव व्यञ्जनादर्थव्यक्तिः । यत्र प्रसिद्धिरस्ति तत्र हेतुर्नापेक्ष्यते, यथा, “सम्प्रति मन्ध्यासमयश्चक्रदन्धानि विघटयति” इति, अत्र मन्ध्यायां चक्रवाकमिथुनविघटनस्य प्रसिद्ध्या न हेत्वाकाङ्क्षा, अतएव न तत्र निर्हेतुताया दोषत्वं, यत्र, निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छतीति । भोजराजेनापि, अध्याचारादिगमार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम् । स गम्यते प्रसिद्धयेन तद्दोषतयेष्यत इति ॥ ७३ ॥

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।

इतोयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृजः ॥ ७४ ॥

अनेयत्वमर्थव्यक्तिरित्युक्तं नेयत्वन्तु कीदृगितिदर्शनार्थं प्रत्युदाहरति । महीति । इयति एतावन्मात्रे खुरन्तुष्वनागा-

सृगित्यंशं परित्यज्य लोहितादिति विशेषणमात्रे इत्यर्थः,  
निर्दिष्टे उक्ते सति उरगासृजोनेयत्वमध्याहारादिना कल्प-  
नीयत्वम् । उदधिगतलौहित्यस्यैवाधिकत्वाद्दुपाधिपदप्रयोग-  
मन्तरेण तस्यासङ्गतत्वप्रतीतेरवश्यमेव कथञ्चिदुपाधिरध्याह-  
रणीय इति नास्त्यत्रार्थव्यक्तिः । यत्र तन्वयबोधात् प्राग्वा-  
धादिज्ञानेन लक्षणयार्थान्तरोपस्थितिस्तत्राप्यर्थव्यक्तिः सम्भव-  
त्येव, शक्येव लक्षणयाप्युपस्थाप्यार्थस्यान्वयबोधविषयतायामत्रै-  
वल्लक्षणात् । अन्वयबोधानन्तरमनुपपत्त्युदयेन कल्पनीयार्थस्यैव  
नेयत्वात् । परन्तु यत्र रूढिप्रयोजनाभावेऽपि लक्षणाभ्युपगमः  
प्रयोक्तुरमामर्थं द्योतयति तत्रार्थस्य नेयत्वमिति नार्थव्यक्तिः,  
अतएव तथाविधलाक्षणिकपदस्य नेयार्थत्वाख्यदोषदुष्टत्वम-  
भियुक्तैरुक्तं, तथाच नेयार्थत्वव्याकारे प्रकाशकारः । निरूढा-  
लक्षणाः काश्चित् मामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं का-  
श्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्ति इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकमिति ॥  
॥ ७४ ॥

नेदृशं वज्र मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि ।

न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥ ७५ ॥

अर्थव्यक्तौ पूर्वाक्तप्रायःपदप्रतिपाद्यं गौडवैदर्भयोः साम्यं  
दर्शयति । नेदृशमिति । नेदृशं नेयार्थकवाक्यम्, उभयोरपि  
मार्गयोगौडवैदर्भयोः । न वज्र मन्यन्त इति अत्र हेतुमाह  
नहीति । शब्दन्यायः शब्दजन्यान्यबोधे नियमः वृत्त्युपस्था-

स्याप्यानामेवार्थानामन्वयबोध इत्येवंरूपः तं विसृज्यत्यतिक्रामतीति तादृशी, अध्याहाराद्युपस्थितार्थविषयेत्यर्थः, प्रतीतिरन्वयबोधः, न हि सुभगा समीचीना, अर्थापत्त्याद्युपस्थापितार्थप्रतीतेस्तु न शाब्दबोधत्वं तदुत्तरमेव तस्याः सद्भावात् एवं तात्पर्यपर्यालोचनयार्थान्तरप्रतीतिरपि शाब्दबोधोत्तरकालीनैव, यत्र तु द्वारं द्वारमित्यादौ त्वरादिना पिधेहीत्यादिमाकाङ्क्षपदान्तरानुपादानेन शाब्दबोधासम्भवात्तदर्थं श्रुतार्थापत्त्या तादृशपदाध्याहारः तत्राध्याहृतपदेऽपि शक्तिग्रहाभ्युपगमेन तदर्थस्य वृत्त्युपस्थाप्यत्वान्न तन्नियमान्तरक्रमः । एतच्च विशिष्टशक्तिवादमभिप्रेत्योक्तम्, उपाधिशक्तिवादिभिस्तु आक्षेपगम्याया अपि व्यक्तेः शाब्दबोधाभ्युपगमान्निरुक्तनियमानाङ्गीक्रियते इति विभावनीयम् ॥ ७५ ॥

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।

तदुदाराह्वयं, तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ ७६ ॥

उदारत्वं निरूपयति । उत्कर्षवानिति । यस्मिन् वाक्ये उक्ते सति उत्कर्षवान् वर्णनीयस्योत्कर्षजनकः कश्चिद्विलक्षणगुणस्यागौर्यादिरूपोधर्मः प्रतीयते व्यञ्जनया बोध्यते तदाक्यमुदाराह्वयम् उदारत्वगुणवत्त्वेन कथितमित्यन्वयः, इत्यञ्च वाक्यानां वर्णनीयस्योत्कर्षजनकगुणव्यञ्जकत्वमुदारत्वमिति लक्षणम्, उत्कर्षवानित्यनेन च अपकर्षजनकधर्मव्यञ्जकत्वस्य न निरुक्तगुणत्वं, यथा, हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसा किं

विस्तरैस्तोयधे नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीत-  
 व्रतः । त्वयत्पान्यजनोपकारघटनावैमुख्यसम्भायशोभारप्रोद्-  
 हने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः । अत्र तोयधेरप-  
 कर्षजनकोऽपेयपानीयत्वरूपधर्माव्यङ्ग्य इति नौदार्यसद्भावः ।  
 वस्तुतस्तु, उत्कर्षवान् भङ्गा प्रतिपाद्यत्वेन चमत्कारजनकः  
 गुणः उत्कर्षकोऽपकर्षको वा वर्णनीयधर्म इत्येवार्थः, एवञ्च  
 अपकर्षजनकोऽपि धर्मो यत्र व्यज्यमानश्चमत्कारं जनयति  
 तदपि वाक्यमुदारमिति तेन हे हेलाजितेत्यादां वैदार्यम-  
 स्येव, अतएव क्रमदीश्वरेण, तदुदारं, गुणः कोऽपि यस्मि-  
 न्मुक्ते प्रतीयते, इति लक्षणं कृत्वा, यथा तावच्छरीरं मे या-  
 वत्त्वं पिहिताननेत्युदाहरता वर्णनीयस्यापकर्षजनकव्यङ्ग्यव्यञ्ज-  
 कत्वेऽप्युदारत्वमङ्गीकृतं । तादृशव्यञ्जकता च वाक्यस्य वाच्यार्थ-  
 द्वारा तेनार्थगतमिदं, शब्दगतन्तु विकटत्वलक्षणं, विकटत्वञ्च  
 पदानां नृत्यत्प्रायत्वं, यथा, स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकी-  
 नां झणिति रणितमासीत्तत्र कलञ्चेति । तेनेति । तेनोदा-  
 रत्वेन काव्यपद्धतिर्गौडवैदर्भरूपा काव्यरीतिः । एतेनोदा-  
 रत्वे गौडवैदर्भयोः साम्यं दर्शितं । सनाथा साश्रया सोत्कर्ष-  
 त्यर्थः ॥ ७६ ॥

अर्थिना कृपणा दृष्टिस्वप्नुखे पतिता सकृत् ।

तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥ ७७ ॥

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।

अनेनैव पथान्यत्र समानन्यायमूह्यताम् ॥ ७८ ॥

उदारत्वमुदाहरति । अर्थिनामिति । कृपणा दीना, पुन-  
स्तदवस्था दीना सती, मान्यस्य मुखमीक्षत इति एकेनैव कृता-  
र्थानामपरोपसर्पणासम्भवादिति भावः । अत्र वर्णनीयस्य राज्ञः  
प्रभूतदानरूपधर्मः प्रतिगृहीतृणां दात्रन्तरोपसर्पणाभाव-  
रूपभङ्गा व्यज्यमानः कमपि चमत्कारविशेषं जनयति ॥ ७७ ॥

इदमेव दर्शयति । इतीति । इत्यस्मिन् वाक्ये त्यागस्य  
भङ्गा व्यज्यमानस्य वर्णनीयराजदानस्य उत्कर्षसमत्कारविशेष-  
जनकत्वं साधु शोभनं लक्ष्यते सामाजिकैर्ज्ञायते । साध्वित्यत्र  
खल्विति क्वचित् पाठः । खलु यतो लक्ष्यते, अत इदमौदार्य-  
गुणवदित्यर्थः । अनेनैवेति । अनेनैव पथा एतत्पद्यप्रदर्शित-  
या रीत्या समानः सदृशोऽन्यायो व्यवस्थितिर्यस्य तादृशमुदारत्व  
मन्यत्र पद्यान्तरेऽपि ऊह्यतां स्वयं विभाव्यताम् ॥ ७८ ॥

स्मार्थैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिद्विद्यत ।

यथा, लीलाम्बुज, क्रीडासरो, हेमाङ्गदादयः ॥ ७९ ॥

अत्र मतान्तरं दर्शयति । स्मार्थैरिति । स्मार्थैर्विशेष्यार्था-  
त्कर्षकत्वेनाभिप्रेतार्थबोधकत्वात् सदृश्यप्रशंसनीयैः, विशेषणै-  
रिति बहुवचनादेकद्विविशेषणयोगे न चमत्कारातिशय  
इति सूचितम् । युक्तमिति वाक्यमित्यर्थः । उदारमुदा-  
रत्वगुणवत् । कैश्चिदित्यनेन साभिप्रायविशेषणवत्त्वस्यापुष्टा-  
र्थत्वदोषाभावरूपत्वादन्वैः परिकरासङ्कारत्वेनोक्तत्वाच्च न  
गुणत्वमुचितमित्यस्मिन् कल्पे स्वस्यास्वरसः सूचितः । उदा-



हरति । लीलाम्बुजेत्यादि । लीलाम्बुजमित्युक्ते अम्बुजस्य लीलेतिविशेषणालीलोपयोगित्वेन वर्णाकारसौरभ्याद्यतिशयः प्रतीयते, एवं क्रीडासर इत्यत्र सरसः क्रीडोपयोगितया कमलकुमुदजलचरविहङ्गशोभितस्रस्त्रादुजलवत्वादिकं, हेमाङ्गदमित्यत्र च हेममयत्वेनाङ्गदस्य सुदृश्यत्ववङ्गमून्यत्वादिकं । केचित्तु अग्राम्यत्वमर्थगुणमुदारत्वमाङ्गस्तत्र सम्यक्, अग्राम्यताया माधुर्यरूपत्वेन माधुर्योदार्ययोरभिन्नतापत्तेः, यदाह क्रमदीश्वरः, सानुप्रासत्वमग्राम्यभावश्च मधुरोगुण इति, माधुर्यप्रस्तावे ग्रन्थकृदपि, तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसेति ॥ ७८ ॥

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।

पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥ ८० ॥

ओजोलक्षयति । ओज इति । समासः पदानामेकीभावः तस्य भूयस्त्वं दीर्घत्वं वङ्गभिः पदैः समास इत्यर्थः, तदोजः, एतत् समासभूयस्वरूपमोजः, गद्यस्य गद्यप्रबन्धविशेषस्य उत्कलिकाप्रायात्मकस्येत्यर्थः, चूर्णकादौ दीर्घसमासत्वाभावात् । जीवितं जीवितवत् सारभूतम् । इदञ्च मार्गदये समानं । विपर्ययमाह । पद्येऽपीति । अदाक्षिणात्यानां गौडानाम् । अपिना गद्यसमुच्चयः । इदं समासभूयस्वरूपमोजः । एकमद्वितीयं परायणमवलम्बनं, गौडानां बन्धगाढताप्रियत्वेन तस्मैवतथानुप्रासवद्दीर्घसमासस्याप्यत्यन्तमपेक्षणीयत्वात् । इदञ्चोजः ब्रह्म-

गुणः समासभूयस्वरूपतया शब्दमात्रगतत्वात् । अन्ये तु, भोजः प्रौढिः सा च पञ्चविधा यथा, “पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा । प्रौढिव्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च” इति । तत्र पदार्थे वाक्यरचनं, यथा, चन्द्र इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिरिति वाक्यरचनं । वाक्यार्थे पदाभिधा यथा, निदाघशीतलहिमकालोष्णशरीरा सुकुमारी वरयो-षिदिति वाक्यार्थे वक्तव्ये वरवर्णिनीति पदाभिधानम् । एव-मेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषाभिधित्तया बद्धवाक्यैरभिधानं व्यासः, बद्धवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासः, ए-तच्चतुर्विधप्रौढिरूपभोजः शब्दगुणः साभिप्रायरूपन्वर्थगुण इत्याहुः ॥ ८० ॥

तद्गुरुणां लघूनाञ्च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः ।

उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु ॥ ८१ ॥

तदिति । तत्समासभूयस्वमुच्चावचप्रकारं नानाविधं, कथ-मित्याह । गुरुणामित्यादि । कश्चित् समासाङ्गपदघटकानां गुरुवर्णानां बाहुल्येन लघुवर्णानामल्पत्वेन, कश्चिद् गुरुणाम-ल्पत्वेन लघूनाञ्च बाहुल्येन, कश्चिच्च द्विविधानां तेषां मिश्र-णेन साम्येन च । तच्च आख्यायिकादिषु प्राचां रचितेषु गद्य-प्रबन्धविशेषेषु । आदिना चम्पूविह्वलादीनां यदृष्टं, दृश्यं स्वयमनुभवनीयम्, एतच्च वैदर्भमतानुसारेणोक्तं गौडानां पद्यमयेष्वपि तत्सद्भावाभिमतैरुक्तत्वात्, यथा सूर्य्यवतकादौ

पद्यमयेऽपि दीर्घसमासाः । आख्यायिकेत्युपादानात् कथायां  
रौद्रादिरसेऽपि न दीर्घसमासोविधेय इत्यवधेयम् । प्रकारमि-  
त्यत्र प्रकारेणेति दृश्यमित्यत्र च दृष्टमिति क्वचित् पाठः ।  
अन्यत्र च द्वितीयतदित्यत्र सदिति पाठः ॥ ८१ ॥

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा ।

पीनस्तनस्थिताताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी ॥ ८२ ॥

गौडानामभिमतं पद्यगतसमासभूयस्त्वमुदाहरति अस्ते-  
ति । अस्तोऽस्ताचलस्तस्य मस्तकं शृङ्गं तत्र पर्यस्ताः परितः  
पतिताः समस्ताः सायं तन्मात्रवृत्तित्वात् सकला येऽर्कां-  
शवः सायंकालीनत्वादारक्ताः सूर्यकिरणास्तैः संस्तर आव-  
रणं यस्यास्तादृशी वारुणी पश्चिमदिक् पीनस्तने स्थितमाताम्रं  
कम्रं शोभनं वस्त्रं यस्यास्तादृशी काचिन्नायिकेवेत्यन्वयः ॥ ८२ ॥

इति पद्येऽपि पौरख्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः ।

अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा ॥ ८३ ॥

पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका ।

कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति ॥ ८४ ॥

इतीति । पौरख्या गौडाः, ओजस्विनीः समासभूयस्त्व-  
रूपौजोगुणवती । अपराभिमतमोजो लक्षयति । अन्ये त्विति ।  
गिरां वाक्यानामनाकुलमनाकुलत्वम्, उद्घटसमासादिना  
ओद्वबुद्धेराकुलीभावात् तद्द्रहितत्वमित्यर्थः, तथा हृद्यं हृद्यत्वं

पारुष्यत्रैथिल्याभावेन सहृदयहृदयहारित्वमित्यर्थः एवंप-  
मोज इच्छन्ति । अयमर्थः दीर्घसमासः स्वल्पसमासः समासा-  
भावोवास्तु यस्मिन् श्रुते श्रोतृणां बुद्धेरनाकुलत्वं श्रुतिसुखञ्च  
भवति तत्त्वमोज इति । एतदुदाहरति । यथेति । पयोधरो-  
मेघ एव पयोधरः स्तनः, स्निष्टरूपकम्, तस्य तटस्य प्रान्त-  
स्यात्सङ्गे लग्नं सन्ध्यातप एवांशुकमारक्तवसनं यस्यास्तादृशी ।  
कामातुरमिति आरक्तवसनाच्छस्नस्तनतटनायिकासाम्येनोद्दो-  
षकत्वादिति भावः । अत्र पूर्वार्द्धवाक्यं दीर्घसमासवदपि  
अस्तमस्तकेत्यादिश्लोकवाक्यवन्न श्रोतृणां बुद्धिमाकुलयति प्र-  
त्युत लालित्येन श्रवणसुखमादधाति, उत्तरार्द्धवाक्ये तु का-  
मातुरमित्यल्पसमासः अन्यत्र समासाभावञ्च, तथापि तत्  
किञ्चिद्गाढतया लालित्येन च प्रतीयमानं श्रोतृनानन्द-  
यति ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात् ।

तच्च वार्त्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥ ८५ ॥

कान्तिं लक्षयति । कान्तमिति । लौकिकार्थस्य लोकप्र-  
सिद्धवस्तुनोऽनतिक्रमादपरित्यागात् लोकप्रसिद्धवस्तुवर्णना-  
दित्यर्थः सर्वजगतां देवादिमनुष्यान्तामां कान्तं कमनीयं  
बाधाद्यनुदयकृतार्थबोधसौकर्येण समत्कारजनकतया स्पृह-  
णीयमित्यर्थः, ईदृशं वाक्यं कान्तं कान्तिगुणवदित्यन्वयः,  
एवञ्च लोकप्रसिद्धवस्तुवर्णनं कान्तिरिति लक्षणम् । सर्वजगत्का-

क्तमिति तु प्रशंसनं । यदाह क्रमदीश्वरः । वर्णनात्युक्तिशून्या या सा कान्तिरभिधीयत इति । इयञ्च कान्तिरर्थगुणः अर्थानुसन्धानप्रागनुपलम्भात् । औज्वल्यरूपा तु शब्दगुणः औज्वल्यञ्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वम् । अन्ये तु दीप्तरसत्वरूपमर्थगतं कान्तिगुणमाहुः । कान्तेर्विषयं दर्शयति । तच्चेति । तत्कान्तिमहाक्यं । वार्त्ताभिधानेषु अनामयप्रियालापप्रस्तावेषु । अनामयप्रियालापोवर्त्तिवार्त्ता च कथ्यत इत्युक्तेः । प्रियालापे हि लोकप्रसिद्धवस्त्वभिधानमेवोचितम्, अन्ये तु वार्त्ताभिधानेषु इतिहासवर्णनेषु, इतिहासानां यथावद्वर्णनस्यौचित्यात् अथथावर्णने असत्यताप्रतिभासेन विनेयानां प्रवृत्त्यसम्भवात् प्रबन्धस्य रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यं न रावणादित्युपदेशपर्यवसायित्वानुपपत्तेरित्याहुः । वर्णनास्त्रिति । वर्णनासु वस्तुस्वरूपनिरूपणेषु, तत्रापि यथावद्वर्णनस्यौचित्यात्, एताभ्यामन्यत्र तु न नियमः, अतएव व्यञ्जकार्थस्य स्वतःसम्भवित्वेन प्रौढोक्तिसिद्धत्वेन च नव्यानां काव्यभेदकरणं सङ्गच्छते । यदुक्तं प्रकाशकृता, अर्थशक्तुद्भवोऽप्यर्थाव्यञ्जकः सम्भवी स्वतः । प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धोवा कवेस्तेनोन्मितस्य वा इति ॥ ८५ ॥

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।

सम्भावयति यान्येव पावनैः पादपाण्डुभिः ॥ ८६ ॥

तत्र वार्त्ताभिधाने कान्तिमुदाहरति । गृहाणीति ।

नामेति. सम्भावनायाम् । तान्येव गृहाणि प्रशस्तगृहाणि,  
गृहपदमत्र प्रशस्तगृहे लक्षणिकं प्राशस्त्यातिशयश्च व्यङ्ग्यः अ-  
तएवेदमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं नाम लक्षणामूलध्वनिकाव्यं शक्य-  
तावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोः सामान्यविशेषभावात् । तपो-  
राशिस्तपोबहुलः । सम्भावयति गौरवं प्रापयति, अत्र प्रौ-  
ढोक्तिमन्तरेणापि सत्पुरुषचरणसम्पर्केण स्थानस्य प्रशस्ततारूपो-  
वर्णनीयार्थोलोकप्रसिद्ध एव, इयञ्च प्रियालापरूपा वार्त्ता ॥

॥ ८६ ॥

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।

अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥ ८७ ॥

वर्षनायामुदाहरति । अनयोरिति । जृम्भमाणयोर्द्विं-  
गच्छतोः, बाहुलतान्तरे वक्षसि, अवकाशः स्थानं न पर्याप्तो  
न प्रभूतः अतिपीनोत्तुङ्गौ स्तनौ तुद्रायतने वक्षसि समम्बाधा-  
वेव वर्त्तते इत्यर्थः । अत्र स्तनवर्षनायां स्तनयोः पीनोत्तुङ्ग-  
योर्वक्षसि समम्बाधावस्थितिर्लोकप्रसिद्धैव वर्षिता ॥ ८७ ॥

इति सम्भाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम् ।

कान्तिं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्त्तिनः ॥ ८८ ॥

श्लोकद्वये कान्तिं सङ्गमयति । इतीति । इति वार्त्तावर्ष-  
नाविषयकश्लोकद्वयप्रतिपाद्यं सम्भाव्यमेव लोकप्रसिद्धतया स-  
म्भावनीयमेव न त्वत्युक्त्या असम्भवदपि कल्पनीयम् । एतच्च  
विशेष आख्यायतेऽनेनेति विशेषाख्यानमुत्कर्षबोधकविशेषणं तेन

संस्कृतमलङ्कृतं सत् लोकयाचानुवर्त्तिनो लोकव्यवहारमनु-  
 न्धानस्य लोकव्यवहारजनितसंस्कारमम्यन्नस्येत्यर्थः । सर्वस्य ज-  
 नस्य कान्तं कमनीयं भवति, तस्मादेतदर्थप्रतिपादकवाक्यं  
 कान्तिगुणवदित्यर्थः । विशेषाख्यानसंस्कृतमित्यनेनैतदुक्तं, लोक-  
 प्रसिद्धवस्तुवर्णनमात्रेणैव न कान्तेः सम्भवः अन्यथा, गोरपत्यं  
 बलीवर्द्धा घासमत्ति मुखेन स, इत्यादेरपि लोकसम्भाव्य-  
 बलीवर्द्धकर्त्तकघासभक्षणरूपवस्तुवर्णनया कान्तिमत्त्वेन काव्य-  
 त्वापत्तेः, किन्तु उत्कर्षबोधकविशेषणविन्यासेन वैचित्रजनक-  
 तया, वैचित्रस्यैव गुणालङ्काररूपत्वात्, प्रकृते च गृहाणि  
 नाम तान्येवेत्यादिपद्यद्वये तत्तद्विशेषणकृतवैचित्रं स्फुटमेवेति  
 विभावनीयम् ॥ ८८ ॥

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः ।

योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥ ८९ ॥

गौडमार्गे निरुक्तकान्तेर्विपर्ययं दर्शयति । लोकातीत  
 इवेति । इवापर्ये । योऽर्थोऽत्यन्तं लोकातीतोऽपि लोकप्रसि-  
 द्धिमतिक्रान्तोऽपि अध्यारोप्य उपचर्य विवक्षितः, तेनार्थेन  
 विदग्धा विदग्धं मन्यमाना गौडा इत्यर्थः, सोऽसुष्ठुनोक्तिरि-  
 यं । विगतं दग्धं दाहोऽसम्भव्यर्थानुभवकृतमनःक्लेशो येषां ते  
 इति वा । अत्यतिशयेन तुष्यन्ति, इतरे जना वैदर्भाः पुनर्न  
 तुष्यन्ति । अध्यारोप्येति । नच योग्यतायाः शब्दबोधे हेतु-  
 त्वादारोपितार्थस्यायोग्यत्वेनान्वयबोधाऽपि कथमिति वाच्यं

रूपकाद्यलङ्कारस्यालङ्कारिकैः सर्वैरेवाभ्युपेयत्वेन शाब्दमते-  
राहार्यत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वेन योग्यतायास्तत्प्रयोजकत्वानङ्गीका-  
रात्, अतएवोक्तम्, अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति  
हीति ॥ ८६ ॥

देवधिष्यमिवाराधमद्यप्रमृति नो गृहम् ।

युष्मत्पाद्रजःपातधौतनिःशेषकिल्बिषम् ॥ ८७ ॥

वार्त्ताभिधाने कान्तेर्विपर्ययं दर्शयति । देवधिष्यमिति ।  
विष्यं स्यात् । किल्बिषममङ्गलम् । अत्र महापुरुषचरणरजः-  
सम्पर्केण गृहस्य प्रशस्तैव लोकप्रसिद्धा, देवानामसाम्येनारा-  
ध्यता तु प्रौढोक्त्वाधारोपिता ॥ ८७ ॥

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्चैव वेधसा ।

इदमेवावेधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ ८८ ॥

वर्णनायां विपर्ययं दर्शयति । अल्पमिति । भवत्याः स्तन-  
जृम्भणं स्तनयोरुपचितिरेवावेधं वङ्गवकाशव्यापि भावि भवि-  
ष्यति इदमनालोच्चैव वेधसा आकाशमल्पं निर्मितमित्यन्वयः ।  
अत्र विधातुरनालोचनपूर्वकान्याकाशनिर्माणवर्णनेन स्तनयोः  
पीनोत्तुङ्गत्वप्रतिपादनं चाटुकारस्यात्युक्तिविजृम्भितं, तथाहि  
अतिमहतोऽप्याकाशस्याल्पत्वं, सर्वज्ञस्यापि विधातुरनालो-  
चनपूर्विका सृष्टिः, विष्वक्कोलङ्गतुल्ययोरपि स्तनयोर्महामन्दर-  
दिमालयादिभिर्गिरिवरैरप्यपूर्यमाणेऽतिमहत्याकाशे षषम्बा-



धावृष्णितिरित्येतत् सर्व्वं लोकप्रसिद्धिमतिक्रान्तमपि वर्ण्यमानं  
प्रयोक्तुरूपहसनीयतामाविर्भावयतीति न कान्तता वाक्यस्य ॥  
॥ ८२ ॥

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलानितम् ।

प्रस्थानं प्राक् प्रणीतन्तु सारमन्यस्य वर्त्मनः ॥ ८२ ॥

उपसंहरति इदमिति । इदमेवंविधं काव्यवाक्यमत्युक्ति-  
रित्युक्तमत्युक्तिरिति नाम्ना आलङ्कारिकैः कथितम् । यथा ह  
भोजराजः, “लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्र वर्ण्यते । तदत्यु-  
क्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे” इति ॥ इदमित्यत्र  
इयमिति क्वचित् पाठः । गौडोपलानितं गौडैश्चमत्कार-  
जनकतया व्यवहृतम् । अत्र वैदर्भ्याणामनादर इत्याह । प्र-  
स्थानमिति । प्राक्प्रणीतं प्रस्थानन्तु लोकसम्भाव्यवस्तुवर्णनरूप-  
मन्यस्य वर्त्मनो वैदर्भ्यमार्गस्य सारमुपादेयं, तदयं कान्तौ  
गौडवैदर्भ्ययोर्विपर्ययः ॥ ८२ ॥

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।

सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्ततो यथा ॥ ८३ ॥

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिपन्ति च ।

इति नेत्रक्रियाध्यासान्नाम्ना तदाचिनी श्रुतिः ॥ ८४ ॥

समाधिं लक्षयति । अन्यधर्म इति । अन्यस्याप्रस्तुतस्य  
कस्यचिद्धर्मो गुणक्रियारूपः, ततस्तस्माद्धर्मिणोऽन्यत्र कस्मिं-  
श्चित् प्रस्तुते लोकसीमानुरोधिना लोकमर्यादामनुबन्धामेन

वक्त्रा यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यव-  
सानगौण्या लक्षणाया उपचर्यते स वाक्यार्थः समाधिः समाध्या-  
ख्यगुणवान् स्मृतः, यत्रेत्यत्र यत्त्विति पाठे क्रियाविशेषणं, यत्  
समाधीयते स समाधिः सम्यगाधानरूपः समाध्याख्यो गुण  
इत्यर्थः । उपचारश्चात्राहार्याभेदप्रतीतिरूपः स च लक्षणा-  
याः प्रयोजनभूतः लक्षणाजन्यसादृश्यप्रतीतेरनन्तरमेव तन्मूल-  
व्यञ्जनया तस्य प्रतीतिसम्भवात् । उक्तञ्च प्रकाशकता गौण-  
लक्षणप्रस्तावे, भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च  
प्रयोजनमिति । लक्षणा चात्र साध्यवसानरूपा सा च विषयस्या-  
नुपादान एव सम्भवति तेन च विषयोपादाने सारोपगौण्यां  
न समाधेः सम्भवः । इत्यञ्च प्रस्तुतस्य धर्मं निगीर्य तत्र सदृ-  
शतया अप्रस्तुतधर्मस्य तादात्म्याध्यवसानं समाधिरिति लक्ष-  
णम् । धर्मैत्यनेन धर्मिणोऽध्यवसाने नायं गुण इति सूचितं ।  
यथा, लतामूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः स्फुरत्ता-  
राकारा गलति जलधारा कुवलययात् । धुनीते बन्धूकं तिल-  
कुसुमजन्मापि पवनो वहिर्दारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृ-  
तिनः, इत्यादौ मुखादौ धर्मिणि धर्मिणश्चादेरध्यवसानम्,  
अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः । लोकमीमानुरोधित्यनेन स्वच्छ-  
या विषदृशधर्माध्यामेन लोकविरोधे न समाधिसम्भवः । यथा  
वृंहन्ति मशका यत्र तत्र निद्रा सुदुर्लभेति, अत्र वृंहितं करि-  
गर्हितमित्यभिधानात् करिधर्मस्य वृंहणस्य मशकरुतेऽध्यव-  
सानं लोकविहङ्गम् । उदाहरति यथेति, अत्राप्रस्तुतस्य चक्षुषो

धर्मा निमीलनोन्नेषौ प्रस्तुतयोः कुमुदकमलयोर्दलसङ्कोच-  
विकाशरूपधर्मादादात्म्येनाध्यवसितौ, इदञ्चाध्यवमानं न लोक-  
विरुद्धं विषयविषयिणोरनयोः सादृश्यातिशयवत्त्वेनाभिन्न-  
प्रायत्वात्, तथात्वेन चानयोरेकशब्दप्रयोगप्रतिपाद्यत्वं, यथा  
चक्षुर्निमीलति कुमुदं निमीलति चक्षुर्न्मिषति कमलमुन्मि-  
षतीति, इदमेव दर्शयति । इतीति । नेत्रक्रियाध्यासात् नेत्रस्य  
क्रियाभ्यां निमीलनोन्नेषाभ्यां सह तादात्म्यारोपात् कुमुद-  
कमलधर्माभ्यां दलसङ्कोचविकाशाभ्यां तदाचिनी श्रुतिर्लब्धा  
नेत्रक्रियावाचकः शब्दः स्वप्रतिपादकतया प्राप्तः, पदार्थाना-  
मेकत्वेनैकशब्दप्रतिपाद्यत्वैचित्यात् यथा घटो घट इति विभि-  
न्त्वे तु विभिन्नशब्दप्रतिपाद्यत्वं यथा घटः पट इति । अयञ्च  
समाधिरर्थगुणः अर्थे अर्थान्तरारोपस्वरूपत्वात् । केचित्तु,  
अयोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपमर्थगुणं समाधि-  
माङ्गः, तत्रायोनिरर्थः कविसम्प्रदायपरिशीलितपद्धति-  
मन्तरेण स्वबुद्धिविभवमात्रप्रादुर्भावित उपमानोपमेयभावा-  
दिरूपः । यथा, सद्योमुण्डितमत्तह्ननचिवुकप्रस्पर्द्धिनारङ्गक-  
मिति । अत्र नारङ्गकस्य ह्ननचिवुकेन सद्योपमानोपमेयभावे  
न केनापि प्राक्तनकविना प्रदर्शितः केवलमेतत्कविनैव  
स्वबुद्ध्या प्रादुर्भावितः । अन्यच्छायायोन्यर्थस्तु प्राक्तनकविपर-  
म्पराव्यवहृतः किञ्चिद्भङ्गन्तरेण वर्णितः । यथा, 'निज-  
नयनप्रतिविम्बैरम्बुनि बङ्गशः प्रतारिता कापि । नीलोत्पले-  
ऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी' इति । अत्र नयन-

नीलोत्पलयोः सादृश्यं कविमम्प्रदायप्रसिद्धं विच्छित्तिविशेषे-  
णात्र निबद्धम् । शब्दगुणभूतः समाधिस्तु आरोहावरोहक्रम-  
रूपोऽन्यैरुक्तो ज्ञातव्यः । तत्र आरोहोऽनुप्रासादिना उत्कर्षः  
अवरोहस्तदभावादपकर्षः तयोः क्रमो वैरस्यानावहो विन्यासः ।  
यथा, चञ्चुजभ्रमितचण्डगदाविघातेत्यादि । अत्र पादत्रये  
बन्धस्य गाढता चतुर्थपादे त्वपकर्षः सोऽपि तीव्रप्रयत्नेऽर्था-  
तया गाढायमानो वैरस्यं न जनयति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

निष्ठूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।

अतिसुन्दरं मन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥ ६५ ॥

समाधेर्गौणलक्षणामूलकत्वं प्रकटयति । निष्ठूतोद्गीर्णत्या-  
दि । निष्ठूतोद्गीर्णवान्तादिपदं गौणवृत्तिव्यपाश्रयं गौणलक्ष-  
णामूलकं गौणलक्षणया स्वमुख्यार्थमदृशेऽर्थे प्रयुक्तं सदित्यर्थः ।  
अतिसुन्दरं सहृदयहृदयहरत्वेन समाधिगुणवत् । अत्रार्ण-  
गुणस्यास्य शब्दगतत्वं परम्परयेति बोध्यम् । अन्यत्रेति । गौण-  
वृत्तिव्यपाश्रयत्वाभावेन मुख्यार्थ एव प्रयोगे इत्यर्थः, ग्राम्य-  
कक्षां विगाहते ग्राम्यवरूपदोषदुष्टतां प्राप्नोति । मुख्यवृत्त्या  
प्रयुक्तं निष्ठूतादिपदं न परं गुणवत् प्रत्युत दोषवदपि गौण-  
वृत्त्या तु गुणवदेवेति लक्षणाफलभूततादात्म्यारोप एवात्र  
हेतुरिति विभावनीयम् । अत्र गौणवृत्तिपदं सम्भावनाया  
उपलक्षकं तेनोत्प्रेक्षायां मुख्ययापि वृत्त्यास्त्रीलपदप्रयोगे गुण एव  
एतच्चाग्रिमश्लोके दर्शयिष्यामः ॥ ६५ ॥

पद्मान्यर्कांगुनिष्ठताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।

भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥ ८६ ॥

एतदेव दर्शयन्नुदाहरति । पद्मानीति । सायन्तनममीर-  
मङ्गस्वलत्परागपद्मवर्णनमिदम् । अर्कांगुनिष्ठताः सूर्यकिर-  
णैर्निक्षिप्ताः पावकविप्रुषो वक्त्रिणान् । उद्गीर्णारुणरेणुभि-  
रिति पावकविन्दुवमनोत्प्रेक्षायां हेतुः । अत्र देहान्तःकफादि-  
निक्षेपशक्तयोः निष्ठिवोद्गुधात्वेर्निक्षेपमात्रार्थे लक्षणा सामान्य-  
शब्दस्य विशेषार्थपरत्ववद्विशेषार्थकस्यापि सामान्यपरत्वे तद-  
भ्युपगमस्यौचित्यात्, साच शक्यार्थलक्ष्यार्थयोः सादृश्याद्गौणी  
सादृश्यञ्च कफनिक्षेपो विप्रुङ्निक्षेप इवेति विशिष्टनिक्षेपयो-  
स्तयोर्विभिन्नत्वात् । वमन्तीवेत्यत्र तु न लक्षणा आहार्यवत्  
सम्भावनायामपि बाधोदयस्याकिञ्चित्करत्वेनान्वयबोधाप्रति-  
बन्धात्, लक्षणाफलीभूतताद्रूप्यप्रतीतेरिव सम्भावनाया अपि  
चमत्कारजनकत्वेन गुणत्वं युज्यते, तस्मात् पूर्वत्र गौणवृत्ति-  
पदस्य सम्भावनापलक्षकत्वं सुष्टूक्तम्, एवम्, आस्वाद्य निरवशेषं  
विरहिवधूनां मृदूनि मांसानि । करकामिषेण मन्ये निष्ठीवति  
नीरदोऽस्थीनि, इत्यत्र सापङ्गवोत्प्रेक्षायां निष्ठीवतीत्यत्र न  
लक्षणा ॥ ८६ ॥

इति हृद्यमहृद्यन्तु निष्ठीवति वधूरिति ।

युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च स्मृतो यथा ॥ ८७ ॥

इतीति । इति पूर्वश्लोकगतं गौणवृत्तिव्यपाश्रयं निष्ठुता-

तदेतत्काव्यसर्व्वस्वं समाधिर्नाम योगुणः ।

कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥ १०० ॥

समाधिमुपसंहरति । तदेतदिति । तत्तस्मात् पूर्व्वप्रदर्शि-  
तनयेन काव्यस्य चारुत्वातिशयजनकत्वादित्यर्थः । समाधिर्नाम  
योगुणः, एतत् काव्यस्य सर्व्वस्वं काव्येऽवश्यमपेक्षणीयमित्यन्वयः ।  
समग्रोऽपि गौडो वैदर्भोऽपरोवापि, तमेनमनुगच्छति काव्ये  
तन्निवेशाय यतते । एनमित्यत्र एकमिति क्वचित्पाठः, मुख्य-  
मित्यर्थः, प्रशंसनायैतत् सर्व्वेषामेव प्राणत्वेनोक्तत्वात् । इति  
दशगुणा निरूपिताः, एषु च केचिद्दोषाभावरूपाः केचिच्चाल-  
ङ्काररूपा अपि प्राचां मतमनुरुन्धानेन यन्यकृता गुणत्वेनो-  
क्ताः, नव्यास्तु मतेऽस्मिन्ननादरवन्तोमाधुर्यैजःप्रसादाख्यं रस-  
गतं गुणत्रयमेवेच्छन्ति यथा प्रकाशकारः । माधुर्यैजःप्रसा-  
दाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दशेति ॥ १०० ॥

इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः ॥ १०१ ॥

तत्र वैदर्भगौडोदौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरावित्यनेन प्रतिज्ञातं  
गौडवैदर्भयोर्विभिन्नतया निरूपणमुपसंहरति । इतीति ।  
इति पूर्व्वोक्तप्रकारेण तयोर्गौडवैदर्भयोः, स्वरूपनिरूपणात्,  
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादशगुणाः स्मृताः, एषां विपर्य्ययः  
प्रायोदृश्यते गौडवर्त्मनीत्यनेन गुणसद्भावाभावकृतस्वरूपप्रति-  
पादनादित्यर्थः । भिन्नमत्यन्तविसदृशं । नन्वप्येऽपि साट-

पाञ्चालादिका मार्गभेदाः सन्ति तेऽपि निरूप्येरन्नित्याश-  
ङ्गाह तद्भेदा इति । गौडवैदर्भ्याभ्यां भिन्नास्तस्य काव्यमा-  
र्गस्य भेदा लाटपाञ्चालादयः प्रतिकवि स्थिताः तत्तद्देशजात-  
कविभिरादृताः । न शक्यन्त इति, भेदाः सत्यं सन्त्येव परन्तु  
अनेकत्वेन वक्तुमशक्यत्वान्न निरूपिता इत्यर्थः । तद्भेदा गौड-  
वैदर्भयोरवान्तरभेदा इति वा ॥ १०१ ॥

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।

तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥ १०२ ॥

पूर्वाक्तमेव दृष्टान्तेन द्रढयति । इच्छिति । आदिना  
मधुरमात्राणां ग्रहणं । अन्तरं भेदः । महदिति स्फुटं प्रतीय-  
मानत्वादनपलपनीयमित्यर्थः । तदन्तरम् । आख्यातुं तत्तन्ना-  
मास्त्रेण निर्देष्टुं । सरस्वत्याऽपि का कथान्वेषां वागधिष्ठात्र्या  
देव्यापि, न शक्यत इति असङ्गत्वादिति भावः । मधुरवस्तुनां  
माधुर्यभेदवत् काव्यमार्गाणां भेदोऽनिर्व्वचनीयस्तस्माद्भेदद्वय-  
मेव स्फुटभेदं प्रदर्शितमिति भावः ॥ १०२ ॥

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बद्ध निर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ १०३ ॥

एवमस्य शरीरमुक्त्वा कारणमाह । नैसर्गिकीति । नैस-  
र्गिकी स्वाभाविकी प्राक्तनजन्मसिद्धेत्यर्थः प्रतिभा शक्तिः सं-  
स्कारविशेष इत्यर्थः । तथा बद्ध अनेकं हृन्दोव्याकरणकोष-

कलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणात्मकमित्यर्थः, निर्मलं सद्-  
 पदश्रेण निःसन्देहतयाधिगत्य सम्यक् परिशीलितमित्यर्थः,  
 श्रुतं शास्त्रञ्च बहुनिर्मलशास्त्रानुशीलनजनिता व्युत्पत्तिरि-  
 त्यर्थः, एतदुपलक्षणं लोकदर्शनजनितापि व्युत्पत्तिः काव्यका-  
 रणं, तथा अमन्दोऽनल्पः अभियोगोऽभ्यासश्च काव्यज्ञोपदेशेन  
 पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरित्यर्थः, एतत्तितयं समुदितं नतु व्यस्तम्,  
 अस्या निरुक्तशरीरायाः काव्यस्य सम्पदः समृद्धेः कारणं का-  
 व्यसमृद्धिकृतिज्ञप्स्योर्हेतुः कारणवज्ज्ञानस्याप्येतत्तितयजन्यत्वात् ।  
 कथञ्चिच्चिरपरिचिन्तनया अप्रतिभादिमतामेकद्विकाव्यकरणे-  
 ऽतिप्रसङ्गवारणाय सम्पद इत्युक्तम् । अत्र कारणता व्याप्त्या  
 नतु प्रत्येकपर्याया अत्युत्पन्नानामयतमानानाञ्च बालादीनां  
 केवलप्रतिभया काव्यानुदयदर्शनात् तेषामेव च कालान्तरेण  
 व्युत्पत्त्यभ्यासवतां काव्यदर्शनात्, तथा व्युत्पन्नानां यतमाना-  
 नाञ्च केषाञ्चित् प्रतिभाभावेन तददर्शनात् तथा यतमानानां  
 तेषां दर्शनादयतमानानाञ्चादर्शनादित्यन्वयव्यतिरेकाभावेऽपि  
 निश्चयः । इदमेवोक्तं प्रकाशकृता, शक्तिर्निपुणता लोकशा-  
 स्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञश्चित्त्याभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे  
 इति । व्याख्यातश्च तेनैव, इति त्रयः “समुदिता न तु व्यस्ता-  
 स्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लामे च हेतुर्नतु हेतव” इति ।  
 अन्ये तु प्रतिभैव काव्यस्य कारणं, व्युत्पत्तिस्तस्य चारुत्वहेतुः  
 अभ्यासस्तु वृद्धिहेतुः । प्रतिभा च क्वचित्सूतः प्रसरति क्वचिच्च  
 देवताद्यनुग्रहात्, भाविकवित्त्वानां बालानां सत्यामपि प्रति-



भाषां काव्यानुदयात् कालस्य तत्सहकारित्वमङ्गीकार्यमित्याहुः, यथा, “कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः । तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी” इत्यादि । मते चास्मिन् कार्यभेदान्न प्रतिभादित्रितयगता कारणता व्यासक्ता । वयन्तु, प्रतिभापरपर्याया शक्तिरेव काव्यकृतिज्ञप्तिहेतुः शक्तिश्च संस्कारविशेषरूपा, अतिरिक्ता वा मण्यादेर्दाहिकादिवत्, सा च प्राक्तनी चेदानीन्तनी च, तत्र प्राक्तनी सिद्धैवास्ति इदानीन्तनी तु शास्त्रकाव्यलोकदर्शनादिजनितविलक्षणव्युत्पत्त्या नियताभ्यामेन च पुरुषे जायते कारणत्वञ्चानयोर्दण्डचक्रादिवन्मिलितयोरेव, अव्युत्पन्नानां बालादीनामैहिकशक्त्यभावेन व्युत्पन्नानां यतमानानामपि केषाञ्चित् प्राक्तनशक्त्यभावेन काव्यानुदयदर्शनादिति ब्रूमः ॥ १०३ ॥

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना  
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।  
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता  
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥ १०४ ॥

प्रतिभादित्रितयं काव्यसम्पदः कारणमित्युक्तं तत्र यदि व्युत्पत्त्यभ्यासवन्तस्तत्सम्पादनप्रवृत्ता अपि कृतार्था न भवन्ति तर्हि किं ते प्रतिभाया अभावनिश्चयेन तस्माद्विरमेयुर्नहि नहीत्याह । न विद्यत इति । अद्भुतमनर्गलकाव्यसम्पत्सम्पादकत्वादाश्चर्यं, पूर्ववासना जन्मान्तरीणसंस्काररूपं

तथा गुणानुबन्धि काव्यसम्पत्सम्पादनेनोत्कर्षातिशयजनकं प्रतिभानं प्रतिभा यद्यपि न विद्यते । यदा वासना वाञ्छा, वासनाविषयो गुणो वासनागुणः सर्वप्रार्थनीयकवित्वकीर्त्या-दिरूपगुण इत्यर्थः, शाकपार्थवादित्वान्मध्यपदलोपिकर्मधा-रयः । पूर्वेषां प्राक्तनकवीनां वासनागुणसाम्यानुबन्धि जनकं प्रतिभानमित्यन्वयः । अनन्तरं तथापि न विरम्यतामि-त्यध्याहार्यं । नन्वसत्यां प्रतिभायां को गुणस्तत्प्रयामेनेत्या-शङ्कायामाह । श्रुतेनेति । श्रूयत इति श्रुतं श्रवणं प्राक्तन-काव्यप्रबन्धानुशीलनमित्यर्थः तथा यत्नेन तत्करणप्रयामेन च, उपासिता निरन्तरमाराधिता सती, कमप्यनुग्रहं भ्रुवं करोत्येव श्रवणं किञ्चित् काव्यसम्पादनसामर्थ्यं जनयत्येव, अत्र भ्रुवैवेतिशब्दद्वयेन व्यभिचाराशङ्का निरस्ता । इत्यञ्च प्रतिभा-दिसमुदायः काव्यसमृद्धिं प्रत्येव हेतुः किञ्चित्तु व्युत्पत्त्यभ्या-साभ्यामपि भवतीति न पूर्वापरविरोधः ॥ १०४ ॥

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती

श्रमादुपास्या खलु कीर्त्तिमोक्षुभिः ।

कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा

विदग्धगोष्ठेषु विहर्त्तुमीशते ॥ १०५ ॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे मार्गविभागो नाम

प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

पूर्वाक्रमपसंहरति । तदिति । तत्तस्मात् । अस्ततन्द्रैरन-

सुखैः । अमात् अममङ्गीकृत्य । उपास्या अनुशीलनीया । कीर्त्तिः  
 कृतिज्ञाप्यन्यतरजन्यं यज्ञः । फलान्तरमाह । कृष्णे इत्यादि ।  
 कृष्णे अल्पे कवित्वेऽपि काव्यस्य करणे ज्ञाने च, विदग्धगोष्ठीषु  
 कविसामाजिकसभासु । विहर्त्तुमीशते समादरं लभ्युमर्हन्ति,  
 एतेन कीर्त्तिसमादरौ कवित्वसामाजिकत्वयोः फलत्वेन प्रति-  
 पादितौ तस्मिन्नुभिरवश्यमेवात्र सततं यतनीयमिति सूचितम् ।  
 स्वल्पयोरप्यनयोः स्वर्गादिसाधनत्वं श्रुतिरप्याह यथा । एकः  
 शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुम्भवतीति ।  
 एक इत्यत्रापिकारोबोधः, एकोऽपीत्यर्थः । सम्यग्ज्ञात इत्यत्र  
 च वाकारः, सम्यग्ज्ञातोवेत्यर्थः ॥ १०५ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचितायां मालि-  
 न्यप्रोज्झनीसमाख्यायां काव्यादर्शटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥

॥ १ ॥

## काव्यादर्शः ।



### द्वितीयः परिच्छेदः ।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ १ ॥

अथ धर्मिणि निरूपिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमपरिच्छेदे शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदाबली-  
त्यनेन धर्मिभूतं काव्यशरीरं निरूप्य, काव्यं कल्पान्तरस्थायि  
जायेत सदलङ्कृत्यनेन प्रशंसनादुपादेयधर्मानलङ्कारान्नि-  
रूपयितुं द्वितीयपरिच्छेदमारभमाणस्तत्र लक्षयितव्यानां  
तत्तद्विशेषालङ्काराणां निरूपणं सामान्यलक्षणनिरूपणानन्त-  
रमेव सुप्रतिपादमिति प्रथममलङ्काराणां सामान्यलक्षणं  
निरूपयति । काव्यशोभाकरानिति । काव्यस्य इष्टार्थव्यव-  
च्छिन्ना पदाबलीत्युक्तलक्षणस्य काव्यशरीरस्य शोभा श्लेषादि-  
गुणकृतवैचित्र्यं तच्च चमत्कारविशेषजनकज्ञानगोचरत्वं तत्क-  
रान् तदतिशयहेतुन धर्मान् शब्दार्थगतान् वर्णावृत्त्यादिसा-  
दृश्यादीन् अलङ्कारान् प्रचक्षते अलङ्कारेतिनाम्ना प्राञ्चो-  
व्यवहरन्ति यथा हारादयः शरीरस्य रूपयौवनादिकृत-  
शोभां पुष्पान्तोऽलङ्कारपदवाच्यास्तथा शब्दार्थरूपस्य काव्य-  
शरीरस्य श्लेषादिगुणकृतवैचित्र्यं पुष्पान्तोऽनुप्रासोपमादय इति

मते चाग्निन् गुणानामलङ्काराणाञ्च शब्दार्थगतत्वम्, इत्यञ्च काव्यशोभायाः कर्त्तारोगुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा इति गुणालङ्कारयोर्विवेक इति वामनायुक्तमादरण्यं । नव्यास्तु रमस्यैव धर्मा माधुर्याजःप्रसादास्त्रय एव गुणाः, हारादिवद्वाच्यवाचकलक्षणाङ्गताः स्वाश्रयशोभाजनमदाराङ्गिनोरमस्य शोभाजनका अलङ्काराः गुणालङ्काराणां विभिन्नाश्रयत्वादेव च भेद इत्याहुः, नैतत् समीचीनं मधुरोरस इत्याद्यनुभवसिद्धानां रसस्वरूपविशेषकाणां माधुर्यादीनां गुणत्वाङ्गीकारे यन्त्यकर्तृणां काव्ये तादृशगुणनिवेशाभ्यनुज्ञानवैफल्यात् सरसत्वप्रतिपादनाभ्यनुज्ञानेनैव तदभ्यनुज्ञानसिद्धेः तादृशगुणानां रसाव्यभिचारित्वात्, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थप्रयोगाय तदिति चेत् तर्हि तादृशव्यञ्जकताया एव गुणत्वं वक्तुमुचितं सौन्दर्यादेरात्मोत्कर्षकत्ववत् तस्या एव रसोत्कर्षकत्वात् उत्कर्षकस्यैव च गुणत्वात्, तादृशव्यञ्जकता च श्लेषादिधर्मवत्त्वरूपैव ततश्च सिद्धं श्लेषादीनामेव गुणत्वं शब्दार्थगतत्वञ्चेति । एवं स्वाश्रयशोभाजनद्वारा रमशोभाजनकत्वमलङ्कारत्वमित्यप्यविचारविजृम्भितं नव्यानां, नोरसेऽपि सकलालङ्कारिकैः काव्यतया स्वीकृते मल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यप्रभेदे चित्रे चोपमादीनामलङ्कारतापत्तेः न चेष्टापत्तिः, नथैरपि तत्र तेषामलङ्कारत्वेनेष्टत्वात् । यथा काव्यप्रकाशे । वस्तु वालङ्कृतिर्वापि षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् । वस्त्वलङ्कारमथवा तेनासौ द्वादशात्मक इति । शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतं । चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तमिति । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्ति-

वैचित्रमात्रपर्यावसायिन इत्यादिसन्दर्भश्च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्यर्शाऽस्तीति वाच्यं तर्हि सर्वत्रैवे-  
दृशरससङ्गावेनासंख्यत्वापत्त्या तेषां निरुक्तभेदकरणानौ-  
चित्यात् । न च नीरसस्थले रसोपकारयोग्यत्वमेवालङ्कारत्व-  
मस्त्विति वाच्यं योग्यताया निर्वृक्तमशक्यत्वात् कारणतावच्छे-  
दकधर्मवत्त्वस्य तथात्वे च तादृशधर्माणामननुगमात्, तस्मात्  
देहस्य रूपयौवनादय इव शब्दार्थयोः श्लेषादय एव गुणाः  
सौन्दर्योपकृतस्यात्यन्तोत्कर्षजनकाहारादय इव श्लेषाद्युपकृत-  
योस्तयोः शोभातिशयजनका अनुप्रासोपमादयोऽलङ्कारा इति  
प्राचां मतमेव साधीयः समुक्तसतीति सुधीभिर्विवेचनीयम् ।  
उक्तञ्च, यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योऽप्युपरिव यौवनबन्ध्यमङ्गना-  
याः । अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्र-  
यन्ते इति । इत्थं सामान्यलक्षणमभिधाय वक्तव्येषु विशेषलक्ष-  
णेषु स्वस्यासामर्थ्यं प्रकाशयन्नौद्धत्यं परिहरति । ते चेति । कः  
पण्डितमन्यः, तानलङ्कारविशेषान्, कार्त्स्न्येन सम्पूर्णतया सप्रभं-  
दानित्यर्थः, वक्ष्यति वक्तुं शक्यति, भाविप्रयोगेन पूर्वं न को-  
ऽप्यवोचत् परञ्च न कोऽपि वक्तुं शक्यतीति सर्व्वथा ते कार्त्स्न्येन  
दुर्व्वचा इति सूचितम् । यतस्ते चालङ्कारविशेषा अद्यापि विक-  
ल्पन्ते विविधेन भणितिभङ्गीप्रकारेण कल्पन्ते नवीनैरुद्गा-  
यन्ते प्राचीनोक्तलक्षणा एव ते किञ्चिद्वैचित्र्यमुद्गाय्य वञ्जसीक्रि-  
यन्त इत्यर्थः । अतः कल्पनाया अविरामात् इयत्तया निरूपणं  
सुदूरपराहतमिति भावः ॥ १ ॥

किन्तु वीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।  
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥ २ ॥

तर्हि किमलङ्कारविशेषा भक्ता न निरूपणीया इत्या-  
शङ्क्याह । किन्त्विति । किन्तु विकल्पानां नवीनैर्विकल्पनी-  
यानामलङ्कारभेदानां वीजं सामान्यलक्षणरूपं मूलं पूर्वा-  
चार्यैः प्रदर्शितं, यथा नवीनैरुद्गावितानामुपमाभेदानां वीज-  
भूतं पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितं सादृश्यमुपमेत्युपमासामान्यलक्षणं  
तदुपजीव्यैव भेदानां प्रवर्त्तितत्वात् एवं रूपकादिभेदानां रूप-  
कादिसामान्यलक्षणमिति । प्रदर्शितमित्यत्र च प्रायेणेति बोध्यं  
नवीनैरुद्गावितानां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषाणां सामान्यलक्ष-  
णस्य पूर्वाचार्यैरनुक्तत्वात्, यथा निश्चयोलेखादयो नवीना-  
लङ्काराः प्राचीनैरनुक्तलक्षणाः । तदेवेति । विकल्पमूलभूतं  
पूर्वाचार्याक्तं सामान्यलक्षणमेव परिसंस्कर्तुं स्फुटशब्दाभिधा-  
नादिना विशदयितुम् । अयमस्मत्परिश्रम इति । सामान्यल-  
क्षणान्येव मया विशदोक्रियन्ते । कश्चिद्वैचित्र्येण भेदाः सम्भवन्ति  
चेत् स्वयमूहनीया इति भावः । एतच्चौद्धत्यपरिहारार्थमे-  
वेत्वेत् स्वयमेवोपमादिभेदानां निरूपयिष्यमाणत्वादिति ध्ये-  
यम् ॥ २ ॥

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्कियाः ।

साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ ३ ॥

अलङ्कारनिरूपणप्रतिज्ञया पूर्वनिरूपितानां श्रुत्यनुपा-

सादीनामपि पुनर्निरूपणप्रसक्त्या निरूपितायां निरूपणं पि-  
 ट्पेषणवद्विफलमिति मन्यमानस्तद्विज्ञानां निरूपणं प्रतिजा-  
 नीते । काश्चिदिति । मार्गविभागार्थं गौडवैदर्भ्यमार्गयोः प्रस्फु-  
 टान्तरत्वप्रतिपादनार्थं । काश्चिदलङ्कियाः श्रुत्यनुप्रासश्चेकवृ-  
 त्त्यनुप्रासयमकरूपालङ्काराः । उक्ता इति । यथा कयाचिच्छ्रु-  
 त्या यत् समानमनुभूयत इत्यादिना श्रुत्यनुप्रास उक्तः, तथा  
 वर्णावृत्तिरनुप्रास इत्यादिना केकवृत्त्यनुप्रासावुक्तौ । आवृत्तिं  
 वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुरित्यनेन यमकञ्च । अतो वैफ-  
 ल्यान्नेते पुनर्निरूपयिष्यन्ते इति भावः । अन्यदेतेभ्योभिन्नं । सा-  
 धारणं गौडवैदर्भ्ययोः समानं, स्वभावाख्यानादीनां द्वयोरपि  
 मार्गयोर्निवेशनीयत्वात् । श्रुत्यनुप्रासादयस्वसाधारणा एव  
 गुणनिरूपणप्रकरणे ज्ञातव्याः । तृतीयपरिच्छेदे यमकस्य पुन-  
 र्निरूपणन्तु प्रभेदप्रदर्शनार्थमेवेति बोध्यम् ॥ ३ ॥

स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती ।

अक्षेपोऽर्थान्तन्यासे व्यतिरेकोविभावना ॥ ४ ॥

समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः स्रष्ट्मोलवः क्रमः ।

प्रेयोरसवदूर्जस्विपर्यायोक्तं समाहितम् ॥ ५ ॥

उदात्तापङ्गुतिश्लेषविशेषास्तुल्ययोगिता ।

विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥ ६ ॥

सहोक्तिः परिवृत्त्याशीःसङ्कीर्णमथ भाविकम् ।

इति वाचामन्त्रङ्कारा दर्शिताः पूर्वस्वरिभिः ॥ ७ ॥



प्रतिज्ञातमलङ्कारजातमुद्दिशति । स्वभावाख्यानमित्यादि ।  
 स्वभावाख्यानं स्वभावोक्तिः । दीपकावृत्ती इति, आवृत्तिरा-  
 वृत्तिः । आङ्पूर्वात् वृत्तुवर्त्तने इत्यस्माद् ब्रूनादित्वादिप्र-  
 त्ययः । समासः समासोक्तिः, अतिशयोऽतिशयोक्तिः । समाहितं  
 समाधिः । अप्रस्तुतस्तोत्रमप्रस्तुतप्रशंसा । इति पञ्चत्रिंशल्लङ्काराः ।  
 वाचां काव्यवाक्यानां, स्वभावाख्यानादीनामेषां प्रायेणार्थनिष्ठ-  
 त्वेऽपि वाक्यालङ्कारत्वं शब्दतदर्थयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्, यदाह  
 पातञ्जलसूत्रभाष्ये भगवान् व्यासः, स्थितोऽस्य वाचकस्य वाच्येन  
 महाभेदः सम्बन्ध इति । पूर्वसुरिभिर्दर्शिता इत्यनेन एतानेव  
 परिसंस्करोमि नत्वन्यान् नवीनैरुद्गावितान् निश्चयोऽस्त्रेखादीन्,  
 तादृशयत्किञ्चिद्वैचित्र्यावलम्बनेनालङ्कारान्तरकल्पने सहस्रश-  
 स्तद्भेदसम्भवादिति सूचितम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कारित्यथा ॥ ८ ॥

तत्र प्रथमं सकलशास्त्रकाव्येष्वीप्सितत्वेनाभ्यर्चितत्वात् स्वभा-  
 वाख्यानमुद्दिष्टं, तदेव लक्षयति । नानावस्थमिति । सा अल-  
 ङ्कारेषु प्रसिद्धा आद्या प्रथममुद्दिष्टा अलङ्कृतिः स्वभावोक्तिश्च  
 जातिश्चेति नामद्वयवतीत्यन्वयः । स्वरूपमाह कीदृशी नाने-  
 त्यादि । पदार्थानां जातिक्रियागुणद्रव्याणां नाना अनेका  
 अवस्था विशेषो यस्य तत्, रूपं वर्णसंस्थानाद्यात्मकमसाधारणं  
 धर्ममित्यर्थः साक्षाद्विवृण्वती सूक्ष्मत्वाद्दुर्लक्षमपि प्रत्यक्षमिव दर्श-

यन्ती । इत्यञ्च वर्णनाविशेषेण वस्तुनः सूक्ष्मस्वरूपस्फुटीकरणं स्वभावोक्तिरिति लक्षणम् । नानावस्थमित्यनेन एकावस्थवस्वरूपवर्णने न वैचित्र्यातिशय इति नालङ्कारता, यथा, “अम्बो-दमुदितं दृष्ट्वा मुदा नृत्यन्ति वर्हिण” इति अत्र नर्तनमात्रं वर्णितम् । रूपमिति क्रियोपलक्षणं । यदुक्तं प्रकाशकता । स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनमिति । इदञ्च रूपं सहजमागन्तुकञ्च । यदुक्तं । स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते । निजमागन्तुकञ्चेति द्विविधं तदुदाहृतमिति । ये तु वस्तुस्वभावस्फुटीकरणरूपामर्थशक्तिमर्थगुणमाहस्तेषां मते स्वभावोक्तेर्गुणत्वमेव नालङ्कारत्वमिति बोध्यं । भोजराजस्तु सार्वकालिकस्य वस्तुरूपस्य गुणत्वमागन्तुकस्यालङ्कारत्वमाह । यथेति उदाहरणदर्शनसङ्गतिः ॥ ८ ॥

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।

त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शूकाः ॥ ९ ॥

श्लोकचतुष्टयेन क्रमेण जात्यादिचतुष्टयरूपस्फुटीकरणमुदाहरति । तुण्डैरिति । तुण्डैर्मुखैः ‘आताम्राणि कुटिलानि वक्राणि चेति तैः, विशेषणयोः कर्मधारयः । एवमन्यत्र । हरिताः पालाशवर्णाः कोमलाश्च तैः । त्रिवर्णा हरितरक्तधूमरवर्णवती राजी रेखा यत्र तैः । सर्वत्र उपलक्षणे तृतीया । अत्राताम्रकुटिलतुण्डत्वादिकं शुकजातीनामसाधारणं रूपं संस्थानञ्च श्रोतृभिः कथाञ्चिदनवधानात् पूर्वमलक्षितमपि कत्रिवर्णनया

साक्षादिवानुभूयते । शुकानामनेकत्वाच्छुकशब्दोजातिवाचकः ॥ ९ ॥

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेशणः ।

पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुशुम्बति प्रियाम् ॥ १० ॥

क्रियागतस्वभावाख्यानमुदाहरति । कलेति । कण्ठेनेति उपलक्षणे द्वितीया, तेन चुम्बनात् प्रागेव कण्ठस्य कलक्वणितगर्भत्वं चुम्बनकाले तदभावात् । चुम्बतीति पारावता हि एवंविधा भूत्वा चुम्बन्तीति पारावतचुम्बनक्रियास्वभावोऽयम् ॥ १० ॥

बध्नन्ङ्गेषु रोमाच्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।

नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

गुणगतमुदाहरति । बध्नन्निति । बध्नन् जनयन् । निर्वृतिमानन्दातिशयम् । आमोलयन् मुद्रयन् । प्रियास्पर्श इति स्पर्शस्य गुणत्वाद्गुणगतोऽयम् ॥ ११ ॥

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः ।

जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीदृषध्वजः ॥ १२ ॥

द्रव्यगतमुदाहरति । कण्ठेकाल इति । कण्ठेकालपदमलुक्समासनिष्पन्नं । कपालेनेति जटाभिरिति च विशेषणे

तृतीया । अत्र वृषध्वजशब्दोयादृच्छिकः संज्ञायां सङ्केतितः  
संज्ञैव द्रव्यं संज्ञासंज्ञिनोरभेदाच्च संज्ञी शिवोऽपि द्रव्यं तस्य  
च कण्ठेकालत्वादिकमसाधारणं रूपं प्रकटीकृतमितिद्रव्य-  
गतोऽयम् ॥ १२ ॥

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥ १३ ॥

स्वभावोक्तिमुपसंहरति । जातीति । अत्र द्रव्यपदं वैयाक-  
रणपरिभाषितैकव्यक्तिवाचकशब्दप्रतिपाद्यरूपद्रव्यपरं नतु वै-  
शेषिकोक्तचित्यादिद्रव्यपरं तेषां जातिपदेन ग्रहणात् । जाति-  
क्रियागुणद्रव्याणां स्वभावाख्यानमसाधारणरूपस्फुटोकरणमी-  
दृशमेवंविधं पूर्वश्लोकचतुष्टयप्रदर्शितया दिशान्यत्रापि ज्ञातव्य-  
मित्यर्थः । जातिक्रियागुणद्रव्यैरिति तृतीयान्तपाठे पूर्वश्लोक-  
चतुष्टये क्रमेण सविशेषणतयोपन्यस्तैर्जातिक्रियागुणद्रव्यैः कृत्वा  
स्वभावाख्यानमीदृशं बोद्धव्यमित्यन्वयः । शास्त्रेष्विति शास्त्रेषु  
पदार्थस्वरूपनिरूपणप्रधानेषु वैशेषिकदर्शनादिषु पुराणतिहा-  
सादिषु च साम्राज्यं वाङ्मयम् । अस्यैवेति एवकारेण अलङ्का-  
रान्तराणां शास्त्रेषु नात्यन्तोपयोग इति सूचितम् । निजा-  
पयोगं दर्शयति काव्येष्वपीति, एतत् स्वभावाख्यानम्, ईप्सित-  
मिति अलङ्कारान्तरापेक्षया एतद्वैचित्र्यं हि विलक्षणमेवेति  
सहृदयैरादृतमित्यर्थः ॥ १३ ॥

यथा कथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।

उपमा नाम सा, तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्शयते ॥ १४ ॥

उपमां लक्षयति । यथेति । यत्र वैचित्रे यथा कथञ्चिद्-  
 भूतं सादृश्यं प्रतीयते, सा वैचित्ररूपा उपमा नामेत्यन्वयः ।  
 यत्रेति विषये सप्तमी विषयश्च प्रतिपाद्यरूपः । इत्यञ्च वै-  
 चित्रजनकं सादृश्यमुपमेति लक्षणं, वैचित्रं प्रस्तुतोत्कर्षजन्य-  
 चमत्कारस्तेन चमत्कारस्याजनकं सादृश्यं नोपमालङ्कारः  
 यथा गौरिव गवय इत्यादौ, अतएव रसगङ्गाधरे, सादृश्यं  
 सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कारितिरित्युपमालक्षणे सुन्द-  
 रमिति सादृश्यविशेषणमुपन्यस्तं, सौन्दर्यं चमत्कृत्याधायकत्वं  
 चमत्कृतिरानन्दविशेष इति व्याख्यातञ्च । यथा कथञ्चि-  
 दिति, येन केनापि धर्मण गुणेन क्रिययान्येन वेत्यर्थः ।  
 यथा हंसीव धवला कीर्त्तिरित्यादौ धावल्यरूपगुणेन, सली-  
 लमियमायाति बधूर्गजबधूरिवेत्यादावागमनक्रियया, आ-  
 काशः काशतेऽत्यर्थं शिववद्विधुभूषण इत्यादौ च विधुरूप-  
 द्रव्येण सादृश्यम्, एवमन्यत्रापि बोध्यम् । एते च गुणा-  
 दयोधर्माः क्वचिदुपात्ताः, क्वचिदनुपात्ता अपि सामर्थ्या-  
 वसेयाः, तत्रोपादाने पूर्वादाहरणानि । अनुपादाने यथा,  
 “मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये । वाचः सुधा  
 इवौष्ठस्ते विम्बतुल्यमनोऽश्नवत्” इत्यादि, अत्र मुखेन्दु-  
 प्रभृतीनां स्फुटसादृश्यानां मनोज्ञत्वादयोधर्मा अनुपात्ता

अपि सामर्थ्यादवसीयन्ते। उद्भूतमिति प्रस्फुटमित्यर्थः, प्रस्फु-  
 टत्वञ्च वैचित्रान्तरानिगोर्णवैचित्रजनकत्वं, ततश्च रूपकादौ  
 सादृश्यप्रतीतिजन्यवैचित्रमस्यैव परन्तु तत् ताद्रूप्यादिप्र-  
 तीतिजन्यवैचित्रस्य कुत्तिनिन्नीनमिति न तत्रोपमात्वप्रसक्तिः,  
 अतएव रूपकदीपकादावुपमाया गुणीभूतत्वमुक्तं विश्वनाथेन,  
 ध्वनिकारेणापि, अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।  
 तत्परत्वं न काव्यस्य, नामौ मार्गाध्वनेर्मत, इत्यनेनाप्रधाना-  
 लङ्कारस्य ध्वनित्वं प्रतिषिद्धं। एवञ्च व्यतिरेके इवादि-  
 शब्दप्रयोगेन सादृश्यस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वेऽपि नोपमा-  
 व्यतिरेकयोः साङ्कर्यम्, भेदप्रतीतिजन्यवैचित्रेण सादृश्यप्र-  
 तीतिजन्यवैचित्रस्य तिरोहितत्वात्, अङ्गाङ्गिभावसाङ्कर्यस्यैव  
 तु सादृश्यजन्यवैचित्रं न तिरोधीयते, परन्तु पर्यालोच-  
 नया प्रधाननिर्व्वाहकत्वप्रतीत्या पश्चादङ्गत्वेन प्रतीयते इति  
 विवेचनीयम्। सादृश्यमिति। सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इति  
 केचित् साधर्म्यमित्यन्ये, साधर्म्यञ्च उपमानोपमेययोरैव धर्म-  
 वत्त्वम्, एकत्वञ्च धर्माणां क्वचिदन्तुतोऽभिन्नत्वं क्वचिदेकजाती-  
 यत्वं क्वचिदेकशब्दप्रतिपाद्यत्वं क्वचिदेकधर्मवत्त्वञ्च, तत्र गुण-  
 क्रियायदृच्छानां साधर्म्यत्वे प्रथमं, तेषामभिन्नत्वस्य वैयाकर-  
 णैरङ्गीकृतत्वात्, तदुक्तं प्रकाशकृता, गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत  
 एकरूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्ग-  
 मुकुरतैलाद्यालम्बनभेदादिति, द्रव्यसामान्यादीनां तथात्वे द्वि-  
 तीयम्, एकजातीयत्वञ्च एकजातिमत्त्वं जातिपदस्योपाध्युपल-

सकं । श्लिष्टपदोपस्थाप्यत्वे हतीयं, तत्र शब्दश्लेषे, सकलकलमु-  
रमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिवेत्यादि अत्र सकलकलप-  
दस्य कलकलमदितं, कलासमुदाययुक्तञ्चेत्यर्थः, एवमर्थश्लेषे-  
ऽपि । विम्बानुविम्बतायां चतुर्थं । यथा भस्मापवर्जितैस्तेषां  
शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् । “तस्तार सरघाव्याप्तैः स चौद्र-  
पटलैरिव” इत्यादि, अत्र श्मश्रुत्वसरघाव्याप्तत्वयोर्धर्मयोरे-  
ककृष्णत्वादिगुणयोगादेकत्वम् । इत्थं सर्वं मगञ्जमं । माधर्म्यप-  
दस्य सदृशधर्मवच्चार्थकत्वे तु आत्माश्रयापत्तिर्दुर्वारेति सुधी-  
भिर्विभावनीयम् । इदञ्च सादृश्यं द्वयोरेवेति न नियमः एक-  
स्यैवोपमानोपमेयत्वरूपस्यानन्वयस्योपमालेन ग्रन्थकृताङ्गीकरि-  
ष्यमाणत्वात् एकस्य तथात्वञ्च तत्रैव समर्थयिष्यामः । एवं  
वाक्यद्वयगता उपमेयोपमा च स्वमते उपमैवेति तदर्थं सादृश्यस्य  
वाक्यैकगतत्वविशेषणं न देयम् । प्रतीयते इति अभिधयै-  
वेति न नियमः, लक्षणया व्यञ्जनया वा प्रतीयमानस्य सा-  
दृश्यस्योपमालाभ्युपगमात् रूपकादावतिव्याप्तिस्तु पूर्वोक्तयुक्त्या  
परिहरणीया, तत्र इवादिप्रयोगे वाच्यं तदप्रयोगे क्वचि-  
लक्ष्यं क्वचिद्वाङ्मिति सर्वमेतद्वक्ष्यमाणोदाहरणेषु स्फुटीभवि-  
ष्यति । तस्या इति, अयं वक्ष्यमाणप्रकारः प्रपञ्चोविस्तारः  
नानाविधत्वमित्यर्थः, निदर्शयते उदाह्रियते ॥ १४ ॥

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।

इति धर्मोपमा साक्षात्तुल्यधर्मप्रदर्शनात् ॥ १५ ॥

अथ प्रतिज्ञातमुपमाप्रपञ्चं क्रमेण सोदाहरणं निरूपयन् प्रथमं साधारणधर्मसोपादानानुपादानप्रयुक्तं धर्मवस्त्रूपमानामकं भेदद्वयं श्लोकद्वयेन दर्शयति । अम्भोरुहमिवेति । अम्भोरुहं कोकनदं तस्यैवाताम्रत्वसम्भवात् । अम्भोरुहमिवेति पदं समस्तम्, इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्चेत्यनुशासनात् । अम्भोरुहपदञ्च अम्भोरुहमदृशे लक्षणिकम् इवशब्दः सादृश्यद्योतक इति केचित् एतन्मते सादृश्यं लक्षणागम्यम् । अन्ये तु इवशब्द एव षष्ठोवदुपमानोपमेययोः सादृश्यलक्षणं सम्बन्धमभिधया बाधयति सादृश्ये चोपमानोपमेययोरम्भोरुहकरतलयोः प्रतियोगित्वानुयोगित्वाभ्यामन्वयः, ततश्च अम्भोरुहप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगि करतलमित्यन्वयबाधः इवस्य षष्ठोम्यानीयतया च तदर्थं सादृश्ये उपमानोपमेययोरन्वये, नामार्थयोर्भेदसम्बन्धेनान्वयोऽव्युत्पन्न इति नियमान् प्रतिबध्नाति सादृश्यस्य विभक्त्यस्यानीयत्वात् द्वारीभूतेन तेन चोपमानस्योपमेयेन नहान्वयो निर्बाध एव, निपातातिरिक्तत्वेन वा निरुक्तनियमवाक्यघटकनामपदं विशेषणीयमित्याद्याहुः । अत्र प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोर्भानं संमर्गमर्थ्यादया, न चोपमानोत्तरविभक्तिरेव प्रतियोगित्वं बाधयत्विति वाच्यं तादृशविभक्तेस्तदर्थं विधानस्यानुशासनाभावात् नन्विवपदस्य सादृश्यवाचकत्वाभ्युपगमे तदर्थं सादृश्ये उपमानस्य भेदेनान्वये चन्द्र इव मुखं भाति चन्द्रमिव मुखं पश्यामि चन्द्रेणैव मुखेन शोभते इत्यादौ



उपमानोपमेयपदयोः कथं समानविभक्तिकत्वम्, अभेदान्वय-  
 स्थल एव विशेषणविशेष्ययोः समानविभक्तिकत्वनियमात्, लक्ष-  
 णावादे तु तयोरभेदेनान्वयात् सम्भवत्येव तदिति चेन्न अभे-  
 दान्वयस्थलवदुपमानोपमेयभावस्थलेऽपि समानविभक्तिकत्वस्य  
 तन्त्रत्वात्, यदुक्तं, विभक्तिः पुनरेका स्यादुपमानोपमेययोरिति ।  
 अत्र साधारणधर्मस्याताम्रत्वस्य प्रथममुपमेयभूतकरतलेनैवा-  
 न्वयः न तदुपमानभूतेनाम्भोरुहेण, तस्य समस्तैकदेशपदबोध-  
 त्वात्, तद्गतत्वेन प्रतीतिस्तु पर्यालोचनयान्वयबोधोत्तरमेव,  
 अतएव धर्मस्य साधारणत्वप्रतीतिस्तथैव च वैचित्र्यमिति प्रसङ्गा-  
 दुक्तम् । इतीति । इत्येवं साधारणधर्मप्रयोगस्थले । धर्मापमे-  
 ति धर्मापादानेनेयमुपमा अतो धर्मापमेत्यर्थः । अत्र हेतुमाह  
 साक्षादित्यादि । साक्षात् शब्देन प्रतिपादितस्य तुल्यस्य सा-  
 धारणस्य धर्मस्याताम्रत्वस्य प्रदर्शनात् ज्ञानात् । अत्रैवशब्द-  
 प्रयोगश्रवणमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धप्रतीतेः  
 श्रौती, उपमानोपमेयसाधारणधर्मसादृश्यवाचकानां चतुर्णां  
 प्रयोगात् पूर्णा चेत्यमुपमा, उत्तरश्लोके धर्मानुपादानाच्च लुप्रेति  
 नव्यानां भेदकरणं, तत्राचीनैरनङ्गीकृतमित्यनादृत्य ग्रन्थकृता  
 प्राचीनमतानुसारेणैव भेदाः प्रदर्शिताः । तथाचाग्नेये, यत्र  
 साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽथवा । ते धर्मावस्तुप्राधान्या-  
 द्धर्मावस्तूपमे उभे इति । एवमन्येषामपि दर्शयिष्यमाणभेदानां  
 मूलमनुसर्त्तव्यम् ॥ १५ ॥

राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ।  
इयं प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा ॥ १६ ॥

राजीवमिति । प्रतीयमानो गम्यमानः वाचकशब्देना-  
प्रतिपाद्यमान इत्यर्थः एकः साधारणो धर्मा मनोज्ञत्वादि-  
को यत्र सा, अतो वस्तूपमैव वस्तुनोरुपमानोपमेययोरेवोपा-  
दानेनेयमुपमा वस्तूपमा । स्फुटसादृश्यानां साधारणधर्म-  
प्रयोगमन्तरेणाद्यौपम्यप्रतीतिसम्भवादिति भावः । धर्मस्य प्र-  
तीयमानत्वञ्च शाब्दबोधानन्तरं सादृश्यनिर्वाहकतयापेक्षणी-  
यत्वात् नहि धर्मं विना साधर्म्यं सम्भवति । यत्र सादृश्य-  
मस्फुटं तत्र धर्मापादानमन्तरेण नोपमानिर्वाहः यथा  
सकलकलं पुरमित्यादिप्रागुक्तश्लोके सकलकलमित्यंशानुक्तौ,  
नहि सुधांशुविम्बपुरयोर्लोकप्रसिद्धं सादृश्यं किमप्यस्ति अत-  
एवैवंविधस्यले उपमाया अनुचितार्थत्वदोषकवलितत्वं नञ्छे-  
रभिहितं यथा यथासि काव्यशशिनमित्यादि । सकलकले-  
त्युपादानेनैव तु तत्प्रतीतेः, तस्मादेवंविधस्यले न वस्तूपमायाः  
सम्भव इति विवेचनीयम् ॥ १६ ॥

तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।

सा प्रसिद्धिविपर्यासाद्विपर्यासोपमेष्यते ॥ १७ ॥

विपर्यासोपमामाह । तवेति । प्रसिद्धिविपर्यासादिति  
प्रसृतत्वेन वर्णनीयानां मुखादीनामुपमेयत्वं तदुत्कर्षकतयोपन्य

स्तानां चन्द्रारविन्दादीनामुपमानत्वमिति प्रसिद्धिः तस्यावि-  
पर्यायो वैपरीत्यम्, अत्युत्कर्षप्रतिपादनार्थं मुखादीनामुपमा-  
नत्वं चन्द्रादीनामुपमेयत्वमित्यर्थः तस्माद्विपर्यायोपमाख्येयमुप-  
मेत्यर्थः । तथाहि आननमिवेत्यत्र इवान्तस्योपमानत्वनियमा-  
दाननस्य तथात्वेनापमानत्वप्रतीत्या प्रसिद्धेर्विपर्यायः । नव्यास्तु  
यत्र प्रसिद्धोपमानमपि प्रस्तुतत्वात् प्रसिद्धोपमेयेनोपमीयते  
तत्र नोपमा किन्तु प्रतीपाख्योऽलङ्कार इत्याहुः, यथाह वि-  
श्वनाथः । प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वा-  
भिधानम्वा प्रतीपमिति कथ्यत इति । यथा यत्त्वन्नेत्रसमान-  
कान्ति सलिले मयं तदिन्दीवरं मेघैरन्तरितः प्रिये तत्र  
मुखच्छायानुकारी शशी । येऽपि तद्गमनानुकारिगतयस्ते  
राजहंसागतास्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि नो दैवेन न चम्यते  
इति ॥ १७ ॥

तवाननमिवाभोजमभोजमिव ते मुखम् ।

इत्यन्योऽन्योपमा सेयमन्योऽन्योत्कर्षशंसिनी ॥ १८ ॥

अन्योऽन्योपमामाह । तवेति । अन्योऽन्योत्कर्षशंसिनीति अ-  
भोजस्योपमानतया मुखस्योत्कर्षः मुखस्य चोपमानतायाभोज-  
स्योत्कर्षस्तच्छालिनी तदोधिका, अत्र द्वयोरेव मुखाम्भोजयोः  
प्रस्तुतत्वं बोध्यम् अभोजस्याप्रस्तुतत्वे तदुत्कर्षप्रतिपादनप्रयास-  
वैफल्यात् प्रस्तुतोत्कर्षप्रतिपादनार्थमेव घन्यकृतां गुणालङ्कार-  
निवेशनाभ्यनुज्ञानात् । ननु न्यूनगुणेनोपमेयो नोपमीयमानस्यापि

गुणाधिकस्योपमानस्योत्कर्षः कथमिति चेन्न अन्योऽन्यस्योपमा-  
 नोपमेयत्वेनानन्यसदृशत्वप्रतिपत्त्या तन्नाभात् । इतीति । इति  
 इत्थं पूर्वार्द्धप्रदर्शितप्रकारेणेत्यर्थः, तेन पर्यायेणोपमानोपमेय-  
 त्वलाभः तस्यैव वैचित्रातिशयजनकत्वात् अतएव मुखमम्भोजञ्च  
 तुल्यमित्यादौ परस्परस्योपमानोपमेयत्वप्रतीतावपि वैचित्राभा-  
 वान्नास्याः सम्भवः, पर्यायौपम्यस्यैकवाक्ये न सम्भवतीति वाक्य-  
 द्वयगतत्वमस्या बोध्यं । नव्यास्तु पर्यायौपम्ये उपमेयोपमेति  
 नामकमलङ्कारान्तरमिच्छन्ति यथाह विश्वनाथः, “पर्या-  
 येण द्वयोरितदुपमेयोपमा मता” इति । अत्राननं मुखमिति  
 प्रक्रमभङ्गः प्राचां निरङ्कुशत्वात् मोढव्यः ॥ १८ ॥

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित् ।

इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा ॥ १९ ॥

नियमोपमामाह । त्वन्मुखमिति । कमलेनैतेत्येवकारव्यव-  
 च्छेद्यं नान्येन केनचिदिति । अन्यसाम्यव्यावृत्तेरन्यसाम्यव्यावृ-  
 त्तिजनितवैचित्रात्, बहुपमानसद्भावो हि प्रस्तुतस्य निकर्षं  
 ख्यापयति तद्व्यावृत्त्या प्रकृतमनेकेन साम्यप्रतिपादनन्तु प्रक-  
 र्षातिशयमिति वैचित्रातिशयः ॥ १९ ॥

पद्मं तावत्तवान्वेति मुखमन्यच्च तादृशम् ।

अस्ति चेदस्तु तत्कारित्यसावनियमोपमा ॥ २० ॥

नियमोपमानन्तरमनियमोपमां दर्शयति । पद्ममिति ।  
 पद्मं तावत्तव मुखमन्वेति सदृशीकरोति अन्यच्च तादृशं पद्म-

वदतिसुन्दरं वस्तु चन्द्रादिकं तत्कारि तन्मुखानुकारि अस्ति  
चेदस्त्वित्यन्वयः । इत्यस्मात् अनुकारकर्तृनियमाभावादित्यर्थः ।  
अत्र पद्ममिति कर्तृपदं मुखमिति कर्मपदं तेन च मुखस्योप-  
मानत्वं तत एव वैचित्रातिशयः वैपरीत्ये तु न तथेति प्रसिद्धो-  
पमेयस्योपमानत्व एवेयमुपमेति बोध्यम् ॥ २० ॥

समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव ।

ह्लादनाख्येन चान्येति कर्मणेन्दुमितीदृशी ॥ २१ ॥

समुच्चयोपमामाह । समुच्चयोपमेति । कान्त्यैव केवलं कान्त्या ।  
चकारः समुच्चयद्योतकः । कर्मणा क्रियया च । अत्र गुणक्रिययोः  
समुच्चयः, एवं केवलगुणसमुच्चये केवलक्रियासमुच्चयेऽन्यसाधा-  
रणधर्मसमुच्चये च समुच्चयोपमा ज्ञातव्या ॥ २१ ॥

त्वय्येव तन्मुखं दृष्टुं दृश्यते दिवि चन्द्रमाः ।

इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ॥ २२ ॥

अतिशयोपमां दर्शयति । त्वय्येवेति । पूर्वाद्धं मुखचन्द्र-  
मसौर्विभिन्नाश्रयत्वप्रतिपादकम् । तस्मादियत्येवं भिदा आश्रय-  
मात्रकृताभेदः । नान्या न गुणक्रियादिकृता । इत्यस्मादतिश-  
योपमा, अतिशयः प्रस्तुतस्योत्कर्षाधिक्यं स च गुणक्रियाकारा-  
दिभिः सत्यपि महति भेदे नान्येत्यनेनाभिन्नत्वाध्यवसानप्रति-  
पाद्यः ईदृशातिशयश्च भेदान्तरेषु नास्तीत्येतद्भेदस्यैव तथात्वेन  
व्यपदेशः । अत्र साम्यं वाचकशब्दाप्रयोगद्वयन्नयैव गम्यते व्यञ्जना

च वक्तृवैशिष्ट्यसचिवया भेदाभेदप्रतीत्या प्राप्तप्रसरा, न च रूप-  
कध्वनिरयं भिन्नाश्रयत्वेन भेदस्य स्फुटतया प्रतिपादितत्वात्  
नापि व्यतिरेकः उपमानादुपमेयस्याधिकतायामतात्पर्यात्  
तस्मादुपमेयेयमिति विवेचनीयम् ॥ २२ ॥

मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्यनैः ।

पद्मेऽपि सा यदस्येवेत्यसावुत्प्रेक्षितोपमा ॥ २३ ॥

उत्प्रेक्षितोपमां दर्शयति । मय्येवेति । मुखश्रीर्मुखश्रीसजा-  
तोया श्रीरिति निदर्शनागर्भेयमुक्तिः । विकत्यनैरात्मस्नाघनैः ।  
सा मुखश्रीः । उत्प्रेक्षितोपमेति, निरुक्तस्नाघा हि इन्दो परमा-  
र्थतो नास्येव केवलं चाटुकारेण सम्भावनया कल्पिता सम्भावना  
चोत्प्रेक्षा तन्मूलत्वादियमुत्प्रेक्षितोपमेत्यर्थः । अत्रापि साम्यं व्य-  
ञ्जनागम्यम् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ २३ ॥

यदि किञ्चिद्भवेत्पद्मं सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम् ।

तत्ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥ २४ ॥

अद्भुतोपमां दर्शयति । यदीति । तत्तदा, अद्भुतोपमेति वि-  
भ्रान्तलोचनत्वादयोःधर्मा मुखस्यैव तत्प्रतियोगिनि पद्मे तु तेषां  
सम्भावनया मिथःसादृश्यद्योतनाच्चमत्कारातिशय इत्युपमाया  
अद्भुतत्वं, तथा चोक्तं । यत्रोपमेयधर्माः स्युरूपमानेऽधिरोपि-  
ताः । चमत्कारविधानार्थं तामाङ्गरद्भुतोपमामिति । नय्यास्तु  
यद्यर्थबलेनान्यधर्मस्यान्यत्र कल्पनेऽतिशयोक्त्याख्यमलङ्कारमिच्छ-  
न्ति । यदुक्तमतिशयोक्तिप्रस्तावे प्रकाशकृता । निगौर्याध्यव-

मानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् । प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च  
कल्पनमिति ॥ २४ ॥

शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।

इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ॥ २५ ॥

मोहोपमामाह । शशीति । त्वन्मुखं शशीति उत्प्रेक्ष्य सम्भाव्य  
अभिन्नत्वेन पूर्वं भ्रमविषयीकृत्येत्यर्थः अनन्तरं शशिनं दृष्ट्वा  
त्वन्मुखाशया त्वन्मुखमिदमिति बुद्ध्या इन्दुमपि अनुधावामि  
द्रष्टुं स्पृहयामीत्यन्वयः । मोहोपमेति मोहोभ्रान्तिः इन्दोर्मु-  
खत्वेन ज्ञानमित्यर्थः तेन सादृश्यद्योतनादियं मोहोपमेत्यर्थः ।  
उक्तञ्च । प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तनम् । उपमेयस्य  
यन्मोहोपमामौ भ्रान्तिमद्वच इति । एतेन नवीनैरङ्गीकृतस्य  
भ्रान्तिमदलङ्कारस्य प्राचामुपमात्वेन संग्रह इति बोध्यम् । अ-  
त्रापि शशीति इन्दिति प्रक्रमभङ्गः पूर्वोक्तरीत्या सोढव्यः ॥ २५ ॥

किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किन्ते लोलेक्षणं मुखम् ।

मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥ २६ ॥

संशयोपमामाह । किमिति । दोलायते" संशयानं भवति  
संशयस्य हेतुरत्र भ्रान्तालित्वलोलेक्षणत्वयोर्विम्बानुविम्बता ।  
संशयोपमेति संशयस्य सादृश्यपर्यवसायित्वादिति भावः । इत्य-  
ञ्च नवीनोक्तः सन्देहालङ्कारोऽपि प्राचामुपमेवेति न पृथङ्-  
निरूपयिष्यते उपमानोपमेयविषयकस्यैव संशयस्य नवीनैरल-  
ङ्कारत्वाभ्युपगमादिति बोध्यम् ॥ २६ ॥

न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरो द्युतिः ।  
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ॥ २७ ॥

निर्णयोपमामाह । नेति । यस्मादिन्दुनिग्राह्यस्य इन्दुना कृतनिग्रहस्य पद्मस्य इन्दोरलज्जाकरो द्युतिर्नास्ति निगृहीतस्य निग्राहकत्वाभावात्, अत इदं त्वन्मुखमेव, एवकारान्न पद्ममित्यर्थः । निर्णयोपमेति उपमेयस्य निर्णयभङ्गा सादृश्यद्योतनादिति भावः, निर्णयस्य च संशयोत्तरकालीनत्वात् प्रथममिदं त्वन्मुखम्वा पद्ममेति संशयोबोद्धव्यः संशयोत्तरस्यैव निर्णयस्यालङ्कारत्वात् । यदुक्तमग्निपुराणे, उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमेति । यथा, शिशुपालबधे । किन्तावत् सरसि सरोजमेतदारादाहोस्त्रिमुखमवभासते तरुण्याः । संशय्य चणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विष्वाकैर्वकसहवासिनां परोत्तरिति । अतश्च विश्वनाथादिभिरङ्गीकृतो निश्चयालङ्कारोऽणुपमैव नालङ्कारान्तरमिति बोध्यम् ॥ २७ ॥

शिशिरांगुप्रतिस्पर्द्धि श्रीमत्सुरभिगन्धि च ।  
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता ॥ २८ ॥

श्लेषोपमामाह । शिशिरांश्विति । शिशिरांगुः प्रतिस्पर्द्धि विरोधी यस्य तदित्यम्भोजविशेषणं । वक्त्रपक्षे तु शिशिरांशोः प्रतिस्पर्द्धिनी न्यक्कारजनिका या श्रीस्तद्वत् । श्लेषोपमेति । अत्र श्लेषपदमर्थश्लेषपरं शब्दश्लेषस्तु वक्ष्यमाणसमानोपमाविषयः ।



अत्र च प्रतिस्पर्द्धादिशब्दपरिवर्त्तनेऽपि श्लेषत्वानपायादर्थश्लेष-  
एव, शब्दपरिवर्त्तनासहत्वे तु श्लेषस्य शब्दगतत्वं यथोदाहरि-  
ष्यते । अत्रालङ्कारान्तरस्य श्लेषस्य सङ्गावेऽपि न तत्त्वेन व्यप-  
देशः श्लेषवैचित्र्यस्य प्रधाने सादृश्यवैचित्र्ये निलीनतया व्यप-  
देशकत्वाभावात् प्रधानेन व्यवदेशा भवन्तीत्युक्तेः ॥ २८ ॥

सरूपशब्दवाच्यत्वात् सा समानोपमा यथा ।

बालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी ॥ २९ ॥

समानोपमामाह । सरूपेति । समानं वाच्यभेदाद्भिन्नमपि  
स्मिष्टत्वेनैकमिव प्रतीयमानं रूपं तत्तद्वर्णात्मकं स्वरूपं यस्य ता-  
दृशो यः शब्दस्तेन वाच्यत्वात् साधारणधर्मस्योपस्थाप्यत्वात्,  
यदा युगपद्बुद्धयोपस्थापनद्वारा प्रयोज्यत्वात्, सा समानोप-  
मेति यत्र स्मिष्टशब्देन साधारणधर्मोपस्थितिः सा समानोपमे-  
त्यर्थः, क्वचित् सरूपोपमेति पाठः । बालेव युवतिरिव । साल-  
काननशोभिनीति सालकं सचूर्णकुन्तलं यदाननं तेन शो-  
भिनीत्युपमानविशेषणं । सालस्य सर्ज्वृक्षस्य काननेन शोभि-  
नीत्युपमेयविशेषणम्, अत्र भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः स-  
मानशब्दवाच्यत्वात् साधारण्यमिति पूर्वमेवोक्तम् । इत्यञ्चार्थ-  
श्लेषमूलकत्वे श्लेषोपमा पूर्वमुक्ता शब्दश्लेषमूलकत्वे तु समानोपमे-  
त्यनयोर्भेदः । एवञ्च पूर्वश्लोके शिशिरांशुपरिस्पर्द्धीत्यत्र शब्द-  
श्लेषः श्रीमत्सुरभिगन्धि चेत्यत्रार्थश्लेष इति केषाञ्चिन्निर्वचनम-  
नवबोधविजृम्भितम् ॥ २९ ॥

पद्मं बद्धरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।

समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ॥ ३० ॥

निन्दोपमामाह । पद्ममिति । बद्धरजो बद्धपरागम् अथच रजोगुणभृयिष्टं, क्षयी कृष्णपक्षे क्षयिष्णुः अथच क्षयरोगवान् । समानमपि गुणान्तरेण तुल्यमपि तवाननं ताभ्यां पद्मचन्द्राभ्यां सोत्सेकमधिकं रजस्वलत्वक्षयित्वाभावात् सोत्कर्षमित्यर्थः । ताभ्यामिति पञ्चम्यन्तम् । इत्युपमाननिन्दापूर्वकत्वान्निन्दोपमा । नचायं व्यतिरेकः साम्यमात्रपर्यावसायित्वेन वाक्यस्य भेदे तात्पर्याभावात् यत्र भेद एव तात्पर्यं तत्र व्यतिरेक इति वक्ष्यते ॥ ॥ ३० ॥

ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः ।

तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमेत्यते ॥ ३१ ॥

प्रशंसोपमामाह । ब्रह्मण इति । उद्भवत्यस्मादित्युद्भव उत्पत्तिस्थानं । सर्वजगतामुद्भवस्यापि ब्रह्मण उद्भवः, शम्भुना शिरसा नत्वङ्गान्तरेण धृत इति पद्मचन्द्रयोर्महतौ प्रशंसा तथा च प्रसृतमुखस्यापि प्रशंसोपमेति प्रशंसोपमेयं । किञ्च त्वन्मुखेन तुल्यावित्यत्र मुखस्योपमानतया प्रसिद्धोपमेयत्वविपर्ययासाद्विपर्ययोपमापि तदनयोः सङ्करः । अत्र पद्म इति पुल्लिङ्गपद्मशब्दो न बद्धभिः प्रयुक्त इत्यप्रयुक्तत्वं पूर्ववत् सहनीयं, पद्ममिति पाठः सम्यक् ॥ ३१ ॥

चन्द्रेण त्वन्मुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः ।  
स गुणोवास्तु दोषोवेत्याचिख्यासोपमां विदुः ॥ ३२ ॥

आचिख्यासोपमामाह । चन्द्रेणेति । आचिख्यासु, आख्या-  
तुमिच्छु । स आख्यानाभिलाषः गुणोवा दोषोवास्तु अनेन च  
हृद्गतभावप्रकटनया शारल्यद्योतनाच्चारुत्वातिशयः ॥ ३२ ॥

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्वदाननमिति त्रयम् ।  
परस्परविरोधीति सा विरोधोपमा मता ॥ ३३ ॥

विरोधोपमां दर्शयति । शतपत्रमिति । शतपत्रं पद्मं ।  
पद्मचन्द्रयोर्विरोधोविभिन्नकालीनशोभाशालित्वरूपः, ताभ्यां  
सहाननस्य विरोधोमनोज्ञत्वाद्येकधर्मवत्त्वरूपः, विरोधस्य च  
साम्यपर्यवसानादियं विरोधोपमा ॥ ३३ ॥

न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम् ।  
कलङ्किनेजडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा ॥ ३४ ॥

• प्रतिषेधोपमां दर्शयति । नजात्विति । प्रतिगर्जितुं वि-  
रोद्धुं सदृशीभवितुमित्यर्थः, यतः कलङ्किनः तथा जडस्य  
शीतलस्य अथच मूर्खस्य, सादृश्यप्रतिषेधेन तदतिशयद्योतना-  
देषा प्रतिषेधोपमा । निन्दोपमायां प्रतिषेधा नास्तीत्यनयो-  
र्भेदः, भेदतात्पर्याभावाच्च व्यतिरेकात् ॥ ३४ ॥

मृगेशणाङ्गं ते वक्त्रं मृगेणैवाङ्कितः शशी ।

तथापि सम एवासौ नोत्कर्षोति चटूपमा ॥ ३५ ॥

चटूपमामाह । मृगेक्षणाङ्गमिति । मृगेक्षणाङ्गं मृगस्याव-  
यवविशेषाभ्यामोक्षणाभ्यामङ्कितं । मृगेणैवाङ्कितः ईक्षणाद्यव-  
यवसमुदायवता सम्पूर्णमृगशरीरेणैव चिह्नितः । सम एव तुल्या-  
ह्लादजनक एव, एवकारव्यवच्छेदं दर्शयति, नोत्कर्षो नाधि-  
काह्लादजनकः । चटूपमेति चटुः प्रियोक्तिस्तत्प्रतिपादितत्वाच्च-  
टूपमा । अत्रोत्कर्षकारणे सत्यपि नोत्कर्ष इति विशेषोक्तिगर्भ-  
त्वमस्या वक्तव्यम्, अन्यथा सर्वत्राप्युपमाभेदेषु चटुसत्त्वाच्चटूप-  
मात्वापत्तेः ॥ ३५ ॥

न पद्मं मुखमेवेदं न मृङ्गौ चक्षुषी इमे ।

इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानेपमैव सा ॥ ३६ ॥

तत्त्वाख्यानेपमामाह । न पद्ममिति । मुखे पद्मत्वेन भ्रान्तिं  
प्रत्युक्तिरियं । विस्पष्टसादृश्यात् भ्रमव्युत्पत्तेन सादृश्यात् विशेष-  
णेण स्पष्टीकृतत्वात् न ह्यसादृशे भ्रान्तिर्भवति । तत्त्वाख्यानेपमेति ।  
भ्रमनिरामार्थं भ्रमविषयस्य तत्त्वकथनं तत्त्वाख्यानं तत्प्रयुक्तत्वा-  
देया तत्त्वाख्यानेपमा । निर्णयोपमायाः संशयपूर्वकत्वमस्यास्तु  
भ्रान्तिपूर्वकत्वमित्यनयोर्भेदः ॥ ३६ ॥

चन्द्रारविन्दयोः कान्तिमतिक्रम्य मुखं तव ।

आत्मनैवाभवत्तुल्यमित्यसाधारणोपमा ॥ ३७ ॥

असाधारणोपमामाह । चन्द्रेति । कान्तिमतिक्रम्य स्वका-  
न्या निकृष्टीकृत्य । आत्मनैवाभवत्तुल्यमिति चन्द्रारविन्दे एव  
मुखस्योपमानतया जगति प्रसिद्धे, तत्कान्तेरतिक्रमे तु उप-  
मानान्तरासम्भवादात्ममात्रतुल्यत्वमित्यभिप्रायः, नव्यास्तु भि-  
न्नयोर्द्वयोः साम्यमुपमा एकस्योपमानोपमेयत्वे त्वनन्वयाख्योऽल-  
ङ्कार इत्याहुः । नचोपमा वाऽनन्वयो वा भवतु एकस्योप-  
मानोपमेयत्वमेव कथमिति वाच्यम् अनन्यसदृशत्वप्रतिपिपाद-  
यिषया काल्पनिकभेदाभ्युपगमेन तस्य विवक्षितत्वात् यथा  
आत्मानमात्मना वेत्सीत्यादौ स्वभिन्नाभावादेकस्य परमात्मनो  
वेत्तृवेद्यत्वादिकमिति । असाधारणोपमेति प्रतियोग्यभावात्  
साम्यस्यैकमात्रवृत्तित्वेन साधारण्याभावादिति समाख्या ॥ ३७ ॥

सर्वपद्मप्रभासारः समाहृत इव क्वचित् ।

त्वदाननं विभातीति तामभूतोपमां विदुः ॥ ३८ ॥

अभूतोपमामाह । सर्वेति । क्वचिदेकत्र स्थाने विधात्रा  
समाहृतः संगृहीतः सर्वेषां पद्मानां प्रभासार इव त्वदाननं  
विभातीत्यन्वयः । तादृशंप्रभासारसमाहरणस्य वस्तुतोऽभूत-  
त्वादिमामभूतोपमां विदुः । अत्रेवशब्दस्य सम्भावनार्थकत्वा-  
दसम्भविनस्य प्रभासारमयत्वस्य सम्भाव्यमानत्वादुत्प्रेक्षैवेत्यमिति  
बहवः प्रभासारमयत्वसम्भावनया पद्माननयोः साम्यप्रतीते-  
रुपमेवेति प्राञ्चः, एवञ्च यत्र प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य धर्मिणः सम्भा-  
वना तत्रैवोत्प्रेक्षा, यत्र तु धर्म्यस्य सम्भावना तथाच प्रस्तुताप्रस्तु-

तयोः साम्यप्रतीतिस्तपोपमैवेति प्राचामभिप्राय इति बोध्यम् ॥

॥ ३८ ॥

चन्द्रविम्बादिव विषं चन्दनादिव पावकः ।

परुषा वागितोवक्त्रादित्यसम्भावितोपमा ॥ ३९ ॥

असम्भावितोपमामाह । चन्द्रेति । अत्र निःसरणक्रिया-  
ध्याहारात् पञ्चमीत्रयम् । असम्भावितोपमेति उपमानयोर-  
सम्भावितत्वेनोपमेयस्यासम्भावितत्वप्रतीतेरियमसम्भावितोपमा ।  
किञ्चैकस्य बहूपमानसद्भावाद्बहूपमापि ॥ ३९ ॥

चन्दनोदकचन्द्राणुचन्द्रकान्तादिशीतलः ।

स्पर्शस्तवेत्यतिशयं बोधयन्ती बहूपमा ॥ ४० ॥

बहूपमामाह । चन्दनोदकेति । पूर्वार्द्धे, उपमानानां  
सामान्यवाचिभिरिति कर्मधारयः । अत्रैकस्य स्पर्शस्य शीतल-  
त्वाय चन्दनादीनां बहूनामुपमानानामुपन्यासादित्यं बहूपमा ।  
नन्वेकेनैवोपमानेन शीतलत्वे पर्याप्ते उपमानान्तरोपादानमन-  
र्थकं स्यादित्यत आह, अतिशयमिति, अतिशयं शीतलत्वस्या-  
धिक्यं, यथा बहूनां मधुरवस्तूनां सम्मेलनादास्वादस्याधिक्यं  
तथा बहूनामुपमानानां सम्मेलनादुपमेयधर्मस्याधिक्यमित्यर्थः ।  
नद्यास्तु मासोपमामिमामाहुः ॥ ४० ॥

चन्द्रविम्बादिवोत्कीर्णं पद्मगर्भादिवोद्भूतम् ।

तव तन्वङ्गि वदनमित्यसौ विक्रियोपमा ॥ ४१ ॥

विक्रियोपमामाह । चन्द्रेति । विक्रियोपमेति, चोपमा-  
नभूतौ चन्द्रविम्बपद्मगर्भौ प्रकृतौ ताभ्यामुत्कीर्णमुद्भृतश्च वदनं  
विहतिः, प्रकृतिविहृत्योश्च साम्यमस्येवेति विक्रियया उपमान-  
विहृतत्वेनेयमुपमा, यदुक्तमाग्नेये, उपमानविकारेण तुलना  
विक्रियोपमेति । अन्यच्च । उपमेयस्य यत्र स्यादुपमानविका-  
रता । प्रकृतेर्विहृतेः साम्नात्सामाङ्गविक्रियोपमामिति । अत्रापि  
पूर्ववद्गर्भयोर्दुत्कीर्णत्वोद्भृतत्वयोर्दत्तेचया धर्म्मिणोः साम्यप्र-  
तीतिसत्तैव च विभ्रान्तिरित्युपमैव प्रधानं न तूत्प्रेक्षेति बो-  
ध्यम् ॥ ४१ ॥

पुष्ण्यातप इवाङ्गीव पूषा, व्योम्नीव वासरः ।

विक्रमस्त्वय्यधासक्तोमिति मालोपमा मता ॥ ४२ ॥

मालोपमामाह । पुष्ण्यातप इति । मालोपमेति । यथा,  
मालायां पुष्पादीनां प्रथमस्य द्वितीयेन द्वितीयस्य तृतीयेन तस्य  
च चतुर्थेनेत्येवं क्रमेण सम्बन्धस्तथाचाप्युपमानवाक्यघटकाना-  
मेकस्यापरेण तस्य चापरेण सम्बन्धान् मालोपमासमाख्या, तथा  
हि आतपो यथा पुष्णि सूर्ये लक्ष्मीमादधाति, पूषा यथा अङ्गि,  
अहर्षथा व्योम्नि, तथा विक्रमस्त्वयि लक्ष्मीमधादिति पुष्णोऽङ्गि  
अङ्गस्य व्योम्नि सम्बन्धः, एवं विन्यासचातुर्थ्येणैव वैचिचातिशय-  
स्येन च बहूपमातोऽस्या भेदः अन्यथा उभयचाप्युपमानबहुत्वात्  
पृथग्भेदकरणमसङ्गतं स्यादित्यवधेयम् । नथास्त्रभयचापि मा-  
लोपमासं वदन्ति तस्मिन्कवैचिचविशेषानवलोकनविजृम्भितम्,  
अत्र वासर इति प्रक्रमभङ्गः पूर्ववत् सोऽप्यः ॥ ४२ ॥

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते ।

एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥ ४३ ॥

वाक्यार्थोपमामाह । वाक्यार्थेनैवेति । वाक्यार्था विशेषण-  
विशेष्यतामापन्नः पदार्थसमूहस्तेन तादृशः कोऽपि प्राकरणि-  
को वाक्यार्था यद्युपमीयते सा वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयत्वाद्वा-  
क्यार्थोपमेत्यन्वयः, इत्यञ्च साङ्गेनाप्रस्तुतवाक्यप्रतिपाद्येनाङ्गिना-  
साङ्गस्य प्रस्तुतवाक्यप्रतिपाद्यस्याङ्गिनः साम्यं वाक्यार्थोपमेत्यर्थः  
इत एव हि वैचित्रातिशयः, अन्यथा यथा व्योम्नि विधुर्भाति तथा  
भूम्यां मुखं तवेत्यादौ वाक्यार्थयोर्विधुमुखयोः साम्याद्वाक्यार्था-  
पमात्वापत्तेः न चंष्टापत्तिर्विधुरिव मुखमित्यादाविव वैचित्र-  
विशेषणानुपलम्भात् तस्यैव च भेदकत्वात् । सा चोपमा द्विधा  
तत्र हेतुरेकानेकेवशब्दत्वादिति, अयम्भावः यत्रैकैकस्यैकैकस्मिन्  
साम्यस्यान्वयबोधे तात्पर्यं तत्रानेकेवशब्दप्रयोगः यत्र तु वि-  
शिष्टस्यान्वयबोधानन्तरं पर्यालोचनया विशेषणानां साम्य-  
प्रतीतिस्तत्रैकेवशब्दप्रयोग इति । साङ्गोपमायाञ्च प्रायेण कवि-  
भिरिवशब्दः प्रयुज्यते, अत इवशब्दघटितत्वमुक्तम् ॥ ४३ ॥

त्वदाननमधीरात्तमाविर्दशनदीधिति ।

भ्रमङ्गुलिवालक्ष्यकेसरं भाति पद्मजम् ॥ ४४ ॥

तत्रैकेवशब्दप्रयोगे वाक्यार्थोपमामुदाहरति । त्वदाननेति ।  
अधीरे चक्षुले अक्षिणी यत्र तत् । अविराविर्भवन्ती वहिः



किञ्चिन्नक्ष्यमाणा दशनागां दीधितिर्यत्र तत् । आ ईषलक्ष्याः  
केसराः किञ्चल्ला यस्य तत् । अत्राचिदशनदीधितिरूपा-  
ङ्गवतोऽङ्गिन आमनस्य मृङ्गकेसररूपाङ्गवताङ्गिना पङ्कजेन  
साम्यमिति तस्य वङ्गपदार्थरूपवाक्यार्थगतत्वाद्वाक्यार्थापमा ।  
अत्र विशिष्टयोरेवोपमानोपमेयत्वप्रतीतिरित्येकेवशब्दप्रयोगः ।  
अत्रेवशब्दस्योपमानोत्तरप्रयुक्तनियमलङ्घनं प्राचां निरङ्कु-  
शलत्वविजृम्भितमिति श्रेयम् ॥ ४४ ॥

नलिन्या इव तन्वङ्गास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।

मया मधुव्रतेनेव पायं पायमरम्यत ॥ ४५ ॥

अनेकेवशब्दप्रयोगे तामुदाहरति । नलिन्या इति । न-  
लिनी नलिनस्तम्बः नलिनसमूहः नलिनयुक्तं तडागादिकं वा ।  
पायं पायं पुनःपुनः पीत्वा । अरम्यतेति भावे लङ् । अत्रेव  
शब्दास्तयः प्रयुक्ताः, तेन च तन्वङ्गादीनां प्रत्येकं नलिन्या-  
दिभिः साम्यं शाब्दबोधविषयीभवत् कमपि चमत्काराति-  
शयं जनयति, पूर्वादाहरणे तु विशिष्टयोरुपमानोपमेय-  
योः साम्यस्य शाब्दबोधे ज्ञाते पश्चादिशेषणानां पर्यालोचनया  
साम्यप्रतीतिरित्येकानेकेवशब्दप्रयोगकृतोभेदः ॥ ४५ ॥

वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात् तत्सधर्माणः ।

साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥ ४६ ॥

नैकोऽपि त्वाहशोऽद्यापि जायमानेषु राजसु ।

ननु द्वितीयो नास्त्येव पारिजातस्य पादपः ॥ ४७ ॥

प्रतिवस्तूपमामाह । वस्त्विति । किञ्चित् किमपि प्रस्तुतं  
वस्तु उपन्यस्य उत्कर्षयापकर्षाय वा पूर्वं वाक्येन प्रतिपाद्य  
तत्समर्थनाय तस्य सधर्मणोऽप्रस्तुतवस्त्वन्तरस्य न्यसनादाक्यान्त-  
रेण प्रतिपादनात् साम्यप्रतीतिरस्ति इवाद्यभावेऽपि व्यञ्जनया  
सादृश्यावगमो भवति इति हेतोः सा वस्तुनोवाक्यार्थस्योपमान-  
त्वात् प्रतिवस्तूपमेत्यन्वयः । तत्सधर्मण इति सधर्मण एक-  
धर्मवत् इत्यर्थः सच धर्मः कथितपदत्वस्य दुष्टत्वाभिधानात्  
भिन्नवाचकतया निर्देशनीयः । तदुक्तं प्रकाशकता । प्रति-  
वस्तूपमा तु सा । सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थिति-  
रिति । साम्यप्रतीतिरस्तीतिहेतुमन्निगदेन प्रतिवस्तूपमाया नवी-  
नैरुक्तमलङ्कारान्तरत्वं प्रतिषिद्धं साम्यप्रतीत्या उपमात्वसम्भवे-  
नालङ्कारान्तरत्वाभ्युपगमस्यानौचित्यात् । उदाहरति यथेति ।  
जायमानेष्विति जातेष्वित्यस्योपसक्तकं जातेषु जायमानेषु च  
राजसु मध्ये एकोऽपि त्वादृशस्वत्सदृशो नास्तीत्यन्वयः । पा-  
रिजातस्येति पारिजातपुष्पस्येत्यर्थः, यदा राहोः चिद् इत्या-  
दिवद्भेदविवक्षया षष्ठी, अत्र सदृशो नास्ति द्वितीयो नास्तीति  
साधारणधर्मो वस्तुत एक एव पौनरुक्तनिरासाय शब्दभेदेन  
निर्दिष्टः । इयं वैधर्म्येणापि भवति यथा, “चकोर्य एव चतु-  
राश्रिकापानकर्म्मणि । विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशोरतन-  
र्म्मणि” इत्यादि, अत्र चातुर्यचातुर्याभावौ वाक्यार्थयोः साम्यं  
प्रयोजयतः ॥ १६ ॥ १७ ॥

अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ ।

यद्ब्रुवन्ति स्मृता सेयं तुल्ययोगोपमा यथा ॥ ४८ ॥

दिवो जागर्त्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवो भवान् ।

असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः ॥ ४९ ॥

तुल्ययोगोपमामाह । अधिकेनेति । एकस्या एकजाती-  
यायाः क्रियाया विधौ करणे हीनं न्यूनगुणम् अधिकेन गुणा-  
धिकेन समीकृत्य, अत्र उदरं पूरयित्वा भुङ्क्ते इत्यादिवद  
प्राक्काले क्त्वा, समीकुर्वन्नित्यर्थः, यद्ब्रुवन्ति, यदित्यव्ययं सप्त-  
म्यन्तं यत्र वैचित्रे यदैचित्रबोधायेत्यर्थः ब्रुवन्ति कवयोवर्णयन्ति  
सा तादृशवैचित्ररूपा तुल्ययोगात् क्रियायामधिकहीनयोः  
समानसम्बन्धादुपमेयमिति तुल्ययोगोपमेत्यन्वयः । एकजातीय-  
क्रियाकरणेन प्रकृताप्रकृतयोः साम्यप्रतिपादनं तुल्ययोगोपमे-  
त्यर्थः । प्रकृतानामप्रकृतानां वा एकधर्मसम्बन्धरूपा नवीनैर-  
प्रीकृता तुल्ययोगिता त्वितो भिन्नैव स्वरूपभेदात् । उदाहरति  
यथेति । पुलोमारिरिन्द्रोदिवोरक्षायै जागर्त्ति, भवान् भुवो  
रक्षायै जागर्त्ति, तेन पुलोमारिणा असुरा हन्यन्ते, त्वया च  
सावलेपाः सगर्वा नृपा हन्यन्ते इत्येकजातीयाभ्यां जागरण-  
हननक्रियाभ्यां हीनस्यापि प्रस्तुतस्य राज्ञो गुणाधिकेनेन्द्रेण  
साम्यं वर्णनया प्रतिपादितम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

कान्त्या चन्द्रमसं, धाम्ना सूर्यं, धैर्येण चार्णवम् ।

राजानुकरोषीति सैषा चेतूपमा मता ॥ ५० ॥

हेतूपमामाह । कान्त्येति । अत्र कान्त्यादिभिर्हेतुभिश्च-  
न्द्रादिषाम्यप्रतीतिरिति हेतूत्यापितत्वादेशा हेतूपमा ॥५०॥

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापिवा ।

उपमादूषणायालं यत्रोद्देशो न धीमताम् ॥ ५१ ॥

इत्थं सप्रभेदामुपमां निरूप्य प्रसङ्गात्तदीयदोषेषु वक्तव्येषु  
तत्र, हीनाधिकत्वं वचनलिङ्गभेदोविपर्ययः । असादृश्यासम्भवे  
च दोषाः सप्तोपमा गता इति प्राचीनोक्तानां सप्तानां दो-  
षाणां मध्ये स्वमते विपर्ययादिदोषत्रयस्योपमालक्षणे सादृ-  
श्याद्भूतत्वविशेषणैवाप्राप्तावसरत्वं प्रतिपाद्य सम्प्रति सम्भवि-  
नोऽवशिष्टदोषचतुष्टयस्यापि दूषकत्वस्य सार्वत्रिकत्वं परिहृ-  
रति । न लिङ्गवचने इति । लिङ्गवचने इति प्रथमादिवच-  
नान्तं । भिन्ने इति उपमानोपमेयपदयोः पृथग्भूते इत्यर्थः ।  
हीनाधिकतापि वेति उपमानस्यैवेति बोध्यम्, उपमेयापेक्षया  
उपमानस्य जातिगतं प्रमाणगतञ्च न्यूनत्वमधिकत्वमेत्यर्थः ।  
उपमादूषणायालमिति अत्र तत्रेति बोध्यम् उत्तरवाक्ये यत्रेति  
श्रवणात् । यत्रोद्देश इति उद्देशः प्रतीतिमान्यर्थं स च लिङ्ग-  
वचनभेदस्यै साधारणधर्मस्योभयान्वयाभावेन साम्यस्य सम्य-  
गनिर्व्वाहात्, हीनतास्यै चोपमानस्यापहृष्टत्वज्ञानेन तदु-  
पमितस्य प्रस्तुतस्योत्कर्षानुपलम्भात्, अधिकतास्यै चाधिको-  
पमितस्य सुद्रोपमेयस्योपहसनीयत्वज्ञानाच्च जायते । स च यत्र  
न भवति तत्र सम्ययेतान्युपमादूषणाच्च अस्तं समर्थानि न भवन्ति ।

तथा हि लिङ्गवचनभेदेऽपि यत्र साधारणधर्मस्याभयान्वये  
बाधाभावः, हीनताधिकतयोश्च नात्यन्तिकत्वं तत्र न दोष  
इति यथोदाहरिष्यते । नव्यास्तु कालपुरुषविधादिभेदस्याप्यु-  
पमादूषकतामाहुः । क्रमेण यथा “काप्यभिख्या तयोरामीद्र-  
जतोः शुद्धवेशयोः । हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रममोरिव”  
इति । अत्र चित्राचन्द्रममोरभिख्या न खल्वामीदपि तु सर्व-  
दापि भवति । लतेव राजसे तन्वि इति, अत्र लता राजते त्वं  
राजसे इति । चिरं जीवतु ते स्रुनुर्मार्कण्डेयमुनिर्यथेति । अत्र  
मार्कण्डेयमुनेर्जीवनं न खलु विधेयमिति । एतेषाञ्च दूषकत्वं  
स्फुटं प्रतीयमानमपि प्रायेण कविभिर्न गणितमिति ग्रन्थकृता-  
प्युपेक्षितम् ॥ ५१ ॥

स्त्रीव गच्छति षण्डोऽयं, वक्तव्येष्वा स्त्री पुमानिव, ।

प्राणा इव प्रियोऽयं मे, विद्या धनमिवाञ्जिता ॥ ५२ ॥

लिङ्गवचनभेदस्यानुद्देशकरत्वं दर्शयति । स्त्रीवेति । अत्र  
पूर्वार्द्धे गच्छतीति वक्तोति च तिङन्तपदप्रतिपाद्यस्य क्रियारू-  
पसाधारणधर्मस्याभयत्रान्वयात्लिङ्गभेदो न श्रोत्रणामुद्देशं ज-  
नयति । एवमुभयान्वययोग्यक्रियया वचनभेदस्य दूषकत्वा-  
भावो यथा, “तद्देशोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरतामृतः ।  
दधते स परां शोभां तदीया विभ्रमा इव” इति, अत्र धादध-  
धातुभ्यामेकवचनबहुवचननिष्पन्ना दधते इति क्रिया स्मृतत्वे-  
नाभयान्वययोग्या । यत्र प्रकृतोचितलिङ्गवचनपर्यायशब्दान्त-

राभावान्नियतलिङ्गवचनपदैरेवोपमानोपमेयभावोऽवश्यं विधे-  
 यस्तत्रागत्या व्यत्ययेनान्वयसिद्धौ नोद्वेग इति दर्शयति  
 प्राणा इवेत्यादि, अत्र प्राणपदं समूहवाचकत्वान्नियतलिङ्गवच-  
 नान्तं धनपदञ्च नियतक्लीवलिङ्गम्, अनयोश्च प्रकृतोचितलि-  
 ङ्गवचनपर्यायान्तरमप्रसिद्धं तस्मात् प्राणा यथा प्रियास्तयायं  
 प्रिय इति, धनं यथा अर्जितं तथा विद्यार्जितेति विपरिणा-  
 मेनान्वयोऽगत्याकर्त्तव्य इति नोद्वेगः, एवं स लोहकारभस्त्रेव  
 अस्त्रपि न जीवतीत्यादीनि महाकविप्रयुक्तानि बहून्येवंवि-  
 धानि द्रष्टव्यानि, तथा चन्द्रेण तुल्यममलाङ्गि मुखं त्वदीयं  
 मत्कौतुकामृतपयोनिधिवृद्धिकारि इत्यादौ तुल्यादिशब्दप्र-  
 योगे, मधुरः सुधावदधर इत्यादौ वदादितद्धितप्रयोगे, चन्द्र  
 इव मुखमित्यादौ साधारणधर्माप्रयोगे वस्तूपमायामेवंविधे-  
 ऽन्यत्रापि च लिङ्गवचनभेदस्यानुद्वेगकरत्वं बोध्यम् ॥ ५२ ॥

भवानिव महीपाल देवराजो विराजते ।

अलमंगुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नृपः ॥ ५३ ॥

उपमानस्य हीनत्वाधिकत्वयोरनुद्वेजकत्वं दर्शयति । भवा-  
 निवेति । इवान्तस्योपमानत्वनियमात् भवच्छब्दवाच्यो राजा-  
 चोपमानं तस्य च मनुष्यत्वाद्देवराजापेक्षया हीनत्वमस्यैव  
 परन्तु राज्ञो लोकपालांशसम्भूतत्वान्नात्यन्तं तदिति न श्रोत-  
 बुद्धिमाकुलयति तथा, यथा चण्डाल इव राजामौ संयामेऽधि-  
 कमाहस इत्यादावतिनिरुष्टस्य चण्डालस्योपमानतायां । ननु

विपर्यायोपमायामस्यां वर्षनीयस्य राज्ञ उन्वर्षातिशयार्थमे-  
 वोपमानत्वप्रतिपादनं पर्यावसाने तृपमेयत्वमेव प्रतीयत इति  
 चेत्तर्हि, उत्सङ्गितकुरङ्गोऽयमृत्तमण्डलमध्यगः । विधुर्याघ्न इवा-  
 भाति हन्तुं विरहदुर्बलानित्युदाहरणमत्र बोधम्, अत्र  
 श्लिष्टविशेषणमहिम्ना निकृष्टस्यापि व्याघ्रस्योपमानत्वं नोद्देगं जन-  
 यति । एतच्च जातिगतन्यूनतायां, प्रमाणगतायान्तु, वामया-  
 शामुखे भाति विधुश्चन्दनविन्दुवदित्युदाहरणम्, अत्र विध्व-  
 पेक्षया चन्दनविन्दोः प्रमाणगतन्यूनत्वेऽप्यस्ति कश्चिच्चमत्कारा-  
 तिशयः येन न्यूनत्वकृतोद्देगस्तिरोधीयते । अलमिति । अत्र  
 मनुष्यविशेषस्य नृपस्योपमानमंशुमान् जात्याधिकः, अधिकत्वे-  
 नैव चोपमानत्वम् अन्यथोपमायाविलोपप्रसङ्गात् निकृष्टेनोप-  
 मीयमानतायां प्रस्तुतस्योत्कर्षप्रतीत्यनुपपत्तेः तस्माद्यधि-  
 कत्व एवोद्देगः, यथा हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखाबल  
 इति, अत्र पक्षिणः शिखाबलस्यात्यधिकोहर उपमानम्, एत-  
 द्वाधिक्यं जातिगतम्, प्रमाणगतन्तु कुम्भावित्र कुचावेतावित्या-  
 दौ, अत्र कुचापेक्षया कुम्भस्य नात्यधिकत्वमिति नोद्देगः, उद्दे-  
 गस्य, तालीफलमिदं भाति नीलं नीलाचलोपममित्यादौ, उप-  
 मानस्य प्रमाणतोऽत्यधिकत्वात् ॥ ५३ ॥

इत्येवमादौ सौभाग्यं न जहात्येव जातुचित् ।

अस्त्येव क्वचिदुद्देगः प्रयोगे वाग्विदां यथा ॥ ५४ ॥

हंसोव धवलशुद्धः, सरासीवामलं नभः ।

भर्तृभक्तोभटः श्वेव खद्योतो भाति भानुवत् ॥ ५५ ॥

ईदृशं वज्ज्यते सद्भिः, कारणं तत्र चिन्त्यताम् ।  
गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनीषिभिः ॥ ५६ ॥

पूर्वश्लोकद्वये निरुद्धे गं स्वयमेव दर्शयति । इत्येवमादा-  
विति । सौभाग्यं न जहात्येवेति, अत्र लिङ्गवचनभेदा हीनाधि-  
कता चेति कर्तृपदमूह्यं । सौभाग्यं प्रस्तुतस्योत्कर्षं न जहाति न  
प्रतिबध्नाति । यत्रोद्देशो न धीमतामित्यत्र यत्रेत्यनेन क्वचि-  
दुद्देशोऽप्यस्तीति सूचितं तद्दर्शनायाह अस्येवेति, क्वचित्प्रयोगे  
वाग्विदामुद्देशोऽस्येवेत्यन्वयः । हंमिवेत्यादि, अत्र प्रथमपादे  
उपमानोपमेयपदयोर्लिङ्गभेदः, द्वितीये वचनभेदः । तृतीये उ-  
पमानस्य जात्या न्यूनता चतुर्थे चाधिकता, एतेषामुद्देशजनकत्वं  
पूर्वमुक्तं ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

ईदृशमिति । सद्भिर्निपुणकविभिः । तत्र क्वचिद्वज्ज्यत्वे  
क्वचिद्वज्ज्यत्वे च कारणमुद्देशानुद्देशरूपं, गुणदोषविचाराय  
मनीषिभिः प्राप्तबुद्धिभिः स्वयमेव चिन्त्यतामित्यन्वयः, एतेन  
गुणदोषाः स्वयमेव सुबुद्धिभिर्जायन्ते, अतस्तेषां साकल्येन प्र-  
दर्शनया यन्यवङ्गलीकरणमप्रयोजनमिति दिङ्मात्रमेव दर्शित-  
मिति सूचयता स्वस्य न्यूनत्वं परिहृतम् ॥ ५६ ॥

इववदायथागब्दाः समाननिभमन्निभाः ।

तुल्यसङ्काशनोकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥ ५७ ॥



प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनोकविरोधिनः ।  
 सदृक्सदृशसंवादिमजानीयान्वादिनः ॥ ५८ ॥  
 प्रतिविम्बप्रतिच्छन्दस्रूपसमसम्मिताः ।  
 सलक्षणसदृशाभसपक्षोपमितेऽपमाः ॥ ५९ ॥  
 कल्पदेशीयदेश्यादिः प्रख्यप्रतिनिधी अपि ।  
 सर्वसुतुलितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिनः ॥ ६० ॥  
 समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु ।  
 स्पृष्टते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥ ६१ ॥  
 आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।  
 विडम्बयति सन्धत्ते हसतीर्ष्यत्यस्रयति ॥ ६२ ॥  
 तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विदुम्यति ।  
 तेन सार्द्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ॥ ६३ ॥  
 तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते ।  
 तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति ॥ ६४ ॥  
 तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः ।  
 उपमायामिमे प्रोक्ताः कवीनां बुद्धिसौख्यदाः ॥ ६५ ॥

उपमालक्षणे प्रतीयत इत्यत्र प्रतीतिरभिधया लक्षणया  
 व्यञ्जनया च भवतीत्युक्तं, तत्र वाचकादिशब्दान्निर्दिशति ।  
 इवेत्यादि । वदति तद्धितो वतिप्रत्ययः स च तत्र तस्यैवेत्य-  
 नेन कश्चिदिवार्थे विहितः, तेन तुल्यं क्रिया चेदतिरित्यनेन

च क्वचित्तुल्यार्थे विहितः । वा इति वशब्दस्योपलक्षकः तस्या-  
 पि सादृश्यवाचकत्वात् । निभादयः केचित् समासमध्यगता  
 एव प्रयुज्यन्ते । कल्पदेशोयदेश्याः प्रत्ययाः । अन्यूनार्थवा-  
 दिनाऽहीनार्थवाचकाः । समासश्चेति बह्व्रीहिः कर्मधारयो-  
 पलक्षकः यथा शस्त्रीश्यामा, पुरुषव्याघ्र इत्यादौ । शशाङ्कवद-  
 नादिष्विति शशाङ्कसदृशं वदनं यस्या इति बह्व्रीहौ पूर्वार्द्ध-  
 सम्बद्धोत्तरपदस्येत्यादिना सदृशपदलोपः । सन्धत्ते इत्यत्र  
 संसन्धे इति मुष्णातीत्यत्रच पुष्णातीति क्वचित्पाठः । तस्य  
 मुष्णाति भौभाग्यमित्यादिवाक्यप्रयोगदर्शनया प्रौढोक्त्या भौ-  
 भाग्यादिमोषणादिमापेक्षतयैव सादृश्यप्रतीतिर्नान्यथेति सू-  
 चितम् अतएव चौरो धनं मुष्णातीत्यादौ न साम्यप्रतीतिः ।  
 सर्वत्र तच्छब्द उपमानपरः । तुलां तेनाधिरोहतीति तेन  
 सह तुलां मानयन्त्रं स्वसमीकरणायाधिरोहति । तुलामा-  
 दृश्यमानयोरिति मेदिनी । नतूपमां, तथात्वे अधिरोह-  
 तीत्युपादानवैफल्यात् तुलाशब्देनैव साम्यप्रतीतेः, तद्योः तेने-  
 त्यत्र तृतीयानुपपत्तेश्च, अतएवात्र तुलोपमावर्जनान्तुल्या-  
 र्थैरित्यादिना तृतीयाया अप्राप्तौ महार्थविवक्षया तृतीयेति  
 गोयोचन्द्रस्य प्रयासो विफल इव प्रतिभाति । तच्छीलमि-  
 त्येकं, तच्छीलति परिचिनेतीति तस्य शीलं स्वभावो यचेति  
 वा विग्रहः नतु तस्यैव शीलं यस्तेति, तथात्वे समासश्च बह्व-  
 रीहिरित्यनेनैव सिद्धौ विशेषेणोपादानमनर्थकं स्यात् । त-  
 न्निषेधति उत्कर्षकक्षायां प्रवेष्टुं वारयति । सादृश्यसूचकाः

सादृश्यस्य बोधकाः वाचका लक्षका व्यञ्जकाश्चेत्यर्थः । तत्र  
इवादयो वाचकाः, स्यर्द्धत इत्यादयो लक्षकाः स्यर्द्धादिधातु-  
नां सादृश्ये सङ्केतित्वाभावात्, तस्य मुष्णाति सौभाग्यामि-  
त्यादयो व्यञ्जकाः । लक्षका इत्यत्र वाचका इति पाठस्तु न  
मनोरमः सर्वेषां वाचकत्वाभावात् । वाचकशब्देषु च इवादि-  
प्रयोगे श्रौती, तुल्यादिप्रयोगे लार्थित्युपमाभेदो नवीनैः प्र-  
दर्शितः । उपमायामिमि इत्याद्यर्द्धे न सर्वत्र पुस्तकेषु दृश्यते ॥  
५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

### इत्युपमाचक्रम् ।

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।

यथा बाहुलता, पाणिपद्मं, चरणपद्मवः ॥ ६६ ॥

अथ रूपकं लक्षयति । उपमैवेति । तिरोभूतोऽप्रकटः  
सन्नपि प्रतिबन्धकत्वसंकोचात् स्वात्तरकालोनेनाभेदेन नि-  
ऋतप्राय इत्यर्थः, भेदः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्भेदयहो यत्र तादृशी  
उपमैव सादृश्यमेव रूपकमुच्यत इत्यन्वयः । प्रस्तुताप्रस्तुतयोः  
सादृश्यप्रत्ययजन्यभेदप्रतीतिसधीचीनाभेदप्रतीतिजन्यवैचित्र्यं रू-  
पकमित्यर्थः इयञ्चाभेदप्रतीतिराहार्यरूपा, आहार्यत्वञ्च  
सत्यपि बाधे प्रमातुरिच्छाप्रयोज्यत्वं प्रतिबध्यतावच्छेदक-  
कोटावनाहार्यत्वस्य निवेशनीयत्वेन तादृशाभेदप्रतीतेर्बाधा-  
प्रतिबध्यत्वात् सादृश्यञ्चात्र गौणसारोपलक्षणागम्यं बोध्यं तेन

गौणसाध्यवसानलक्षणाबोधमादृश्यमूलायामतिशयोक्तौ नाति-  
 व्याप्तिः नापि चन्द्रसदृशं मुखं चन्द्र इत्यादौ शब्दवाच्यमादृश्य-  
 यदोत्तराभेदयद्देऽतिप्रसङ्गः, अपक्रुतौ तु नेदं नभोमण्डल-  
 मम्बुराशिरित्यादौ न लक्षणाजन्यमादृश्यप्रतीतिपूर्वकत्वमभेदा-  
 ध्यवसानस्य, नूनं मुखमिदं चन्द्र इत्यादावुत्प्रेक्षायामपि न  
 तथात्वं नाप्याहार्यात्मकत्वं सम्भावनायाः इत्यन्यत्र च निरुक्त-  
 दिशातिप्रसङ्गो निरसनीयः । प्रकृते मुखं चन्द्र इत्यादौ प्रथमं  
 लक्षणया चन्द्रपदात् चन्द्रमादृश्योपस्थित्या चन्द्रसदृशं मुख-  
 मित्यन्वयबोधः, तदन्तर्नरमेव च लक्षणाकृत्या व्यञ्जनया च-  
 न्द्रोमुखमित्यभिन्नतया मुखचन्द्रयोः प्रतीतिः सा च सद्य एव  
 विद्वज्जनहृदयोन्मादकरं किमपि वैचित्र्यमुद्गावयति येन च  
 सादृश्यप्रतीतिजन्यमुपमावैचित्र्यं स्वकुक्षौ निक्षिप्यते ततश्च ना-  
 त्रोपमारूपकयोः साङ्कर्यमिति पूर्वमेवोक्तम्, इयञ्चाहार्या-  
 त्तिकाऽभेदप्रतीतिर्लक्षणायाः प्रयोजनभूता लक्षणाजनितसा-  
 दृश्यप्रकारकशब्दबोधानन्तरस्फुरणात् । उक्तञ्च प्रकाशकता ।  
 भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमस्य प्रयोजनमिति ।  
 लक्षणाजन्यमादृश्यप्रतीत्यनन्तरोत्पन्नाया एव ताद्रूप्यप्रतीतिर्वै-  
 चित्र्यातिशयजनकत्वादेतदलङ्कारत्वमिति स्पष्टीकृतं • कण्ठा-  
 भरणे यथा, “यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् । उ-  
 पमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः” इति । शारीरकमीमां-  
 साभाष्यव्याख्याने वाचस्पतिमिश्रैरपि उपमानशब्दस्योपमेयवृत्तौ  
 गौणलक्षणाया हेतुत्वमुक्तं यथा, अपिच परशब्दः परच-

लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तत इति । विश्वनाथस्तु रूपकादौ  
साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वं, रूपकस्य च गौणीमूलकत्वमाह, तत् स्ववचनद-  
येनैव प्रमादप्रतिपादनादुपेक्षणीयम् । उपमैवेत्येवकारेण सम्ब-  
न्धान्तरव्यावृत्तिः, तेन आयुर्धृतमित्यादौ लक्षणाजन्यकार्यका-  
रणभावादिप्रत्ययेन भिन्नयोरभेदो न रूपकम् । रत्नाकरस्तु  
सादृश्यप्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामा-  
नाधिकरणनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकं, सारोपलक्षणामूलक-  
त्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्यैव सम्बन्धान्तरप्रयु-  
क्तस्यापि तादात्म्यस्य संयहीतुमैचित्यात्, तस्माद्दुरायह एवाद्यं  
प्राचामुपमानोपमेययोरभेदोरूपकं न कार्यकारणादिकयो-  
रितीत्याह । अपरे च कार्यकारणयोरभेदोहेत्वलङ्कारः, उप-  
मानोपमेययोरभेदोरूपकं, सम्बन्धान्तरवतोरभेदस्तु वैचित्र्या-  
जननाम्नालङ्कार इत्याहुः । नवीनतरास्तु रूपकस्य सादृश्य-  
प्रतीतिपूर्वकत्वमेव, तच्च सादृश्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगम्यं, नतु  
गौणसारोपलक्षणया शब्दप्रमाणगम्यं, तत्र सादृश्यस्य शब्द-  
वेद्यत्वादुपमैव, अतएवाग्नेये, उपमानस्य तत्त्वं यदुपमेये तु  
रूप्यते । गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुरिति । अत्र  
दृष्टेत्युक्तं, तस्मात् सादृश्यस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्व एव रूपकं ।  
लक्षणास्यत्वे तु लक्षणाफलत्वेनाभ्युपगताऽप्यभेदबुद्धिरुदीच्य-  
बोधतया शाब्दबोधविषयतां गतस्य सादृश्यस्य तत्काल एव  
प्रवृत्तमुपमाव्यपदेशं न व्याहन्तुमीष्टे प्रवृत्तत्वात् तस्य, नहि नि-  
र्बाधं स्वभसत्ताकं वस्तु कालान्तरीयेण प्रतिद्विदिमान्यथाकर्तुं

प्रकृत इति वदन्ति । इत्थं रूपकस्य सामान्यलक्षणमभिधाय  
 तत्रभेदान् दर्शयन् तत्र समस्तव्यस्तशब्दगतत्वेन द्विविधस्य  
 तस्य प्रथमं समस्तगतत्वमुदाहरति । यथेति । बाहुल्यतेत्या-  
 दि, बाहुरेव लता, पाण्डुरेव पद्मं, चरण एव पद्मव इति  
 मयूरव्यंसकादित्वात् कर्मधारयः, अत्र बाहुल्यतेत्यादिव्यासवा-  
 क्यवत् समासवाक्येऽपि प्रथमं गौणलक्षणाया लतादिपदात् तत्  
 सादृश्यप्रतीतिस्तद्वशेन च समुन्निषक्त्या व्यञ्जनया तादृश्यप्र-  
 तीतिरिति बहवः । नव्यास्तु व्यस्तरूपकस्यैव गौणीमूलकत्वं न  
 समस्तरूपकस्य, समस्ते त्वभेदप्रतीतिमात्रमिति वदन्ति । के-  
 चित्तु बाहुल्यतेवेति उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोग  
 इत्यनेन कर्मधारयमामनन्ति तत्र रुचिरम्, इवादिवत् ता-  
 दृशकर्मधारयस्यापि साम्यवाचकत्वेनोपमायाः सम्भवात्, अत-  
 एवैवंविधस्थले साधकबाधकाप्रयोगे रूपकोपमयोः सादृश्य-  
 मपीच्छन्ति तदन्यतरप्रयोगे त्वन्यतरमेव, यथा मुखचन्द्रं चुम्ब-  
 तीत्यादौ चुम्बनमुपमेयमुख एव सम्भवतीत्युपमासाधकं तेना-  
 च मुखं चन्द्र इवेत्युपमितिसमासः । “आन्तरं मे तमोहन्ति  
 मुखचन्द्रस्तव प्रिये” इत्यादौ तमोहनमुपमानचन्द्रस्यैव धर्मं  
 इति रूपकस्य साधकं तेनात्र मुखमेव चन्द्र इति रूपकसमासः ।  
 मुखचन्द्रः शोभत इत्यादौ तु द्वयोरपि शोभासम्भवात् एकतर-  
 साधकबाधकाभावेनोपमारूपकयोः सङ्करः तेनात्र मुखं चन्द्र  
 इवेति मुखमेव चन्द्र इति च समासद्वयाश्रयणम् । एवं सुन्दरं  
 वदनाम्बुजमित्यादौ सामान्यधर्मप्रयोगे उपमितिसमासाभावात्

सुन्दरमिति रूपकस्य साधकं, तेन वदनमेवाम्बुजमिति रूप-  
कसमासः । हेतु समासस्य वाचकतां नाङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते  
पुरुषव्याघ्र इत्यादौ व्याघ्रादिपदं व्याघ्रादिसदृशे लाक्षणिक-  
मिति लक्षणाजन्यसादृश्यबोधानन्तरं तयोरभेदारोपे रूपकं  
सम्भवत्येव, परन्तु तदालङ्कारिकराद्धान्तविरुद्धमेव मन्तव्यं ।  
प्रकृते तु बाहुल्येत्यादौ निरुक्तयुक्त्या मङ्गर एव, शुद्धोदाह-  
रणन्तु, तव बाहुल्यता बाले पुष्पिता नखरश्रियेत्यादिकं बोध्यम्,  
अत्र पुष्पितत्वमुपमानलताया एव धर्म इति रूपकस्य साध-  
कम् ॥ ६६ ॥

अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः ।

बाहु लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी ॥ ६७ ॥

व्यस्तरूपकमुदाहरति । अङ्गुल्य इति । त्वं वसन्तश्रीरिति,  
नखस्फुटसादृश्ययोर्नायिकावसन्तश्रियोः कथं विषयविषयि-  
भाव इति सादृश्यार्थं तदुभयवृत्तिवस्तुनां प्रथमं विम्बप्रति-  
विम्बतया विषयविषयिभावं दर्शयति अङ्गुल्यः पल्लवानोत्यादि,  
अत्र वाक्यत्रयेऽपि विषयविषयिणोर्विभिन्नलिङ्गत्वप्रदर्शनया  
रूपके लिङ्गभेदो न दूषणायेति सूचितं, क्वचिद्वचनभेदोऽपि  
यथा शास्त्राणि चक्षुर्नवमित्यादौ, अत्र शास्त्राणीति बहुवचनेन  
सकलशास्त्रज्ञानवत्प्रज्ञापनाद्यमत्कारातिशयः, अनेवंविधस्यले  
तु दोष एव यथा मुखं पद्मानोति ॥ ६७ ॥

इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् ।

स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥ ६८ ॥

इत्येतदिति । एतद्रूपकमसमस्तशब्दगतत्वादसमस्ताख्यं ।  
पूर्वरूपकं बाहुल्यतेत्यादिपूर्वश्लोकप्रदर्शितरूपकं समस्तं सम-  
स्तशब्दगतत्वात् समस्तनामकम् । उभयगतत्वादुभयशब्दघटि-  
तनामकमप्याह । स्मितमिति । समस्तव्यस्तरूपकमिति मुखेन्दो-  
रित्यत्र समासः स्मितं ज्योत्स्नेत्यत्र च व्यासः ॥ ६८ ॥

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।

ध्रियते मूर्द्धि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥ ६९ ॥

अङ्गुल्यादौ दलादित्वं, पादे चारोप्य पद्मताम् ।

तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम् ॥ ७० ॥

सकलरूपकमाह । ताम्राङ्गुलीति, ताम्राङ्गुल्य एव दलानि  
तेषां श्रेणिर्यत्र तत् । नखानां दीधितय एव केसरा यत्र तत् ।  
दलादित्वं दलत्वादि । तद्योग्यस्थानविन्यासादिति । तस्य  
पङ्कजधारणस्य योग्यस्थानं मूर्द्धा तस्य विन्यासात् शब्देन प्रति-  
पादनात्, यदा तस्य पङ्कजस्य योग्यस्थाने मूर्द्धि विन्यासाद्धार-  
णात् तादृशधारणस्य वर्णनादित्यर्थः । अयम्भावः मूर्द्धि धा-  
रणं पङ्कजस्यैवोचितमित्युपमानमात्रगतत्वाद्रूपकस्य साधकम्,  
उपमेये च चरणेऽसम्भवादुपमायाबाधकम्, एतदनुक्तौ तु सा-



धकबाधकाभावात् पूर्वोक्तदिशा सङ्कर एव स्यादिति । सक-  
लरूपकमिति चरणस्य पङ्कजत्वेन रूपणे तदनुगुणतया चर-  
णावयवेष्वपि पङ्कजावयवानां रूपणात् सकलरूपकता । इद-  
मेव नव्याः साङ्गरूपकमाहुः । यथा दर्पणे, “अङ्गिनो यदि  
साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्” इति, उदाहृतञ्च यथा, “रावणा-  
वयवहक्लान्तमितिवागमृतेन सः । अभिवृष्य मरुच्छस्यं ह्यण्णमेघ-  
स्तिरोदधे” इति ॥ ६८ ॥ ७० ॥

अकस्मादेव ते चण्डि स्फुरिताधरपञ्चवम् ।

मुखं मुक्तारुचो धत्ते घर्माभःकणमञ्जरीः ॥ ७१ ॥

मञ्जरीकृत्य घर्माभः, पञ्चवीकृत्य चाधरम् ।

नान्यथा कृतमत्रास्यमतोऽवयवरूपकम् ॥ ७२ ॥

अवयवरूपकमाह । अकस्मादेवेति । हे चण्डि ! कोपने !  
स्फुरित आकम्पितोऽधर एव पञ्चवोदसं यत्र तत् ते मुखं  
मुक्तारुचो मुक्ताकारा घर्माभसां कणा एव मञ्जर्यः कर्णिकोप-  
रिस्थगुलिका इत्यर्थः, तां अकस्मादेव धत्ते इत्यन्वयः ॥ ७१ ॥

मञ्जरीकृत्येति । अत्र पद्मे घर्माभो घर्माभःकणान्  
मञ्जरीकृत्य मञ्जरीत्वेनारोप्य, एवमधरं पञ्चवीकृत्य च आस्य-  
मवयविभूतं मुखम् नान्यथाकृतं विषयन्तराभिन्नतया ना-  
रोपितम्, अतोऽवयवमात्ररूपणादवयवरूपकमिदमित्यन्वयः ।  
अत्र प्रस्तुते मुखे पद्मतारोपोऽर्थवद्वादवसेयः, अतएवेदमेकदे-

शविवर्त्तिरूपकमित्याहुर्मन्याः । यथा दर्पणे, “यत्र कस्यचि-  
दार्थत्वमेकदेशविवर्त्ति तत्” इति ॥ ७२ ॥

वल्गितभ्रु गलद्वर्म्मजलमालोहितेषणम् ।

विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपङ्कजम् ॥ ७३ ॥

अविकृत्य मुखाङ्गानि मुखमेवारविन्दताम् ।

आसीद्गमितमत्रेदमतोऽवयविरूपकम् ॥ ७४ ॥

अवयविरूपकमाह । वल्गितेति । वल्गितभ्रु चञ्चितभ्रुयुगम् ।  
मदावस्थामिति मदो मद्योपयोगजनितविकारः स च समोहा-  
नन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगज इत्युक्तरूपः, तस्यावस्थां प्रादुर्भावं ।  
वदनपङ्कजमिति, नन्वत्र वदनमेव पङ्कजमिति रूपकपरि-  
ग्रहे किं विनिगमकम्, उपमानपङ्कजमात्रान्वयिधर्मान्तरा-  
मुपादानात् प्रत्युत वल्गितभ्रुत्वादीनामुपात्तानामुपमेयवदन-  
मात्रसम्बन्धित्वेनापमासाधकत्वाद्दुपमैवात्र भवितुमुक्तमिति चे-  
त्तर्हि वदनमम्बुजमिति व्यस्तमेव पठनीयमिति ॥ ७३ ॥

अविकृत्येति । अत्र मुखस्याङ्गानि भ्रूप्रभृतीनि अविकृत्य  
उपमानान्तराभिन्नतया नारोप्य मुखमेवारविन्दतां गमितं  
पङ्कजत्वेनारोपितमासीत् अतोऽवयविने मुखमात्रस्यैव तादृ-  
शपङ्कजत्वेन रूपणादवयविरूपकमिदम् । अत्र भ्रुव उपमानं  
दक्षं, घर्म्मजलस्य मकरन्दः, लोहितेषणस्य च परागपिञ्जरभ्रम-  
रोऽनुपात्तः, इदं निरङ्गरूपकमिति नव्याः ॥ ७४ ॥

मदपाटलगण्डेन रक्तनेत्रैत्यलेन ते ।

मुखेन मुग्धः सोऽप्येष जनोरागमयः कृतः ॥ ७५ ॥

एकाङ्गरूपकञ्चैतदेवं द्विप्रभृतीन्यपि ।

अङ्गानि रूपयन्त्यत्र, योगायोगौ भिदाकरौ ॥ ७६ ॥

पूर्वाक्तावयवरूपकस्य भेदान् दर्शयन् प्रथममेकाङ्गरूपक-  
भेदमाह । मदेति । एष जनो मल्लक्षणः रागमयः अनुराग-  
बङ्गलः अथ च लौहित्यमयः । एकाङ्गरूपकमिति रक्तनेत्रो-  
त्यलेनेत्यत्रैवारोपात्, मदपाटलगण्डेनेत्यत्र च तदभावादेका-  
ङ्गमात्ररूपणेनेदेकाङ्गरूपकाख्यम् । एवमिति अत्र द्विप्रभृ-  
तीन्यप्यङ्गान्येवं रूपयन्ति, तेन च द्वाङ्गरूपकं व्यङ्गरूपकमित्या-  
दीनि नामान्यवयवरूपकस्य ज्ञेयानि । तेषु च विशेषावाह,  
योगायोगौ भिदाकराविति, योग आरोप्यमाणानां परस्परं  
युज्यमानः सम्बन्धः, अयोगस्तदभावः तौ भिदाकरौ भेदकौ,  
द्विप्रभृत्यङ्गारोपेषु आरोप्यमाणानां परस्परसम्बन्धासम्बन्धाभ्यां  
युक्तरूपकमयुक्तरूपकमिति च भेदद्वयमित्यर्थः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गमिदं मुखम् ।

इति पुष्पद्विरेफाणां सङ्गत्या युक्तरूपकम् ॥ ७७ ॥

तत्र प्रथमं युक्तरूपकमुदाहरति । स्मितेति । स्मितमेव  
पुष्पं तेनोज्ज्वलं, लोलनेत्रे एव भृङ्गौ यत्र तत् । अत्र मुख-

स्यावयवयोरेव स्मितनेत्रयोः पुष्पभङ्गाभिन्नतया रोपणादवय-  
वरूपकम् । अवयवत्वञ्चाधेयत्वं, तथात्वञ्च स्मितस्य विद्यत एव ।  
इतीति, पुष्पद्विरेफाणां सङ्गत्या सम्भवता परस्परयोगेन पुष्पेषु  
द्विरेफाणां सम्बन्धस्य युक्तत्वेनेत्यर्थः युक्तरूपकनामकमिदम् ॥  
॥ ७७ ॥

इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलं मुखम् ।

इति ज्योत्स्नोत्पलायोगाद्युक्तं नाम रूपकम् ॥ ७८ ॥

अयुक्तरूपकमुदाहरति । इदमिति । आर्द्रं सरसं स्मित-  
मेव ज्योत्स्ना यत्र तत् । ज्योत्स्नोत्पलायोगादिति, ज्योत्स्नोत्प-  
लयोरारोप्यमाणधोरयोगात् उत्पले ज्योत्स्नायोगस्याभावाद्-  
युक्तरूपकमिदम् ॥ ७८ ॥

रूपणादङ्गिनोऽङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् ।

रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा ॥ ७९ ॥

मदरक्तकपोलेन मन्मथस्वप्नमुखेन्दुना ।

नर्तितभ्रूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥ ८० ॥

विषमरूपकमाह । रूपणादिति । अङ्गिनोरूपणात्, तथा  
अङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् कस्यचिदङ्गस्य रूपणात् कस्य-  
चिदरूपणाच्चेत्यर्थः । आश्रयपदं भावसाधितम् । एवं रूपणा-  
रूपणरूपवैषम्यादिविषमरूपकमिदम् ॥ ७९ ॥

उदाहरति । मद्दरक्तेति । मुखेन्दुनेत्यत्र मुखस्याङ्गिनोरूप-  
पणम् । अङ्गयोस्तु ध्रुकपोलयोर्मध्ये भ्रुवोरूपणं, कपोलस्यारूप-  
णमिति वैषम्यम् ॥ ८० ॥

हरिपादः शिरोलग्नजङ्गुकन्याजलांशुकः ।

जयत्यसुरनिःशङ्कसुरानन्दोत्सवध्वजः ॥ ८१ ॥

विशेषणसमग्रस्य रूपं केतोर्यदोदृशम् ।

पादे तदर्पणादेतत् सविशेषणरूपकम् ॥ ८२ ॥

सविशेषणरूपकमाह । हरिपाद इति । शिरः पादस्य ध्व-  
जस्य चाग्रभागः, तत्र लग्नं जङ्गुकन्याया मन्दाकिन्या जलमेवां-  
शुकं श्वेतपटाञ्चलं यस्य सः । असुरेभ्यो निःशङ्का बलिदमना-  
न्निर्भया ये सुरास्तेषामानन्दोत्सवस्य ध्वजः केतुर्हरेर्वामनस्य  
पादो वामचरणः ॥ ८१ ॥

विशेषणेति । विशेषणसमग्रस्य विशेषणविशिष्टस्य, केतोर्ध्व-  
जस्य, विशेषणञ्चात्र शिरोलग्नेत्यादि असुरनिःशङ्केत्यादि च ॥

॥ ८२ ॥

न मीलयति पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते ।

त्वन्मुखेन्दुर्ममाह्वना हरणायैव कल्पते ॥ ८३ ॥

अक्रिया चन्द्रकार्याणामन्यकार्यस्य च क्रिया ।

अत्र सन्दर्श्यते यस्माद्विरुद्धं नाम रूपकम् ॥ ८४ ॥

विरुद्धरूपकमाह । नेति । माग्निनीं प्रति नायकस्योक्ति-

रियं । न मोक्षयति न सङ्कोचयति । चक्षुर्ना चरन्त्यायेवेति  
विप्रसन्नोद्दीपकत्वादिति भावः । कल्पत इत्यत्र यस्यतीति  
कचित्पाठः, यस्यति यतते ॥ ८३ ॥

अक्रियेति । चन्द्रस्यारोपमाणस्य कार्याणि पद्ममीलन-  
नभोऽवगाहनादीनि, अन्यस्यारोपमाणचन्द्रभिन्नस्य यमस्य का-  
र्यमसुहरणरूपम् । विरुद्धमिति, उपमानाभिन्नतया रूपि-  
तस्योपमेयस्योपमानकार्यकरणमेवोचितं तदकरणात् प्रत्युत  
तदन्यकार्यकरणाच्च विरोधप्रतिभासादिविरुद्धरूपकमिदं, विरो-  
धश्चात्रानौचित्यरूपः ॥ ८४ ॥

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।  
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः ॥ ८५ ॥  
गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरोगिरिः ।  
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम् ॥ ८६ ॥

हेतुरूपकमाह । गाम्भीर्येणेति । गाम्भीर्यमज्ञोभ्याशयत्वं,  
गौरवं सारशालित्वं । तृतीया पञ्चमी चात्र हेतौ ॥ ८५ ॥

गाम्भीर्यप्रमुखैरिति । क्रियते प्रसृते राजनि आरोप्यते ।  
अत्र गाम्भीर्यादिमाधारणधर्माणां हेतुतयोपादानेन समु-  
द्रारोपणाद्धेतुरूपकमिदं । विश्वनाथादयस्तु एकस्य प्रसृ-  
तस्य गाम्भीर्यादिविषयभेदेनानेकधास्त्रेखादुस्त्रेखालङ्कारोऽयमि-  
त्याहुः ॥ ८६ ॥

राजहंसोपभोगार्हं भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम् ।

सखि ! वक्त्राम्बुजमिदं तवेति श्लिष्टरूपकम् ॥ ८७ ॥

श्लिष्टरूपकमाह । राजहंसोपभोगार्हमिति । राजहंसो नृ-  
पश्रेष्ठः पत्तिविशेषश्च, भ्रमरः कामुको मृङ्गश्च । “राजहंसस्तु  
कादम्बे कलहंसे नृपोत्तमे” इति । भ्रमरः कामुके मृङ्गे इति  
च मेदिनी । श्लिष्टरूपकमिति साधारणधर्मस्य श्लेषनिष्पन्नत्वा-  
दिति भावः । साधारणधर्मप्रयोगाच्चात्र वक्त्राम्बुजमिवेत्युप-  
मितिसमासाभावान्नोपमाशङ्का ॥ ८७ ॥

इष्टं साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययोः ।

उपमाव्यतिरेकाख्यं रूपकद्वितयं यथा ॥ ८८ ॥

अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः ।

सन्नद्धोदयरगस्य मुखस्य प्रतिगर्जति ॥ ८९ ॥

चन्द्रमाः पीयते देवैर्मया त्वन्मुखचन्द्रमाः ।

असमग्रोऽप्यसौ शश्वदयमापूर्समण्डलः ॥ ९० ॥

उपमारूपकव्यतिरेकरूपके क्रमेणाह । इष्टमिति । गौणः  
गुणसम्बन्धादारोपमाणस्यन्त्रादिः, मुख्य आरोपविषयो मुखा-  
दिः, तयोः साधर्म्यदर्शनादुपमारूपकं वैधर्म्यदर्शनाद्द्व्यतिरेक-  
रूपकञ्च इष्टं कविभिरभिलषितम् । क्रमेणोदाहरति । यथे-  
ति । अयमिति मदेन मद्यपानेन आलोहितच्छायः किञ्चि-  
त्सोहितकान्तिः । सन्नद्धः स्फुरन्नुदयरग उदयकालीनलोहितं

यस्य, तस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति समानरागवत्त्वात् स्पृष्टे न तु  
 सदृशीभवतीत्यर्थः, तथा मत्पुपमाया विश्रान्तिधामतया प्राधा-  
 न्यात् तथा निगीर्णस्य मुखचन्द्रमा इत्यत्र सतोऽपि रूपवैचित्र्यस्य  
 व्यपदेशकत्वाभावेन भेदकरणनौचित्यात् चन्द्राभिन्नं मुखं  
 चन्द्रसदृशमिति प्रतीत्यसङ्गतेषु । वस्तुतस्तु, रक्तं तव मुखं  
 चण्डि साक्षात् सन्ध्येन्दुमण्डलमित्युदाहरणमस्य बोध्यम्, अत्र  
 रक्तत्वं मुख्यगौणयोर्मुखेन्दुमण्डलयोः साधर्म्यमित्युपमारूपक-  
 मिदं । न चोपमाया अप्रतीतौ कथमुपमारूपकमितिसमाख्या-  
 लाभ इति वाच्यं, तस्य रूप्यरूपकयोः साधर्म्यसङ्गावरूपतया  
 पारिभाषिकत्वात् । चन्द्रमा इति । असौ देवैः पीयमान-  
 स्रन्द्रः शश्वदसमयोऽसम्पूर्णः, अयं मया पीयमानस्त्वमुखचन्द्र-  
 माः पुनः शश्वदापूर्णाण्डल इति मुख्यगौणयोर्मुखचन्द्रमयोः  
 सम्पूर्णत्वाधर्म्यत्वरूपवैधर्म्यप्रयोगाद्भ्यतिरेकरूपकमिदं व्यतिरेक-  
 स्याच्चेपमानादुपमेयस्योत्कर्षः । न च वक्ष्यमाणव्यतिरेक एवा-  
 यमिति वाच्यं, सादृश्यप्रतीतिपूर्वकभेदपर्यवसानाभावात्, यथा  
 वक्ष्यति । शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्दयोः । तत्र  
 यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स उच्यते इति ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्यमन्योपतापिनः ।

न ते सुन्दरि ! संवादीत्येतदाक्षेपरूपकम् ॥ ९१ ॥

आक्षेपरूपकमाह । मुखचन्द्रस्येति । इत्यमितिपदं वाक्य-  
 स्यास्य कमलसङ्कोचनहतचन्द्रनिन्दाबोधकवाक्यान्तर्यं सूच-



यति । इत्थं कमलसङ्कोचनेन अन्योपतापिनः परपीडयितुः,  
यदा इत्थमेवमतिनिर्द्दयमेवेत्यर्थः, अन्योपतापिनो मादृशविर-  
हिजनतापकस्य चन्द्रस्य चन्द्रत्वं तव मुखचन्द्रस्य न संवादि न  
युज्यते सर्वेषामाह्लादकत्वेन परपीडकधर्माध्यासायोगादिति  
भावः । विलक्षणमेवेदं तन्मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्यर्थः । आ-  
क्षेपरूपकमिति आक्षेपः प्रतिषेधोक्तिः तदुपादाननियतत्वा-  
दाक्षेपरूपकमिदं । न चायं व्यतिरेकः सादृश्यप्रतीत्यभावात्,  
नायपङ्क्तिः प्रस्तुतस्यानिषेधात् चन्द्रत्वस्यारोपमाणतया प्रस्तु-  
तत्वाभावात् ॥ ६१ ॥

मुखेन्दुरपि ते चण्डि ! मां निर्द्दहति निर्द्दयम् ।  
भाग्यदोषान्ममैवेति तत् समाधानरूपकम् ॥ ६२ ॥

समाधानरूपकमाह । मुखेन्दुरपीति । अपिना निर्द्दहन-  
स्यात्यन्तायोग्यत्वं सूचितं । तच्च स्वयं समाधत्ते भाग्यदोषा-  
न्ममैवेति न ह्यघटनघटनायां भाग्यस्यातिभार इति स्वयमु-  
त्यापितानुपपत्तिसमाधानसहकृतत्वात् समाधानरूपकमिदम् ॥  
॥ ६२ ॥

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भूलतानर्त्तकी तव ।  
लीलानृत्यं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम् ॥ ६३ ॥

रूपकरूपकमाह । मुखपङ्कजेति । मुखमेव पङ्कजं तदेव  
रङ्गो नाय्यालय इति समासद्वयम्, एवं भूरेव लता सैव नर्त्त-

कीति । रूपकरूपकमिति एकेन रूपितस्याप्यपरेण रूपणा-  
दिति भावः । यथा प्रथमं मुखस्य पद्मजत्वेन रूपणं ततश्च रङ्ग-  
त्वेन रूपणमिति एवं भ्रूलतानर्त्तकीत्यत्रापि, इदञ्च समास-  
गतमेव, व्यासे तु एकस्य बज्जभीरूपणे हेतुपादाने गाम्भीर्येण  
समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वत इत्यादौ हेतुरूपकं पूर्वमुक्तं  
तदनुपादाने मालावयविरूपकमिति । यथा सौन्दर्यस्य तर-  
ङ्गिणी, तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षाद्गमः, कान्तेः कार्मणकर्ष, नर्म्मर-  
हसामुक्तासनावासभूः । विद्या वक्रगिरां, विधेरनवधिप्रावीण्य-  
साचात्क्रिया, वाणाः पञ्चशिलीमुखस्य, ललनाचूडामणिः मा-  
प्रिया, इति । रम्यमिति, यत्र बज्जभीरूपणे रम्यता न भवति  
तत्र नैदं यथा, नागीवाङ्गलताव्यालीपरिरम्भः, कुतः सुखी-  
त्यादि, अत्र बाहौ लतात्वारेपे न कापि रम्यता, अपकर्ष-  
प्रतिपादनस्यैव प्रस्तावात्, प्रकृते तु मुखस्य पद्मजत्वारेपेणोत्कर्ष-  
प्रतिपादनं युज्यत एव ॥ ८३ ॥

नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ ।

एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्च्चिषस्तव ॥ ८४ ॥

मुखादित्वं निवर्त्यव पद्मादित्वेन रूपणात् ।

उद्भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापङ्गवरूपकम् ॥ ८५ ॥

तत्त्वापङ्गवरूपकमाह । नैतदित्यादि । मुखादित्वं मुखत्वा-  
दि, निवर्त्यैव प्रतिषिद्धैव, पद्मादित्वेन पद्मत्वादिना प्रस्तुतस्य  
रूपणात् उद्भावितः रूपकान्तरेभ्यः स्फुटतया व्यञ्जितोगुणो-

त्कर्षः तादात्म्यारोपहेतुप्रस्तुतगुणाधिक्यं यत्र तत्, अतएवेदं  
 तत्त्वस्य प्रस्तुतस्वरूपस्यापङ्गवेनाप्रस्तुतस्वरूपारोपात्तत्त्वापङ्गव-  
 रूपकं, रूपकान्तरेषु सामानाधिकरण्यादिना उपमेयस्योपमा-  
 नाभिन्नतया प्रतिपादनाद् यावान् गुणोत्कर्षः अत्र तु प्रति-  
 षेधपूर्वकारोपेण ततोऽप्यधिक इति सहृदयमंवेद्यं । नचापङ्गु-  
 तिरेवेयं धर्मिधर्मगतत्वेन द्वयोर्विभिन्नविषयत्वात्, रूपकेऽस्मिन्  
 प्रस्तुतस्य धर्मिणः प्रतिषेधेन धर्म्यन्तरारोपः, अपङ्गुत्यान्तु  
 प्रस्तुतस्य धर्मप्रतिषेधेन धर्मान्तरारोप इति । विभागश्चाय-  
 मुदाहरणदर्शनादवमोयते, तथाहि रूपकेऽस्मिन् नैतन्मुखमिदं  
 पद्ममित्यादौ मुखादेर्धर्मिणः प्रतिषेधेन धर्म्यन्तरस्य पद्मादे-  
 रारोपः, न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामितोत्यपङ्गुत्यु-  
 दाहरणे स्मरस्य धर्मिणः पञ्चवाणताधर्मं प्रतिषिध्य सहस्र-  
 वाणतारूपधर्मान्तरारोप इति बहवः । अन्ये तु सादृश्यप्रतीति-  
 पूर्वकारोपोरूपकम्, अपङ्गुतिस्तु न तथा, प्रकृते प्रतिषेधेऽपि  
 सादृश्यप्रतीतिरस्येवेत्याहुः । नव्यास्त्रभयत्रायपङ्गुतिमेव वदन्ति  
 सत्यपङ्गवे रूपकायोगात्, अतएव दर्पणकृता, रूपकं रूपि-  
 तारोपोविषये निरपङ्गवे इति निरपङ्गवेति विषयविशेषण-  
 • मुपन्यस्तम् ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

न पर्यन्तोविकल्पानां रूपकोपमयोरतः ।

दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥ ८६ ॥

॥ इति रूपकचक्रम् ॥

रूपकमुपसंहरति । न पर्यन्त इति । विकल्पाः क्वचिद्वै-  
 चित्रमालक्ष्य भेदकल्पनाः तेषां पर्यन्तः शेषसीमा । अनुक्त-  
 मिति तथा हि परम्परितमपि रूपकभेद एव यथोक्तं प्रका-  
 शकृता, नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः । तत्  
 परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वेति । श्लिष्टवाचके यथा “वि-  
 दन्मानसहंसवैरिकमलासङ्कोचदोषद्युत” इत्यादि, भेदभाजि  
 यथा “आलानं जयकुञ्जरस्य दृशदां सेतुर्विपदारिधेः”  
 इत्यादि । इदञ्चाधिकारूढवैशिष्ट्यमपि । यथा, “इदं वक्तं  
 साक्षाद्विरचितकलङ्कः शशधर” इत्यादि । क्वचिद्वैयधिकर-  
 ण्येऽपि यथा, विदधे मधुपश्रेणीमिह भूलतया विधिरिति ।  
 क्वचिद्वैधर्म्येऽपि, यथा, सौजन्याम्बुमहस्यली, सुचरितालेख्य-  
 द्युभिन्नि, गुणज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी, शरलतायोगश्रुच्छ्रुटा ।  
 यैरेषापे दुराशया कलियुगे राजावली सेविता तेषां शूलि-  
 नि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत् कौशलमित्यादि । एवमन्येऽपि  
 भेदा नवीनैरुद्भाविता ज्ञातव्याः । स्मितेनापायनं दूरादागतस्य  
 कृतं मम । स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतोद्युते पणस्त्वयेत्यादौ नवीनै-  
 रङ्गीकृतः परिणामस्तु न रूपकेष्वन्तर्भवितुमर्हति गौणलक्षणा-  
 मूलकत्वाभावात् रूपकस्य च तन्मूलकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्  
 तस्मादतिरिक्त एवायमलङ्कारः वैवित्रविशेषस्य स्फुटं प्रतीय-  
 मानत्वादित्यवधेयम् ॥ ६६ ॥

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना ।

सर्ववाक्योपचारस्येत् तमाङ्गोपकं यथा ॥ ६७ ॥

अथ दीपकं लक्षयति । जातीति । एकत्र वर्तिना प्रवन्धघटके कस्मिंश्चिदेकस्मिन् आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये स्थितेन जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिना जात्याद्यन्यतमवाचकेन पदेन यदि सर्ववाक्योपकारः स्वार्थद्वारा वाक्यान्तरार्थान्वयस्योपपत्तिर्भवति, तदा तद्दीपकम्, एकान्तःपातिनोऽपि दीपवद्वाक्यान्तरोद्दीपकत्वाद्दीपकाख्यमलङ्कारमाङ्गरित्यन्वयः । दीपो यथा एकदेशस्थितोऽपि देशान्तरीयपदार्थान् दीपयति तथैकवाक्यगतमपि जात्याद्यन्यतमवाचकपदं काकाचिन्व्यायेनानुषङ्गेण तदादि-सर्वनाम्ना चकारादिना वा वाक्यान्तरे परामृष्टं सत् स्वार्थद्वारा तदर्थान्वयं सम्पादयतीति । इत्यञ्चैकवाक्योपात्तपदप्रतिपाद्यस्य जात्याद्यन्यतमस्य तत्रैव जनितान्वयतया निराकाङ्क्षस्यापि पुनरनुषङ्गादिना वाक्यान्तरार्थान्वितत्वं दीपकमिति निर्गलितोऽर्थः, अतएवास्वार्थालङ्कारत्वं यथा श्रुतान्वये शब्दालङ्कारता स्यादिति बोध्यं । प्रस्तुताप्रस्तुतयोरैकधर्मसम्बन्धरूपमपरैरङ्गीकृतं दीपकमप्यनेकवाक्यगतत्वे निरुक्तदीपकलक्षणलक्षितमेव यथा, “किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केसराइं सीहाणं । कुलवालिआणं त्यणआ कुतो धेप्पन्ति अमिआणं” इत्यादौ । एकवाक्यगतत्वे तु भिन्नप्रकारमेव तदिति बोध्यम् । एवमुपमारूपकयोः साधारणधर्मस्योभयान्वयित्वेऽप्यनुषङ्गादिपरामृष्टपदोपस्थाप्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः । सर्ववाक्योपकार इति जात्यादिपदं यस्य वाक्यस्यान्तर्गतं यत्र च परामृष्टं तयोर्दयोर्वाक्ययोरुपकार इत्यर्थः ।

एतेन चैकस्मिन् वाक्येऽस्य न सद्भाव इति सूचितम् ॥ ८७ ॥

पवनेदक्षिणः पूर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम् ।

स एवावनताङ्गीनां मानभङ्गाय कल्पते ॥ ८८ ॥

एवं जात्यादिगतत्वेन चतुर्विधेऽस्मिन् प्रथमं जातिगत-  
मुदाहरति । पवन इति । जीर्णमित्यनेन पवनस्य मान्यं सूचि-  
तम् । अत्र पूर्ववाक्योपात्तस्य पवनस्योत्तरवाक्ये स एवेति  
तच्छब्देन परामर्शः, तेनैव च तदर्थान्वयनिर्वाहः । पवनश-  
ब्दस्य बहुव्यक्तिवाचकत्वाज्जातिवाचक इति जातिदीपकमि-  
दम् ॥ ८८ ॥

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः ।

चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासोगुणाश्च ते ॥ ८९ ॥

क्रियादीपकमुदाहरति । चरन्तीति । दन्तिनादिक-  
रिणः । चक्रवालाद्रिलोकालोकाचलः । कुन्दभासः शुक्राः,  
गुणा यशांसि । तत्र यशांसि ब्रह्माण्डव्यापकानीत्यर्थः । अत्र च-  
कारेण परामृष्टायाः पूर्ववाक्यगतचरन्तीतिक्रियाया उत्त-  
रवाक्यगतेन गुणा इत्यनेनाप्यन्वय इति क्रियादीपकमि-  
दम् ॥ ८९ ॥

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशोजोमूतपङ्क्तिभिः ।

भुवस्य सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥ १०० ॥

गुणदीपकमुदाहरति । श्यामला इति । प्रावृषेष्वाभिः  
प्रावृड्भवाभिः । प्रावृष एन्य इत्येन्यप्रत्ययः । नवशाद्वलरा-  
जिभिः नववृणहरितीकृतप्रदेशैः । अत्रापि भुवश्चेति चका-  
रेण पूर्ववाक्यगतस्य श्यामला इति गुणवाचकपदस्य परामर्श  
इति गुणदीपकमिदम् ॥ १०० ॥

विष्णुना विक्रमस्येन दानवानां विभूतयः ।

क्वापि नीताः, कुतोऽप्यासन्नानीता दैवतद्वयः ॥ १०१ ॥

द्रव्यदीपकमुदाहरति । विष्णुनेति, विक्रमस्येन पादवि-  
क्षेपं कुर्वता, दानवानां बलिप्रभृतोनां । दैवतद्वय इन्द्रा-  
दीनां श्रियः कुतोऽप्यानीता आसन्नित्यन्वयः । अत्र विष्णो-  
रेकत्वाद्विष्णुनेति द्रव्यपदं तस्य चोत्तरवाक्ये काकाचिन्याया-  
दनुषङ्गादा परामर्श इति द्रव्यदीपकमिदम् ॥ १०१ ॥

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येवं मध्यान्तयोरपि ।

वाक्ययोर्दर्शयिष्यामः कानिचित्तानि तद्यथा ॥ १०२ ॥

एवं जात्यादिचतुष्टयगतत्वेन चतुर्विधस्यास्य पुनरपि जा-  
त्यादिपदानामादिमध्यान्तवाक्यगतत्वात् त्रैविध्यं दर्शयन्नाह ।  
इत्यादीति । इत्येषु चतुर्षु पूर्वश्लोकेषु आदिदीपकान्युक्तानि  
परामृश्यमानजात्यादिपदानामादिवाक्यनिवेशितत्वात् । एव-  
मित्यादि एवम्, आदिवाक्य इव मध्यान्तयोरपि वाक्ययो-  
र्दीपकानि कानिचिद्दर्शयिष्यामः, कानिचिदिति ग्रन्थबाहुल्य-

भिया नतु सर्वाणीत्यर्थः । तद्यथेति तानि यथेत्यर्थः, तत्के-  
षाञ्चिद्दर्शनं यथेति वा ॥ १०२ ॥

नृत्यन्ति निचुलोत्सङ्गे गायन्ति च कलापिनः ।  
बध्नन्ति च पयोदेषु दृशोर्हर्षाश्रुगर्भिणीः ॥ १०३ ॥

नृत्यन्तीति । निचुलः स्थलवेतमद्रुमः तस्योत्सङ्गे तलप्रदेशे ।  
गायन्ति केकाध्वनिं कुर्वन्ति । हर्षाश्रुगर्भिणीरानन्दाश्रु-  
पूर्णाः । अत्र कलापिन इति जातिपदं चकारेण वाक्यान्तरे-  
ऽपि परामृष्टं, तच्च मध्यवाक्यगतमिति जातिगतं मध्यदीपक-  
मिदम् ॥ १०३ ॥

मन्दोगन्धवहः क्षारो, वङ्गिरिन्दुश्च जायते ।  
चर्चाचन्दनपातश्च शस्त्रपातः प्रवासिनाम् ॥ १०४ ॥

मन्द इति । चारः चाररमोद्गारी क्लेशकर इत्यर्थः । चर्चा  
सजलवस्तुनां विक्षेपः तद्रूपश्चन्दनसम्पातः । अत्र जायते इति  
मध्यवाक्यगतया क्रियया सर्ववाक्यदीपनमिति क्रियागतं मध्य-  
दीपकमिदं, किञ्चात्र रूपकमपि, तदनयोः सङ्करः । एवं  
श्लोकद्वयेन जातिगतं क्रियागतञ्च मध्यदीपकमुदाहृतं, गुण-  
द्रव्यगतम् मध्यदीपकं स्वयमूहनीयम् । क्रमेण यथा, “तडि-  
द्विर्वारिवाहाणां योगः, स्त्रीभिः प्रवासिनाम् । सताभिः पाद-  
पानाच्च समायाते घनागमे” इति । अत्र योगः संयोगः  
सच गुणः, मध्यवाक्यगतेन च तेन सर्ववाक्यदीपनाहुणगतं



मध्यदीपकमिदम् । “मुञ्जर्विश्वं संसृजति विभर्त्त च मुञ्जर्हरिः ।  
मुञ्जस्य नाशं नयति बालक्रीडनकौतुकी” इति । अत्र हरिर्द्रव्यं  
तच्च मध्यवाक्यगतमिति द्रव्यगतं मध्यदीपकम् ॥ १०४ ॥

जलं जलधरोद्गीर्णं कुलं गृहशिखण्डिनाम् ।

चलच्च तडितां दाम, बलं कुसुमधन्वनः ॥ १०५ ॥

अन्तदीपकमुदाहरति । जलमिति । बलं सैन्यं तच्च जाति-  
वाचकमन्तवाक्यगतञ्च सत् वाक्यत्रयेऽपि विधेयमिति जाति-  
गतमन्तदीपकमिदम् ॥ १०५ ॥

त्वया नीलोत्पलं कर्णे, स्मरेणास्त्रं शरासने ।

मयापि मरणे चेत, स्वयमेतत् समं कृतम् ॥ १०६ ॥

क्रियागतमन्तदीपकमुदाहरति । त्वयेति । मानिनीं प्रत्यु-  
क्तिरियम् । अत्र कृतमित्यन्तवाक्यगतं क्रियापदं वाक्यत्रये-  
ऽप्यन्वितमिति क्रियागतमन्तदीपकमिदम् । एवं गुणद्रव्यगतं  
स्वयमूहनीयं, क्रमेण यथा, “इदमुज्जृम्भते विम्बं भानोस्ता-  
पयितुं जगत् । ममैव हृदयं चण्डि मुखञ्च तव लोहितम्” ॥  
अचान्तवाक्यगतं लोहितमिति गुणपदं वाक्यद्वयं दीपयति ।  
“सत्यं विश्वं सन्तपति सत्यं कर्षति वै रसान् । तमांसि तु निह-  
न्तीति प्रार्थनीयोदयो रविः” ॥ अत्र रविरिति द्रव्यपदं स-  
र्व्वाणि वाक्यानि दीपयति ॥ १०६ ॥

शुक्लः श्वेतार्चिषोवृद्धौ पक्षः, पञ्चशरस्य सः ।

सच रागस्य, रागोऽपि यूनां रत्युत्सवश्रियः ॥ १०७ ॥

इत्यादिदीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी ।

वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम् ॥ १०८ ॥

इत्थं जात्यादिचतुष्टयस्यादिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन द्वाद-  
शविधं दीपकं प्रदर्शयन् तत्रैव किञ्चित्किञ्चिद्वैचित्र्याद्भावनेन  
प्रभेदान्तराणि दर्शयन् सम्प्रति मालादीपकं दर्शयति । शुक्ल  
इति । शुक्लः पक्षः श्वेतार्चिषश्चन्द्रस्य वृद्धौ भवति, स शुक्लः पक्षः  
पञ्चशरस्य, सच पञ्चशरो यूनां रागस्य, स रागोऽपि तेषां रत्यु-  
त्सवश्रिय इत्यन्वयः । सर्वत्र वृद्धौ इत्यस्यानुषङ्गः । इत्यादिदीप-  
कत्वेऽपि वृद्धौ इत्यस्यानुषङ्गमानपदस्यादिवाक्योपात्तत्वादादि-  
दीपकत्वसद्भावेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी स्वापकारकत्वेन पूर्वं पूर्व-  
मपेक्षमाणा वाक्यमाला उत्तरोत्तरवाक्यसमूहः प्रयुक्ता इत्यतो  
वैचित्र्यादिदं मालादीपकं मतमित्यन्वयः, इत्यञ्च पूर्वपूर्व-  
सापेक्षोत्तरोत्तरवाक्येषु जात्याद्यन्यतमपदानुषङ्गो मालादीप-  
कमिति लक्षणम् । तादृशानुषङ्गमानपदञ्च सापेक्षवाक्यैक-  
तमनिष्ठमेवेति न नियमः वाक्यान्तरगतेनाप्येतत्सम्भवात् । अ-  
तएव प्रकाशकता, संयामाङ्गनमागतेन भवता चापि समारोपिते  
देवाकर्णय येन येन महसा यद्यत् समामादितम् । कोदण्डेन  
शराः शरैरिगिरिक्षेनापि भूमण्डलं तेन त्वं भवता च की-  
र्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्, इत्यत्रासादितेति कि-

यापदस्य निरपेक्षवाक्यगतत्वेऽपि मालादीपकमङ्गीकृतम् ॥

॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अवलेपमनङ्गस्य वर्द्धयन्ति वलाहकाः ।

कर्षयन्ति तु घर्मस्य मारुतोद्भूतशीकराः ॥ १०९ ॥

अवलेपपदेनात्र वलाहकपदेन च ।

क्रिये विरुद्धे संयुक्ते, तद्विरुद्धार्थदीपकम् ॥ ११० ॥

विरुद्धार्थदीपकमाह । अवलेपमिति । कर्षयन्ति कृशं कु-  
र्वन्ति, घर्मस्य शीतस्य, मारुतोद्भूतशीकरा इत्युभयत्र हेतुः ॥

॥ १०९ ॥

अवलेपेति । अवलेपपदेन वलाहकपदेन चेति वर्द्धनाकर्ष-  
नाक्रिययोः कर्मभूतेन कर्तृभूतेन चेत्यर्थः । क्रिये वर्द्धनाकर्षना-  
रूपे, विरुद्धे इति अत्रापिर्बाध्यः, विरुद्धे अपि असमानाधि-  
करणे अपीत्यर्थः, संयुक्ते सामानाधिकरण्यं प्रापिते । अत्राय-  
मर्थः, निरुक्तक्रियाद्वयफलभूतौ वृद्धिह्रासौ विरुद्धावपि एक-  
स्मिन् कर्मण्यवलेपे वर्त्तमानौ वर्णितौ । एवं तत्फलक्रिया-  
द्वयस्यैकस्मिन् कर्त्तरि वलाहके वर्णितमिति । सम्बन्धिभेदाच्चा-  
वलेपस्य विरोधप्रशमनम् । विरुद्धक्रिययोश्चानयोरेकस्मिन्  
कर्मणि कर्त्तरि च सम्बन्धेन वैचित्रविशेषोपलम्भाद्विरुद्धार्थदी-  
पकमिदम् । इदञ्चादिदीपकम् आदिवाक्यगतयोः कर्मकर्तृ-  
पदयोरवलेपवलाहकयोरुत्तरवाक्येऽनुषङ्गात् । तदपि चाव-

लेपस्य गुणवाचकत्वाद्गुणगतं, वलाहकस्य जातिवाचकत्वा-  
ज्जातिगतञ्च तदनयोः सङ्करोऽयम् ॥ ११० ॥

हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम् ।

आदत्ते चाद्य मे प्राणानसौ जलधरावली ॥ १११ ॥

अनेकशब्दोपादानात् क्रियैकैवात्र दीप्यते ।

यतो जलधरावल्या तस्मादेकार्थदीपकम् ॥ ११२ ॥

एकार्थदीपकमाह । हरत्याभोगमिति । आशानां दिशा-  
माभोगं विस्तारं । ज्योतिषां गणं ग्रहनक्षत्रसमूहम् ॥ १११ ॥

अनेकेति । अनेकशब्दोपादानात् उपात्तैर्हरतिगृह्णात्या-  
दत्त इति त्रिभिः पदैरुपस्थाप्येत्यर्थः, वस्तुतस्तु अनेकशब्दो-  
पादानेति प्रथमान्त एव पाठः सम्यक्, अनेकैः शब्दैरुपादान-  
मुपस्थापनं यस्याः सेत्यर्थः । एकैव अर्थतोऽभिन्नैव क्रिया  
जलधरावल्या अन्तवाक्यगतेन जलधरावलीतिकर्तृत्वेन यतो-  
दीप्यते निर्व्यूढान्वयः क्रियते, तस्मात् अनेकपदप्रतिपाद्यस्या-  
प्येकार्थस्य दीपनादेकार्थदीपकमिदम् । अनेकक्रियाणामेक-  
कारकत्वरूपं नयैरङ्गीकृतं दीपकन्वितो भिन्नमेव, यथा दूरं  
समागतवति त्वयि जीवनाद्ये भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी  
सा । उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीयमायाति याति  
हसति श्वसिति क्षणेन, इति । अत्रोत्थानादिक्रिया भिन्ना एव  
॥ ११२ ॥

हृद्यगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः ।

दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजाः ॥ ११३ ॥

अत्र धर्मैरभिन्नानामभ्राणां दन्तिनां तथा ।

भ्रमणेनैव सम्बन्ध इति श्लिष्टार्थदीपकम् ॥ ११४ ॥

श्लिष्टार्थदीपकमाह । हृद्येति । हृद्योऽनुद्धूतो गन्धवहो वा-  
युर्यत्र ते इति जीमूतविशेषणम् । हृद्यं गन्धं मदसौरभं वह-  
न्तीति मतङ्गजविशेषणञ्च ॥ ११३ ॥

अत्रेति । धर्मैरभिन्नानामभिन्नधर्मवताम्, अभिन्नत्वञ्च ध-  
र्माणामेकशब्दप्रतिपाद्यत्वं वस्तुत एकरूपत्वञ्च, तत्र हृद्यगन्धवहा  
इत्यत्र प्रथमम्, अन्यत्र द्वितीयं । भ्रमणेनैव सम्बन्ध इति सा-  
मान्यलक्षणमङ्गमनार्थमिदम्, भ्रमन्तीतिक्रियाया वाक्यद्वयेऽपि  
योजनात् । श्लिष्टार्थदीपकमिति श्लिष्टयोः श्लिष्टशब्दप्रतिपाद्य-  
धर्मवतोरर्थयोर्जीमूतमतङ्गजयोः कर्त्राभ्रमन्तीति क्रियाया दी-  
पनात् श्लिष्टार्थदीपकमिदं । श्लेषश्चात्र शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्च बोध्यः  
तत्र हृद्यगन्धवहा इत्यत्र शब्दश्लेषः, अन्यत्रार्थश्लेषः ॥ ११४ ॥

अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके ।

विकल्पानामवगतिर्विधातव्या विचक्षणैः ॥ ११५ ॥

इति दीपकचक्रम् ।

दीपकमुपसंहरति । अनेनैवेति । प्रकारेण वैचित्र्यविशे-  
षेण । शेषाणामुक्तावशिष्टानां विकल्पानां भेदानां जात्या-  
दीनां द्विकादिगतत्वेन समस्तदीपकानामावलिमुपट्टप्रभृती-

नाञ्चेत्यर्थः । तत्रावलिदीपकं यथा, त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि  
पवनस्त्वं ऊतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।  
इत्यादि, अत्रापीति क्रियया वाक्याबलिर्दीप्यते । एवमन्यदपि  
श्रेयम् ॥ ११५ ॥

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च ।

दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारत्रयं यथा ॥ ११६ ॥

अथ दीपकनिरूपणानन्तरं तत्सजातीयमावृत्त्यलङ्कारं नि-  
रूपयति । अर्थावृत्तिरिति । अर्थः वाक्यान्तरीयपदप्रतिपाद्यः,  
तस्यावृत्तिर्वाक्यान्तरे तदर्थकपदान्तरश्रवणेन पुनरूपलब्धि-  
रित्येकः । तथा पदस्य वाक्यान्तरीयस्य आवृत्तिर्वाक्यान्तरे  
पुनरुच्चारणमिति द्वितीयः । एवमेकत्रोभयोरर्थपदयोरवृ-  
त्तिरिति तृतीयः । इत्यलङ्कारत्रयं दीपकस्य स्थानं सम्भव एवे-  
ष्टम् । अयमर्थः यत्र वाक्यान्तरे तत्तत्पदस्य नुपादानेऽपि  
वाक्यान्तरीयपदस्यानुषङ्गादिनाव्ययनिर्वाहाद्दीपकसम्भवस्तत्रैव  
तदर्थकपदान्तरस्य तत्पदस्यैव वा पुनरुपादानेऽयमावृत्त्य-  
लङ्कार इति, एतेन पदावृत्तेर्यमकादावतिप्रसङ्गः परिहृतः  
तत्र द्वितीयपदानुपादाने वाक्यान्तरीयपदानुषङ्गस्यायोग्यत्वेन  
विवक्षितान्वयानुपपत्तेः, योग्यत्वे वा निरुक्तविषयगतत्वनियमे  
नास्यापवादतया तद्वाधकत्वादित्यवगन्तव्यं । दीपकस्थानमे-  
वेष्टमिति पाठे तु दीपकस्य स्थानं स्थितिः सम्भवे यत्रेति  
समासः । भोजराजस्तु "त्रिविधायावृत्तिर्दीपकस्यैव भेदः"

इत्याह । यथा दीपकभेदप्रस्तावे, “अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभ-  
यावृत्तिरावली । संपुटं रमना माला चक्रवालञ्च तद्भिदा”  
इति । एतन्मते वाक्यान्तरीयपदपदार्थयोर्वाक्यान्तरेऽनुषङ्गा-  
दिना वा साक्षात्पुनःप्रयोगेण वाऽवगमोदीपकमिति । अत्रा-  
वृत्तिरर्थपदयोः पुनरावर्त्तनमित्यावृत्तिपदस्य योगार्थ एव  
सञ्चणमवगन्तव्यम् ॥ ११६ ॥

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजद्रुमाः ।

उन्मोलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि च ॥ ११७ ॥

क्रमेणावृत्तित्रयमुदाहरति । विकसन्तीति । कदम्बानि  
कदम्बमुकुलानि एवमन्यत्र । कन्दल्योगुल्मभेदाः, कन्दलीश-  
ब्दस्य हरीतक्यादिपाठात् प्रमवेऽपि स्त्रीत्वं । ककुभान्यर्जुन-  
वृक्षमुकुलानि । प्रावृषीत्यधिकरणमत्र बोध्यम् । अत्र विक-  
सन्तीत्यादिक्रियाचतुष्टयं विभिन्नस्वरूपमप्येकार्थमेवेत्यर्थस्यैवा-  
वर्त्तनादर्थावृत्तिरियम् ॥ ११७ ॥

उत्कण्ठयति मेघावां माला वृन्दं कलापिनाम् ।

यूनाञ्चोत्कण्ठयत्येप मानसं मकरध्वजः ॥ ११८ ॥

उत्कण्ठयतीति । कलापिनां वृन्दमुत्कण्ठयति खदिदृचया  
उद्गीवं करोति । यूनां मानसमुत्कण्ठयति मेघस्योदीपकत्वादु-  
त्सुकं करोति । अत्र पदमात्रस्यैवावृत्तिर्न त्वर्थस्य, द्वयोर्विभिन्ना-  
र्थकत्वात् ॥ ११८ ॥

जित्वा विश्वं भवानत्र विहरत्यवरोधनैः ।

विहरत्यसुरोभिस्ते रिपुवर्गा दिवं गतः ॥ ११९ ॥

जित्वेति । अवरोधनैरन्तःपुरिकाभिः । दिवं गत इति युद्धमरणादिति भावः । अत्र विहरतीति पदस्य तदर्थस्य चोत्तरवाक्ये आवृत्तिः, वाक्यद्वयेऽपि द्वयोरेकार्थत्वादित्युभयावृत्तिः, नच तथात्वे कथितपदत्वदोषापात इति वाच्यं तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तविषयत्वात्, उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यतायान्तु प्रत्युतैकशब्दप्रयोगस्यैव युक्तत्वात् । यथा उदेति सविता तासस्ताम्र एवास्तमेति चेत्यादि । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वञ्च, एकोद्देशेन विधेयस्य उद्देश्यान्तरेऽपि विधेयत्वम्, एकविधेयसमुद्दिष्टस्य विधेयान्तरेऽप्युद्देश्यत्वं, एकविधेयसमुद्दिष्टस्य उद्देश्यान्तरे विधेयत्वमिति त्रिविधम्, प्रकृते च राजोद्देशेन विधेयस्य विहरणस्य रिपुवर्गाद्देशेनापि विधेयत्वमित्युद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वमिति युज्यत एवैकशब्दप्रयोगः ॥ ११९ ॥

इत्यावृत्तिगणः ।

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्वैकान्यापेक्षया त्रिधा ।

अथास्य पुनराक्षेपभेदानन्त्यादनन्तता ॥ १२० ॥

अथाक्षेपं लक्षयति । प्रतिषेधोक्तिरिति । प्रतिषेधस्य उक्ति-  
हक्तिमात्रं नतु वस्तुतः प्रतिषेधः तात्त्विकप्रतिषेधस्य वैचित्रा-  
जनकत्वेनालङ्कारत्वाभावात्, प्रतिषेधाभास आक्षेप इत्यर्थः,



प्रतिषेधाक्तिश्च विशेषविवक्षानिबन्धनेति बोध्यं तत एव हि वै-  
चित्रातिशयः, प्रतिषेधश्च इष्टार्थस्यैव अनिष्टप्रतिषेधे वैचित्राभा-  
वात्, सर्व्वञ्चैतदुक्तमाग्नेये । यथा, प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषा-  
भिधित्सया । तमाक्षेपं ब्रुवन्तीति । उक्तिरिति प्रतिपादनमि-  
त्यर्थः, नतु वाचकशब्देनाभिधानं, व्यञ्जनादिनापि प्रतिषेध-  
प्रतीतेराक्षेपत्वाभ्युपगमात् । अन्याध्यवसानाभावान्नास्यापङ्कता-  
वतिप्रसङ्गः । स चाक्षेपस्तैकाल्यापेक्षया प्रतिषिध्यमानत्रैकालि-  
कवस्तुगतत्वेन वृत्तवर्त्तमानवर्त्तित्यमाणवस्तुनां प्रतिषेधप्रति-  
योगित्वेनेत्यर्थः, प्रथमं त्रिधा भवति । नव्यास्तु प्रतिषेधकर्त्तुः  
स्वाक्तस्ववक्ष्यमाणयोरेव प्रतिषेधाक्तिराक्षेपो न वस्तुमामान्य-  
स्येत्याहुः । त्रैविध्यञ्चैतत् स्थूलभेददृष्ट्या, वस्तुतस्त्वस्यासङ्ख्येयत्वमे-  
वेत्याह । अथेति, आक्षेप्याः प्रतिषेध्यास्तेषां भेदा धर्मधर्मिका-  
र्यकारणादयस्तेषामानन्त्यादनन्तप्रतियोगिकस्याप्याक्षेपस्य पुन-  
रनन्तता असङ्ख्येयत्वमित्यन्वयः ॥ १२० ॥

अनङ्गः पञ्चभिः पुष्यैर्विश्वं व्यजयतेषुभिः ।

इत्यसम्भाव्यमथवा विचित्रा वस्तुशक्तयः ॥ १२१ ॥

इत्यनङ्गजयायोगबुद्धिर्हेतुबलादिह ।

प्रवृत्तैव यदाक्षिप्ता वृत्ताक्षेपः स ईदृशः ॥ १२२ ॥

क्रमेण त्रिविधमाक्षेपमुदाहरति । अनङ्ग इति । पुष्यैरर-  
विन्दादिभिः, यदुक्तम्, 'अरविन्दमशोकश्च चूतश्च नवम-  
ल्लिका । नीलात्पलश्च पञ्चैते पञ्चवाणस्य सायका' इति । अस-

म्भाव्यमिति अनुपपत्त्या अविश्वसनीयमित्यर्थः, तथाहि विजेता  
तावदङ्गरहितः, वाणाश्च पञ्चैव, ते च पुष्पाणि न त्वायमाः,  
विजेतव्यञ्च विश्वं ब्रह्मेन्द्रादिधीरवीरपूर्णं समस्तं जगदिति  
सर्वथा विजयोऽश्रद्धेय इत्यनुपपत्तिस्थिरीकृतं विजयाम्भाव्यत्वं  
प्रतिषेधति, अथवेति, वस्तुनां शक्तयः कार्यसम्पादनयोग्यताः  
विचित्रा दुर्बोधाः, अन्वयव्यतिरेकादिना तर्कयितुमशक्या  
इत्यर्थः । तस्मात् सम्भवत्येवानङ्गस्य पुष्पवाणकरणकविश्वविजय  
इत्यसम्भाव्यत्वबुद्धेः प्रतिषेधः ॥ १२१ ॥

अत्र वृत्तात्तेषां मङ्गमन्यति । इत्यनङ्गेति । प्रवृत्तैव दुर्वार-  
यानुपपत्त्या पूर्वमुत्पन्नैव, अनङ्गजयस्यायोगोऽसम्भाव्यत्वं तस्य  
बुद्धिः, हेतुबलात् वस्तुशक्तीनां विचित्रत्वरूपकारणमहिम्ना  
इह यदाक्षिप्ता प्रतिषिद्धा स ईदृशो वृत्तात्तेषां इत्यन्वयः ।  
अत्र वाचकशब्दाप्रयोगात् प्रतिषेधो व्यङ्ग्य एव, विशेषश्चात्र जन-  
मात्रस्य कामपरतन्त्रता, तत्प्रतिपादनेच्छयैव वाक्यस्यास्य प्र-  
योगात्, एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥ १२२ ॥

कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कनभापिणि ।।

किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥ १२३ ॥

स वर्त्तमानात्तेपोऽयं कुर्वत्येवासितोत्पलम् ।

कर्णे काचित् प्रियेणैवं चाटुकारेण रुध्यते ॥ १२४ ॥

कुत इति । कुवलयं नीलोत्पलं, करोषि धारयसि,  
अपर्याप्तमसमर्थम्, अस्मिन् कर्मणि कर्णशोभासम्पादने । अत्र

कर्णे कुवलयकरणस्य कुत इत्यनेन कैमर्थेन प्रतिषेधः न कुर्वित्यर्थः ॥ १२१ ॥

स इति । सोऽयं वर्त्तमानाक्षेपः, यतोऽसितोत्पलं कर्णे कुर्वत्येव काचित्, एवं कुत इत्यादिवाक्येन, प्रियेण रुध्यते प्रतिषिध्यते, इति हेतुहेतुमद्भावेनान्वयः । अत्र कुर्वत्येवेत्येवकारेण न तु कृतवती न वा करिष्यन्तीति प्रतिषेधस्य करणसमानकालीनताप्रत्यायनया वर्त्तमानप्रतियोगिकत्वं सूचितं । विशेषश्चात्र अपाङ्गकुवलययोरतिमास्यप्रतिपादनेन नायिकासन्तोषणम् ॥ १२४ ॥

सत्यं ब्रवीमि, न त्वं मां द्रष्टुं वल्लभ ! लप्स्यसे ।

अन्यचुम्बनसंक्रान्तलाक्षारक्तेन चक्षुषा ॥ १२५ ॥

सोऽयं भविष्यदाक्षेपः, प्रागेवातिमनस्विनो ।

कदाचिदपराधोऽस्य भावीत्येवमरुन्ध यत् ॥ १२६ ॥

सत्यमिति । द्रष्टुमिति, ज्ञादिभिर्युक्तादक्रियार्थार्थाच्चेति तुमङ् । दर्शनमित्यर्थः, मां द्रष्टुं न लप्स्यसे न द्रक्ष्यसीत्यर्थः, तत् कुत इति चक्षुर्विशिनष्टि, अन्येति, अन्यस्याचुम्बनेन संक्रान्ता तदधरतः सङ्गमिष्यन्ती या लाक्षा तथेव रक्तेन लोहितोभविष्यता अथचानुरक्तीभविष्यता । अत्र लप्स्यस इति प्रधानक्रियाया भविष्यत्कालबोधकत्वात् सङ्क्रान्तेति रक्तेतिक्रान्तक्रियाद्वयस्यापि भविष्यत्कालबोधकत्वमेवाप्रधानत्वात्, तदुक्तं जुमरनन्दिना, कदादिभिस्त्रिंशद्वा विहितं कर्तृत्वाद्युक्तत्वादि

च कालविशेषश्च परम्परमायाकाङ्क्षाविरोधेन प्रधानत्वात्तिङ्गा  
बाध्यत इति ॥ १२५ ॥

सोऽयमिति । अतिमनस्विनी सुप्रशस्तमनस्का सुनिपुणे-  
त्यर्थः । अपराधो नायिकान्तरानुरागरूपः, अरुन्ध प्रतिषे-  
धे, अत्र सत्यं ब्रवीमीत्यादिवाच्यभङ्गा नार्यकस्य वर्त्तिष्य-  
माणनायिकान्तरानुरागस्य प्रतिषेधात् वर्त्तिष्यमाणात्तेपोऽयं ।  
विशेषश्चात्र नायकस्य चिरं स्ववशे स्थापनम् ॥ १२६ ॥

तव तन्वङ्गि ! मिथ्यैव हृदमङ्गेषु मार्दवम् ।

यदि सत्यं मृदून्येव, किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥ १२७ ॥

धर्मात्तेपोऽयमादिप्रमङ्गनागात्रमार्दवम् ।

कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना ॥ १२८ ॥

इत्यमात्तेपस्य स्थूलभेदत्रयं दर्शयित्वा, आत्तेप्यभेदानन्त्या-  
दनन्ततेत्यनेन तत्रभेदानामशक्यनिरूपणत्वमुक्त्वापि शिष्याणां  
किञ्चित्तत्रकारोपदेशार्थं कतिचिद्भेदान् दर्शयति । तवेति ।  
मृदून्येवेत्यत्र अज्ञानीति विशेष्यम् । अकाण्डे निष्कारणं रुजन्ति  
तापयन्ति । मृदूनां तापकत्वाम्भवाच्च तात्त्विकमेषां मार्दव-  
मिति प्रतिषेधः ॥ १२७ ॥

धर्मात्तेपोऽयमिति । तद्विरोधिना मार्दवविरुद्धेन । कर्मणा  
तापदानक्रियया ॥ १२८ ॥

सुन्दरी सा नवेत्येष विवेकः केन जायते ।

प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ॥ १२९ ॥

धर्म्याक्षेपोऽयमाक्षिप्तो धर्मी, धर्मं प्रभाङ्गयम् ।

अनुज्ञायैव यद्रूपमत्याश्चर्यं विवक्षता ॥ १३० ॥

धर्म्याक्षेपमाह । सुन्दरीति । अत्र अत्रेति विद्यत इति चाध्याहार्यं । सुन्दरीत्यस्य नायिकेत्यर्थः नतु सौन्दर्यवतीति तथात्वे सौन्दर्यधर्मस्यैव प्रतिषेधेन धर्म्याक्षेप एव स्यात् । ततश्चैवमन्वयः, अत्र सा सुन्दरी नायिका विद्यते न वा इत्येषः, संशय एवेति शेषः । विवेकः नायिका विद्यत इति निश्चयः पुनः केन कथं जायते । वस्तुतस्तु 'सा सुन्दरीयमित्येष' इत्येव पाठो लिपिकरप्रमादादन्यथा जातः सङ्गतत्वात् । यथाश्रुते संशयप्रदर्शना निष्प्रयोजना अन्वयश्च न सम्यक् सङ्गच्छत इति बोध्यम् । ननु प्रत्यक्षविषयं कथमपलपसीत्यत्राह । प्रभामात्रमिति, हि यतस्तरलं चञ्चलं समन्तात् प्रसरदित्यर्थः प्रभामात्रं दृश्यते नतु तस्याः प्रभाया आश्रयोऽधिकरणं नायिकेति, नहि प्रभामात्रस्य प्रत्यक्षेण तदाश्रयनायिकासङ्गावः शक्यते ज्ञातुं, प्रभायाः प्रतिनियताश्रयत्वाभावात् तस्मान्नायिकानिश्चयोदुरूपपाद इति प्रभारूपधर्मं संस्थाप्यैव तद्वर्त्मिभूताया नायिकाया एव प्रतिषेधाद्धर्म्याक्षेपः ॥ १२८ ॥

अत्र धर्मिणः प्रतिषेधं सङ्गमयति । धर्म्याक्षेपोऽयमिति । अत्याश्चर्यं रूपं प्रभाधिक्यवर्णनेन नायिकायाः सौन्दर्यातिशयं विवक्षता प्रतिपिपादयिषता चाटुकारेण प्रभाङ्गयं धर्ममनुज्ञायैव अनुमन्यैव अप्रतिषिध्यैवेत्यर्थः यद्यस्माद्धर्मी नायिकारूप आक्षिप्तस्तस्माद्धर्म्याक्षेपोऽयमित्यन्वयः ॥ १३० ॥

चक्षुषी तव रज्येते, स्फुरत्यधरपञ्जवः ।

भ्रुवौ च भ्रुवौ, न तथाप्यदुष्टस्यास्ति मे भयम् ॥ १३१ ॥

स एष कारणाक्षेपः प्रधानं कारणं भियः ।

स्वापराधो निषिद्धोऽत्र यत् प्रियेण पटीयसा ॥ १३२ ॥

कारणाक्षेपमाह । चक्षुषी इति । रज्येते स्वयं रक्ते भवतः ।  
अदृष्टस्य नायिकान्तरानुरागादिरूपदोषाभाववतः । प्रधान-  
मिति, साक्षाज्जनकत्वान्मुख्यमित्यर्थः । तादृशजनकत्वञ्च स्वापरा-  
धस्यैव, चक्षुरागादीनान्तु कोपव्यञ्जकानामपराधोद्भावनद्वारा  
परम्परया, एतेन प्रधानकारणाभाव एव कारणाक्षेपस्य  
विषयः अप्रधानकारणाभावस्तु वक्ष्यमाणविभावनाया इति  
सूचितम् । अन्यथा द्वयोरपि समानविषयत्वेन भेदव्यवस्थायाम-  
नल्पः प्रयासो भवेदिति बोध्यं । किञ्चात्र न भयमस्तीत्यनेन  
भयरूपकार्यप्रतिषेधात् कार्याक्षेपोऽपीति द्वयोः सङ्गोऽयं ।  
शुद्धोदाहरणन्तु । अस्माकं सखि वासमी न रुचिरे गैरिथकं नो-  
ज्वलं नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः । कि-  
न्त्वन्तेऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो दृष्टिं  
निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्, इति । अत्रो-  
त्तरार्द्धव्यञ्जस्य वशीभूतपतिकत्वरूपकार्यस्य वामोरुचिरत्वादि-  
रूपकारणान्येवाक्षिप्तानि ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

दूरे प्रियतमः, सोऽयमागतो जलदागमः ।

दृष्टास्य फुल्लानिचुला, न मृता चास्ति, किं न्विदम् ॥ १३३ ॥

कार्याक्षेपः स, कायस्य मरणस्य निवर्त्तनात् ।

तत्कारणमुपन्यस्य दारुणं जलदागमम् ॥ १३४ ॥

कार्याक्षेपमाह । दूर इति । सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया जलदागमस्य प्रसिद्धदुःखदत्तं सूचयति । जलदागमः प्रावृट्कालः, कथमस्यागमनं ज्ञातमित्यत्राह दृष्टास्येति, अत्र चक्षुषं फुल्लनिचुलदर्शनमरणाभावयोः सामानाधिकरण्यं बोधयति, एतच्चासम्भवमित्याह किं न्विदमिति, इदं निरुक्तसामानाधिकरण्यं किं नु अत्यसम्भवमित्यर्थः ॥ १३३ ॥

कार्याक्षेप इति । निवर्त्तनात् प्रतिषेधकथनात् । तत्कारणमिति । तत् विरहिमारकत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः, नतु तस्य कारणमित्यर्थः उपन्यस्येति क्लान्तक्रियाघटितस्योत्तरार्द्धस्य योजनया पूर्वार्द्धरूपत्वेन तदन्तर्वर्त्तिना तच्छब्देन मरणपरामर्शासम्भवात् । एतेन च प्रसिद्धकारणोपन्यासेन कार्याभाववर्णनेऽयं कार्याक्षेपः, अप्रसिद्धकारणोपन्यासेन तु विशेषोक्तिरिति द्वयोर्भेदोऽपि प्रतिपन्नः, कारणस्य प्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वाभ्यां भेदस्य सुवचत्वादन्वयात् तदर्थं दुरवस्था स्यादिति ध्येयम् । वस्तुतस्तु निवर्त्तनादित्यत्र निवर्त्तनमिति तदित्यत्र चदिति पाठः सम्यक् । एतत्पाठे तु विशेषोक्तितोभेदाय कारणपदस्य प्रसिद्धकारणपरत्वं वक्तव्यम् ॥ १३४ ॥

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति ।

यदि यास्यसि यातव्यमलमाशङ्कयाऽत्र ते ॥ १३५ ॥

इत्यनुज्ञामुखेनैव कामस्याक्षिप्यते गतिः ।

मरणं सूचयन्त्यैव सोऽनुज्ञाक्षेप उच्यते ॥ १३६ ॥

अनुज्ञाक्षेपमाह । न चिरमिति । यात्रा विदेशगमनं । न चिरं तापायेति विरहवेदनया झटितिमरणसम्भवेन चिर-जीवनाभावादिति भावः । अत्र यात्रायाम् । आशङ्कयेति मदीयचिरतापस्येति शेषः ॥ १३५ ॥

इत्यनुज्ञेति । अनुज्ञामुखेनैव गमनानुमतिद्वारेणैव नतु निषेधार्थकशब्दादिना । गतिराक्षिप्यत इत्यत्र हेतुः मरणं सूचयन्त्येवेति अनिष्टस्य विधेयत्वासम्भवेन प्रतिषेधपर्यवसानादिति भावः । अनुज्ञाक्षेप इति नव्याक्षेपभेदानन्यादनन्ततेत्युक्तेराक्षेपभेदेनैव व्यपदेशायुज्यते कथमत्रानुज्ञाक्षेपेति व्यपदेश इति चेन्न आक्षेपभेदानां भेदकरणं प्रत्येव तत्र हेतुत्वस्योक्तत्वात्, नतु व्यपदेशं प्रति, व्यपदेशस्तु आक्षेपोत्यापकानुज्ञादिनापि भवतीति बोध्यम् । नव्यास्तु एवंविधस्यैव विज्ञाक्षेप इत्याहुः ॥ १३६ ॥

धनञ्च वज्रं लभ्यं ते सुखं क्षेमञ्च वर्त्मनि ।

न च मे प्राणसन्देहस्तथापि प्रिय मास्र गाः ॥ १३७ ॥

इत्याचक्षाणया चेतृन् प्रिययात्रानुबन्धिनः ।

प्रभुत्वेनैव रुद्धस्तत् प्रभुत्वाक्षेप उच्यते ॥ १३८ ॥

प्रभुत्वाक्षेपमाह । धनञ्चेति । चकारो भिन्नक्रमे सुखमित्यनन्तरं घोषः । यदा सुखमनायासेनेत्यर्थः, लभ्यमिति



विदेशे इति शेषः, तथा वर्त्मनि चेमच्च विदेशगमनवर्त्मापि  
निरूपद्रवमित्यर्थः । तथा नच मे प्राणसन्देहः, तव धनलाभा-  
दिना त्वरितागमनसम्भावनाया वा प्राणान् धारयिष्यामी-  
त्यर्थः । तथापि धनलाभादिसङ्गावेऽपि मास्म गाः देशान्तरं  
मा गच्छ ॥ १३७ ॥

इत्याचक्षाण्येति । इत्यस्मिन् श्लोके, प्रियस्य यात्रायाः  
अनुबन्धिनोऽनुकूलान् अवश्यकर्त्तव्यताबोधकानित्यर्थः, हेतुन्  
धनलाभादीन् आचक्षाणया उपन्यस्यन्त्यापि, अत्र प्रत्याचक्षा-  
ण्येति पाठस्तु न सम्यक् । रुद्धो गमनान्निवारितः प्रिय इति  
शेषः । अत्र हेतुसङ्गावादवश्यकरणीयमपि गमनं प्रभुत्वेनैवा-  
क्षिप्रमित्याक्षेपस्य प्रभुत्वप्रयुक्तत्वात् प्रभुत्वाक्षेपः । न चात्र हेतूप-  
न्यासेनावश्यकर्त्तव्यतयाभ्यनुज्ञातस्य गमनस्य प्रतिषेधे विरुद्ध-  
हेतुन्तरानुपादानानिर्हेतुत्वदोषापात इति वाच्यम् अनुरक्त-  
नायिकाया नायकविदेशगमनाभ्यनुज्ञानस्य हेतुसाधितस्या-  
प्यनभिमतत्वेन प्रस्वलद्रूपतया तत्प्रतिषेधाप्रतिबन्धकत्वात्  
खतःसिद्धायमानस्य च प्रतिषेधस्य विधानस्यानुवादरूपतया  
हेत्वपेक्षाभावाच्चेति बोध्यम् ॥ १३८ ॥

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।

गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥१३९॥

असावनादराक्षेपो यदनादरवद्वचः ।

प्रियप्रयाणं रुन्धत्या प्रयुक्तमिह रक्तया ॥ १४० ॥

अनादराक्षेपमाह । जीविताशेति । जीविताशा बलवतीति तव सान्निध्येन चिरं जीवितुमिच्छामि, तव विदेशगमने तु मरिष्यामीतिध्वनिः । स्वावस्था त्वदिदेशगमननिबन्धनमरणरूपा ॥ १३८ ॥

असाविति । अनादरवद्वचः गच्छ वा तिष्ठ वेत्यनास्थावहाक्यं । रुन्धत्या, जीविताशा बलवतीति वाक्यव्यङ्ग्यस्वमरणप्रतिपादनेन प्रतिषेधन्या ॥ १४० ॥

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त, पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।  
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥ १४१ ॥  
इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वाद्दवर्त्मना ।  
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव कान्तयात्रा निषिध्यते ॥ १४२ ॥

आशीर्वचनाक्षेपमाह । गच्छेति । ममापि जन्मेति तव गमनानन्तरमेव मरिष्यामि मरणानन्तरञ्चावश्यं जन्म भवेत् तच्च त्वदीयगन्तव्यदेशे भवतु तथा सति पुनस्त्वद्दर्शनं प्राप्स्यामीत्यर्थः ॥ १४१ ॥

इत्याशीर्वचनाक्षेप इति । आशीर्वाद्दवर्त्मना आशीर्वादप्रकाशनद्वारा, आशीर्वादस्य पन्थानः सन्तु ते शिवा इत्यनेन । यदा आशीराशंसा साच प्रियार्थस्य प्राप्तीच्छारूपा, तस्या वादः ममापीत्याद्युत्तरार्द्धेन प्रकाशनं, तद्द्वारेणैव स्वावस्थां भाविमरणरूपां सूचयन्त्या सत्या कान्तस्य यात्रा निषि-

धत इत्याशीर्ष्वचनस्य भाविस्वमरणसूचनद्वारा प्रिययात्रा-  
क्षेपकत्वादाशीर्ष्वचनाक्षेपोऽयम् ॥ १४२ ॥

यदि सत्यैव यात्रा ते, काष्यन्या मृग्यतां त्वया ।  
अहमद्यैव रुद्धास्मि रभ्रापेक्षेण मृत्युना ॥ १४३ ॥  
इत्येष परुषाक्षेपः परुषाक्षरपूर्वकम् ।  
कान्तस्याक्षिप्यते यस्मात् प्रस्थानं प्रेमनिघ्नया ॥ १४४ ॥

परुषाक्षेपमाह । यदीति । काष्यन्या प्रियतमा मृग्यताम-  
न्विष्यतां । ननु त्वमेवैका मे प्रियतमा, किमन्ययेत्यत्राह, अह-  
मद्यैवेत्यादि, रभ्रापेक्षेण किद्रानुसन्धायिना, रभ्राण्वेषणमृत्यु-  
नेति क्वचित्पाठः । रभ्रश्चात्र तव विदेशगमनरूपं द्वारं ।  
रुद्धास्मि आक्रान्ता भवामि ॥ १४३ ॥

इत्येष इति । परुषाक्षरपूर्वकं, काष्यन्या मृग्यतामिति अ-  
द्यैव मृत्युना रुद्धास्मीति कठोरवाक्यप्रयोगपुरःसरं । प्रेमनि-  
घ्नया प्रणयमात्रावलम्बनजीवनया ॥ १४४ ॥

गन्ता चेद्गच्छ त्वस्मिं, ते कस्मा यान्ति पुरा रवाः ।  
आर्त्तवन्धुमुखोद्गीर्क्षाः प्रयाणपरिपन्थिनः ॥ १४५ ॥  
साचिव्याक्षेप एवैष यद्त्र प्रतिषिध्यते ।  
प्रियप्रयाणं, साचिव्यं कुर्वत्येवानुरक्तया ॥ १४६ ॥

साचिव्याक्षेपमाह । गन्तेति । गन्ता भाविगमनवान्,  
भविष्यति ढड् । कथमियं ते मां गमयितुं त्वरेत्यत्राह कर्क्षा-

वित्यादि, रवाः मन्मरणबोधका वर्षाः ते कर्षा पुरा यान्ति  
यास्यन्ति, पुरायोगे भविष्यति लट् । यतः प्रयाणपरिपन्थिनो  
यात्राप्रतिकूलाः ॥ १४५ ॥

साचिव्याक्षेप इति । साचिव्यं कुर्वत्येव तूष्णं गच्छेत्यनेन  
प्रयाणे स्वसहायतां दर्शयन्त्येव यत् प्रयाणं प्रतिषिध्यते स्वम-  
रणद्योतनया निवार्यते अत एव साचिव्याक्षेप इत्यन्वयः ॥  
॥ १४६ ॥

गच्छेति वक्तुमिच्छामि त्वत्प्रियं, मत्प्रियैषिणी ।  
निर्गच्छति मुखाद्वाणी मागा इति, करोमि किम् ॥ १४७ ॥  
यत्राक्षेपः स, यत्रस्य कृतस्यानिष्टवस्तुनि ।  
विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात् ॥ १४८ ॥

यत्राक्षेपमाह । गच्छेतीति । त्वत्प्रियं धनलाभादिप्रयोजक-  
त्वात्तवानुकूलं गच्छेति पदमहं वक्तुमिच्छामि, किन्तु मत्-  
प्रियैषिणी मागा इति वाणी मम मुखान्निर्गच्छति, किं करो-  
मीत्यन्वयः । अत्र मत्प्रियैषिणीत्यनेन तव गृह एव चिराव-  
स्थानं मम प्रियं, तत् सर्वथा मागच्छेति ध्वनिः ॥ १४७ ॥

यत्राक्षेप इति । अनिष्टवस्तुनि गच्छेतिगमनविधानरूपे  
कृतस्य कृतस्यापीत्यर्थः, यत्रस्य विपरीतं यत् फलं मागा इति  
वाणीनिःसरणरूपं तस्योत्पत्तेर्हेतोरानर्थक्योपदर्शनात् गमने  
ऽनर्थसम्भावनासूचनात् गमनमाक्षिप्तमिति सोऽयं यत्राक्षेप  
इत्यन्वयः ॥ १४८ ॥

क्षणं दर्शनविघ्नाय पद्मस्यन्दाय कुप्यतः ।

प्रेम्णाः प्रयाणं त्वं ब्रूहि, मया तस्येष्टमिष्यते ॥ १४९ ॥

सोऽयं परवशाक्षेपो यत् प्रेमपरतन्त्रया ।

तया निषिध्यते यात्रेत्यन्यार्थस्योपदर्शनात् ॥ १५० ॥

परवशाक्षेपमाह । क्षणमिति । प्रयाणेऽनुज्ञां प्रार्थयन्तं प्रति नायिकाया उक्तिरियं । क्षणं व्याप्य दर्शनस्य विघ्नाय प्रतिबन्धकाय । क्वचित् क्षणदर्शनेति समस्त एव पाठः । पद्मस्यन्दाय कुप्यतः पद्मस्यन्दममहमानस्य प्रेम्णाः प्रयाणं स्वीयविदेशयात्रां ब्रूहि निवेदय । प्रेम्णा इति कर्मवाचिविज्ञायां सम्बन्धविवक्षया षष्ठी । प्रेमाणमनुज्ञापयेत्यर्थः । ननु त्वामेवानुज्ञापयामि किं प्रेम्णोऽनुज्ञापयेत्यत्राह, मयेत्यादि । यतो मया तस्य प्रेम्णा इष्टमभिमतमिष्यते अभिमन्यते, प्रेमपरवशास्मि प्रेम्णो यदभिमतं तदेव ममाभिमतं, तव प्रयाणं प्रेम्णोऽभिमतश्चेत्तदनुष्ठेयतां, नात्र प्रतिकूलायिष्ये परन्तु क्षणविच्छेदाऽद्विष्युना प्रेम्णा तन्नानुमंस्यते इति भावः ॥ १४९ ॥

सोऽयमिति । प्रेमपरतन्त्रया स्वस्य प्रेमपरवशत्वं प्रतिपादयन्त्या सत्या इति अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण अन्यार्थस्य प्रेमानुमतिग्रहणस्य उपदर्शनादुपदेशात् यात्रा निषिध्यत इति सोऽयं परवशाक्षेप इत्यन्वयः । तस्यार्थस्यैव सूचनादिति क्वचिच्चतुर्थपादः, तत्र तस्यार्थस्यैव यात्रानिषेधस्यैव सूचनात् पद्मस्यन्दाय कुप्यत इति प्रेमविशेषणेन व्यञ्जनादित्यर्थः ॥ १५० ॥

सहिष्ये विरहं नाथ ! देह्यदृश्याञ्जनं मम ।

यदक्तेनेत्रां कन्दर्पः प्रहर्तुं मां न पश्यति ॥ १५१ ॥

दुष्करं जीवनापायमुपन्यस्योपरुध्यते ।

पत्युः प्रस्थानमित्याङ्गरूपायाक्षेपमोदशम् ॥ १५२ ॥

उपायाक्षेपमाह । सहिष्ये इति । अदृश्याञ्जनमदृश्या-  
जनकसिद्धकज्जलविशेषं । मम मह्यं । यदक्तेनेत्रां येनाञ्जने-  
नाक्ते सन्ति नेत्रे यस्यास्तां । पश्यति पश्येत् । तव प्रयाणोद्यमे  
कन्दर्पप्रहारशङ्कैव परं मां व्याकुलयति, सा यदि निवार्येत  
तर्हि विरहे का क्षतिस्तत्सुखेन गम्यतामित्यर्थः ॥ १५१ ॥

दुष्करमिति । दुष्करं दुर्घटं । जीवनापायं कामप्रहार-  
निवारकसिद्धाञ्जनदानरूपम् । उपरुध्यते तादृशाञ्जनदाना-  
सम्भवात् प्रतिषिध्यते ॥ १५२ ॥

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वक्त्रभः ते मुखात् ।

अयतापि त्वयेदानीं मन्दप्रेम्णा ममास्ति किम् ॥ १५३ ॥

रोषाक्षेपोऽयमुद्रिक्तस्नेहनिर्यन्त्रितात्मना ।

संरब्धया प्रियारब्धं प्रयाणं यन्निषिध्यते ॥ १५४ ॥

रोषाक्षेपमाह । प्रवृत्तैवेति । अत्र एवकारेण ऋप्रत्ययेन  
चातिविस्मयो ध्वन्यते । ईदृशे प्रेम्णि तव मुखात् प्रयामीति  
वाणीनिःसरणमतिविस्मयनीयं सर्वथा प्रेमानुरोधस्त्वया शि-  
थिलीकृतस्नेहादिदानीं मन्दप्रेम्णा अयतापि गच्छतापि त्वया

किं मम प्रयोजनमस्तीत्यन्वयः । अयतेति, इगतावित्यस्य  
परस्मैपदिनो भौवादिकस्य रूपम् ॥ १५३ ॥

रोषाक्षेपोऽयमिति । उद्विक्त उद्वेकं गतो यः स्नेहः प्रेम  
तेन निर्यन्वितो विवशीकृत आत्मा मनो यस्याः सा तथा तथा  
अतएव संरञ्जया अयतापीत्यादिना प्रकाशितरोषया सत्या,  
विशुद्धस्य प्रेम्णः स्वलितमविषह्यं हि भवतीति प्रेमभङ्गे युज्यत  
एव रोषः ॥ १५४ ॥

मुग्धा कान्तस्य यात्रोक्तिश्रवणादेव मूर्च्छिता ।

बुद्धा वक्ति प्रियं दृष्ट्वा किं चिरेणागतो भवान् ॥ १५५ ॥

इति तत्कालसम्भूतमूर्च्छयाशिष्यते गतिः ।

कान्तस्य कातराच्या यन्मूर्च्छाक्षेपः स ईदृशः ॥ १५६ ॥

मूर्च्छाक्षेपमाह । मुग्धेति । बुद्धा मूर्च्छापगमात् प्राप्त-  
संज्ञा, बुद्धेति क्लान्तपाठे संज्ञां लब्ध्वा । श्लोकद्वयमिदं न बह्वेषु  
पुस्तकेषु दृश्यते, अधिकन्तु प्रविष्टमिति सङ्गतमिति चात्र  
गृहीतम् ॥ १५५ ॥ १५६ ॥

नाघ्रातं न कृतं कर्णे स्त्रीभिर्मधुनि नार्पितम् ।

त्वद्विषां दीर्घिकास्वेव विशीर्णं नीलमुत्पलम् ॥ १५७ ॥

असावनुक्रोशाक्षेपः सानुक्रोशमिवोत्पले ।

व्यावर्त्य कर्म तद्योग्यं शोच्यावस्थोपदर्शनात् ॥ १५८ ॥

अनुक्रोशाक्षेपमाह । नाघ्रातमिति । मधुनि मद्ये । त्वद्वि-  
षामित्यस्य काकाक्षिन्यायात् स्त्रीभिरित्यनेन दीर्घिकास्वित्य-

नेन च सम्बन्धः । विशीर्षमिति अनुद्धृततया परिणामेन शु-  
ष्कतामुपगतमित्यर्थः, द्विषां पलायनादिति भावः ॥ १५७ ॥

असाविति । उत्पले सानुक्रोशमिव सकरुणमिव यथा  
स्यात्तथा तस्योत्पलस्य योग्यं कर्म स्वीजनकर्तृकाघ्राणादिकं  
व्यावर्त्य प्रतिषिध्य शोच्यावस्था अनुपभोगपूर्वकविशीर्षता  
तस्या उपदर्शनात् प्रकाशनात् असावनुक्रोशाच्चेप इत्यन्वयः ।  
आच्चेपस्यानुक्रोशजनकत्वादानुक्रोशाच्चेप इत्यर्थः । वस्तुतस्तु नी-  
लोत्पलानुक्रोशेन त्वद्विषस्तत्र न सन्तीत्याच्चेपसूचनादानुक्रोशा-  
च्चेपः, व्यपदेशकस्य व्यपदेश्यं प्रति साक्षात्परम्परया वा हेतुता-  
सद्भावस्यौचित्यादिति ध्येयम्, इत्यनुक्रोशनाच्चेप इति क्वचित्,  
क्वचित्च सानुक्रोशोऽयमाच्चेप इति पाठः ॥ १५८ ॥

अमृतात्मनि, पद्मानां देष्टरि स्निग्धतारके ।

मुखेन्दौ तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥ १५९ ॥

इति मुखेन्दुरालिप्तो गुणान् गौणेन्दुवर्तिः ।

तत्समान् दर्शयित्वेह स्निष्टान्नेपमाश्रयिषः ॥ १६० ॥

स्निष्टान्नेपमाह । अमृतात्मनीति । अमृतात्मनि अमृतस्ये-  
वात्मा आह्लादकत्वस्वरूपं यस्य तस्मिन् अन्यत्रामृतमये, तथा  
पद्मानां देष्टरि सदृशे, अन्यत्र सङ्कोचके । तथा स्निग्धे तारके  
चक्षुःकनीमिके यस्य तस्मिन् । अन्यत्र स्निग्धाः प्रेमास्पदानि  
तारका अश्विन्यादयो यस्य तस्मिन् । अस्मिन् मुखेन्दौ मुख-  
रूपे चन्द्रे सति अपरेणोन्दुना किं स मा तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ १५९ ॥



इतीति । तत्समान् मुखेन्दुगुणसदृशान् । सादृश्यञ्चात्र  
 श्लिष्टैकशब्दप्रतिपाद्यत्वं । गौणेन्दुर्गौणलक्षणयेन्दुपदप्रतिपाद्यं  
 मुखं तद्वर्तिनो गुणान् अमृतात्मतादीन् दर्शयित्वा मुखेन्दु-  
 राक्षिप्तो निष्प्रयोजनत्वेन प्रतिषिद्धः । श्लिष्टाक्षेप इति श्लिष्टपद-  
 प्रतिपाद्यधर्मादर्शनपूर्वकत्वादिति भावः ॥ १६० ॥

अर्थो न सम्भूतः कश्चिन्न विद्या काचिद्वर्जिता ।

न तपः सञ्चितं किञ्चिद्गतञ्च सकलं वयः ॥ १६१ ॥

असावनुशयाक्षेपो यस्मादनुशयोत्तरम् ।

अर्थार्जनादेर्व्यावृत्तिर्दर्शितेह गतायुषा ॥ १६२ ॥

अनुशयाक्षेपमाह । अर्थ इति । अर्थो धनं कश्चित् सुवर्ष-  
 रजतभूम्याद्यन्यतमः ॥ १६१ ॥

असाविति । अनुशयोत्तरं सानुशयं यथा तथा यस्माद-  
 र्थार्जनादेर्व्यावृत्तिरभावो दर्शिता अतोऽसावनुशयाक्षेप इत्य-  
 न्वयः ॥ १६२ ॥

किमयं शरदम्भोदः, किं वा हंसकदम्बकम् ।

रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तन्न तोयदः ॥ १६३ ॥

इत्ययं संशयाक्षेपः संशयो यन्निवर्त्यते ।

धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना ॥ १६४ ॥

संशयाक्षेपमाह । किमयमिति । शरदम्भोदः शरत्का-  
 लीनः श्वेतो मेघः । हंसकदम्बकं शरत्समयात्मानसादागच्छतां  
 हंसानां श्रेणी । नूपुरसंवादि नूपुरशिश्रितसदृशम् ॥ १६३ ॥

इत्ययमिति । असृष्टघनजातिना मेघेभ्यो व्यावृत्तेन, हंस-  
सुलभेन हंसमात्रगामिना धर्मेण नूपुरसंवादिस्तेन । संशयो  
यन्निवर्त्यत इति, संशयस्याक्षेपः संशयाक्षेप इति षष्ठीतत्पु-  
रुषः ॥ १६४ ॥

चित्रमाक्रान्तविश्वोऽपि विक्रमस्ते. न शाम्यति ।

कदा वा दृश्यते त्वस्मिन्दीर्घस्य हविर्भुजः ॥ १६५ ॥

अयमर्थान्तराक्षेपः प्रक्रान्तो यन्निवार्यते ।

विस्मयोऽर्थान्तरस्येह दर्शनात्तत्सधर्मणः ॥ १६६ ॥

अर्थान्तराक्षेपमाह । चित्रमिति । आक्रान्तविश्वोऽपि विश्वं  
व्याप्तुवन्नपि ते विक्रमः प्रतापो न शाम्यति विषयान्तराक्रमणे-  
च्छाया न विरमति एतच्चित्रमद्भुतमित्यन्वयः । अर्थान्तरोपन्या-  
सेन चित्रत्वं प्रतिषेधति, कदावेति । कदा वा नैवेत्यर्थः ॥ १६५ ॥

अयमिति । तत्सधर्मणो विक्रमसदृशस्य अर्थान्तरस्यो दीर्घ-  
वक्त्रेस्तृप्यभावरूपस्य दर्शनाद्दर्शनातः, णिङन्तमिदं, प्रक्रान्तः  
प्रस्तुतश्चित्रमितिपदप्रतिपाद्यो विस्मयो यन्निवार्यते, अतोऽर्था-  
न्तरेण प्रकृतस्याक्षेपादर्थान्तराक्षेपोऽयम् ॥ १६६ ॥

न स्तूयसे नरेन्द्र ! त्वं ददासीति कदाचन ।

स्वमेव मत्वा गृह्णन्ति यतस्त्वद्दनमर्थिनः ॥ १६७ ॥

इत्येवमादिराक्षेपो हेत्वाक्षेप इति स्मृतः ।

अनयैव दिशान्योऽपि विकल्पः शक्य ऊहितुम् ॥ १६८ ॥

इत्याक्षेपचक्रम् ॥

हेत्वाक्षेपमाह । न स्वयम इति । स्वमेव मत्वा स्वस्य स्वत्वा-  
स्यदमेव बुद्ध्या । एतेन दातुरौदार्यातिशयो ध्वनितः ॥ १६७ ॥

इत्येवमादिरिति । स्वमेवेत्यादिहेतूपन्यासेन प्रस्तुतस्य नरे-  
न्द्रस्तवस्याक्षेपाद्धेत्वाक्षेपोऽयं । पूर्वमुक्तः कारणाक्षेपस्तु कारण-  
स्वैवाक्षेपो नतु कारणेनाक्षेप इति नानयोरैकरूप्यं । विकल्पो  
भेदः ॥ १६८ ॥

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो, वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।

तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥ १६९ ॥

अथार्थान्तरन्यासं लक्षयति । ज्ञेय इति । किञ्चन कि-  
मपि वस्तु वाक्यार्थं प्रस्तुत्य प्रकृतत्वेनोपन्यस्य, तस्य प्रस्तुतवस्तुनः  
साधने अप्रामाण्यासम्भवशङ्कानिरासाय सोपपत्तिकत्वसम्पा-  
दने समर्थस्यान्यस्य कस्यचिदप्रस्तुतस्य वस्तुनो वाक्यार्थस्य यो  
न्यासः सोऽर्थान्तरन्यासो ज्ञेय इत्यन्वयः । अत्र प्रस्तुत्येति क्वा-  
प्रत्ययेन प्रथमं समर्थनीयस्य प्रस्तुतस्योपन्यासः पश्चात् सम-  
र्थकस्याप्रस्तुतस्येत्यायातम्, एतच्च प्रायिकं विपरीत्यस्यापि द-  
र्शनात्, यथा शिशुपालबधे । 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ  
'विफलत्वमेति बद्धसाधनता । अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न  
पतियतः करसहस्रमपि' । अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वादुत्त-  
राद्धुवाक्यार्थः समर्थनीयः पूर्वार्द्धवाक्यार्थस्तु समर्थकः । भोज-  
राजस्वयं विपरीतार्थान्तरन्यास इत्याह । इत्यञ्च प्रस्तुतवा-  
क्यार्थस्याप्रस्तुतवाक्यार्थेन समर्थनमर्थान्तरन्यास इति लक्षणं

बोध्यम् । अत्र च समर्थसमर्थकयोः सामान्यविशेषभाव आद-  
 रणीयः, सच क्वचित् साधर्म्येण क्वचिद्वैधर्म्येण च भवति ।  
 तदुक्तं प्रकाशकृता । 'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन सम-  
 र्थते । यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा' इति । केचित्तु  
 कार्यकारणयोरपि समर्थसमर्थकत्वेऽर्थान्तरन्यासमाहुः यथा,  
 'पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयेनां त्वं कूर्मराज ! तदिदं  
 द्वितयं दधीथाः । दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्तितये दिधीर्षामार्थः  
 करोतु हरकार्मुकमाततज्यम्' । अत्र कारणभूतं हरकार्मुकात्-  
 तज्यीकरणं पृथ्वीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम् । 'सहसा विद-  
 धीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् । वृणते हि विमृ-  
 श्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' । इत्यत्र सम्पदरणं  
 कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य  
 समर्थकम् । अयन्तु वक्ष्यमाणहेत्वलङ्कार एवेत्यन्ये । यत्र तु  
 वाक्यार्थयोर्न सामान्यविशेषभावो न वा कार्यकारणभावस्तत्र  
 साधारणधर्मयोरभिन्नत्वे प्रतिवस्तूपमा, भिन्नयोस्तयोर्विम्बानु-  
 विम्बत्वे दृष्टान्त इति बोध्यम् । क्रमेण यथा 'धन्यामि वैदर्भिः !  
 गुणैरुदारैर्यथा समाकृष्यत नैपधोऽपि । इतः स्तुतिः का खलु  
 चन्द्रिकाया यदध्विमप्युत्तरली करोति' । अत्र समाकर्षणमुत्तर-  
 लीकरणञ्च क्रिया एकैवेति प्रतिवस्तूपमा । 'अविदितगुणापि  
 सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् । अनधिगतपरिम-  
 लापि हि हरति दृशं मालतीमाला' । अत्र कर्णे मधुधारावम-  
 नस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव नत्वैकरूप्यमिति दृष्टान्तः ॥१६८॥

विश्वव्यापी विशेषस्यः श्लेषाविद्धो विरोधवान् ।

अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ॥ १७० ॥

इत्येवमादयो भेदाः प्रयोगेष्वस्य लक्षिताः ।

उदाहरणमालैषां रूपव्यक्तौ निदर्शयते ॥ १७१ ॥

एवमर्थान्तरन्यासस्य सामान्यलक्षणमुक्त्वा समर्थकार्यभेदेन कतिचिद्धेदान् दर्शयन्नाह । विश्वव्यापीति : विश्वव्यापी सर्वत्र सम्भवयोग्यः । विशेषस्योऽसर्वविषयः । श्लेषाविद्धः श्लिष्टविशेषणसम्पन्नः । विरोधवान् विरुद्धधर्मद्वयवान् । अयुक्तकारी स्वभावत एवासत्कर्मकर्ता । युक्तात्मा औचित्येन युज्यमानस्वरूपः, युक्तार्थ इति क्वचित्पाठः । युक्तायुक्तः युक्तोऽप्ययुक्तकारी । विपर्ययः अयुक्तकार्यादित्त्रितयविपरीतः अयुक्तः सन्नयुक्तकारीत्यर्थः । एते चाष्टविधाः समर्थकार्यभेदाः । आदिना भोजराजाद्युक्तानामनोकप्रत्यनीकादीनां ग्रहणम् । एषाञ्च योगार्थवलादेव लक्षणलाभ इति लक्षणमकृतैवोदाहरणानि दर्शयन्नाह उदाहरणमालैषामिति । रूपव्यक्तौ स्वरूपप्रदर्शनाय ॥ १७० ॥ १७१ ॥

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।

पश्य गच्छत एवास्तं, नियतिः केन लङ्घ्यते ॥ १७२ ॥

क्रमेणोदाहरति । भगवन्ताविति । भगवन्तौ ऐश्वर्यवीर्याद्यतिशयवन्तौ, जगन्नेत्रे जगत्प्रकाशकौ । नियतिरिति, अत्र

ब्रह्मादिकोटपर्यन्तानां नियत्यधीनत्वमिति समर्थकश्चतुर्थ-  
पादार्यो विश्वव्यापी, तेन च सामान्येन पादत्रयगतविशेषार्थः  
सोपपत्तिकः कृतः ॥ १७२ ॥

पयोमुचः परीतापं हरन्त्येव शरीरिणाम् ।

नन्वात्मलाभो महतां परदुःखोपशान्तये ॥ १७३ ॥

पयोमुच इति । परीतापमिति, (प्रादेर्घणि बङ्गलमिति)  
दीर्घः । आत्मलाभः शरीरपरिग्रहः । अत्र महतामेवैतादृशी-  
रीतिर्न प्राणिमात्रस्येति विशेषस्यता । अत्रापि सामान्येन  
विशेषसमर्थनम् ॥ १७३ ॥

उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः ।

ननु दक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः ॥ १७४ ॥

उत्पादयतीति । दक्षिण्यसम्पन्नो दक्षिणदिगः । अ-  
थच सारल्यादिगुणवान् इति श्लेषावष्टम्भेनैवात्तराद्धार्थः सम-  
र्थक इति श्लेषाविद्धः, अत्रापि समर्थसमर्थकयोः सामान्य-  
विशेषता ॥ १७४ ॥

जगदानन्दयत्येष मलिनोऽपि निशाकरः ।

अनुगृह्णाति हि परान् सदोषोऽपि द्विजेश्वरः ॥ १७५ ॥

जगदिति । मलिनोऽपि कलङ्कितोऽपि । अनुगृह्णाति  
अनुग्रहेणोपकरोति, सदोषोऽपि दूषणवानपि, द्विजेश्वरो

ब्राह्मणश्रेष्ठः, निशाकरस्यापि द्विजराजत्वेन सामान्यरूपोऽयं समर्थकः । एष च सदोषत्वानुग्रहोपकारकत्वरूपविरुद्धधर्मद्वयवान्, नहि सदोषा जना उपकुर्वन्तीति विरोधात् । अत्र सदोषोऽपीतिपदस्य सरात्रिरपि सदूषणोऽपीत्यर्थद्वयेन श्लेषसम्भवात् श्लेषाविद्वलमाशङ्कितमन्यैः तन्न रुचिरं तादृशश्लेषस्य प्रकृतानुपयोगित्वेनानभ्युपगमात् मलिनत्वसदूषणत्वयोरैव समर्थसमर्थकयोः साधर्म्यात् ॥ १७५ ॥

मधुपानकलात्कण्ठान्निर्गतोऽप्यलिनां ध्वनिः ।

कटुर्भवति कर्णस्य कामिनां, पापमीदृशम् ॥ १७६ ॥

मधुपानेति । मधुपानेन कलात् सुखरात् कण्ठान्निर्गतोऽपि तादृशकण्ठनिर्गतत्वान्मधुरोऽपीत्यर्थः । कामिनां विरहिणाम् । पापमीदृशमिति, ईदृशं सुखदवस्तुनोऽपि दुःखदत्वसम्पादकम् । अत्र सामान्यस्य पापरूपसमर्थकार्यस्य मधुरस्याऽपि भ्रमरध्वनेः कटुत्वसम्पादनादयुक्तकारिता ॥ १७६ ॥

अयं मम दहत्यङ्गमभोजदलसंस्तरः ।

ऊताशनप्रतिनिधिर्दाहात्मा ननु युज्यते ॥ १७७ ॥

अयमिति । अभोजदलसंस्तरः अभोजदलकल्पिता शय्या । नैतदयुक्तमित्याह ऊताशनप्रतिनिधिरिति, दाहस्तापकता आत्मा स्वभावो यस्य सः । अत्र ऊताशनप्रतिनिधिर्दाहकत्वस्वभावोयुक्त इति समर्थकस्य युक्तात्मता ॥ १७७ ॥

क्षिणोतु कामं शीतांशुः किं वसन्तो दुनोति माम् ।

मलिनाचरितं कर्म सुरभेर्नन्वसाम्प्रतम् ॥ १७८ ॥

क्षिणोत्विति । क्षिणोतु दिनस्तु, शीतांशोः कलङ्कित्वात् परद्विसनं युक्तमित्यर्थः । वसन्तः पुनः किं कथं दुनोति नैतन्न्या-  
य्यमिति सामान्यार्थेन द्रढयति मलिनाचरितमिति मलिनेन कलङ्किना अथच पापिना, सुरभेर्विख्यातस्य अथच वस-  
न्तस्य । तथाच, मधौ कामदुघायाच्च विख्याते सुरभिर्द्वयोरिति कोषः । असाम्प्रतमयुक्तम् । अत्रोक्तवृत्त्यापि सुरभेरपकृष्ट-  
कर्मकरणाद्युक्तायुक्ता । किञ्चात्र मलिनसुरभिश्चब्दयोः सि-  
ष्टत्वात् श्लेषाविद्धतापि तदनयोः सङ्करः ॥ १७८ ॥

कुमुदान्यपि दाहाय, किमयं कमलाकरः ।

नहीन्दुगृह्येषु सूर्यगृह्यो मृदुर्भवेत् ॥ १७९ ॥

इत्यर्थान्तरन्यासचक्रम् ।

कुमुदान्यपीति । अपिना शीतांशुबोधितत्वेन शीतलानां दाहकत्वमत्याश्चर्यमिति ध्वनितं । किमयमिति जगदाहक-  
सूर्यबोधितत्वेन दाहस्वभावस्य कमलाकरस्य विरहिजनदाह-  
कत्वं नाश्चर्यमित्यर्थः । कमलाकरः कमलानीत्यर्थः कुमुदा-  
नोति प्रक्रमात् । नहीन्दुगृह्येषु सूर्यगृह्येण । गृह्यः पक्षः ( पदपक्ष-  
परतन्त्रेषु ग्रह इति क्यः ) अत्र अयुक्तस्यैवायुक्तकर्मकरणमिति अयुक्तकारि, युक्तात्म, युक्तायुक्तेतित्रितयाद्विपर्ययः । एतानि साधर्म्येणोदाहरणानि, ( वैधर्म्येण यथा, “इत्यमाराध्य-



मानोऽपि क्लिप्नाति भुवनत्रयम् । शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोप-  
कारेण दुर्जनः” इति । अचाराधनापकारयोः समर्थसम-  
र्थकधर्मयोर्विरोधित्वं, प्रदेशस्थताख्योऽयं भेदः दुर्जनस्य सार्व-  
त्रिकत्वाभावात् ॥ १७६ ॥

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।

तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ १८० ॥

अथ व्यतिरेकं लक्षयति । शब्दोपात्त इति । द्वयोर्वस्तुना-  
रूपमानोपमेययोः सादृश्ये शब्दोपात्ते साधारणधर्मवाचक-  
शब्दप्रयोगेण झटितिबोधिते तथा प्रतीते वा साधारणधर्मवाच-  
कस्थानुपादानात् पर्यालोचनयावगते वा सति, तत्रेति, न तत्र  
करुणा हेतु, रित्यादिवत् षष्ठ्यर्थे सप्तमी तयोरित्यर्थः, तयोरुप-  
मानोपमेययोर्यद्भेदकथनं केनचिदसाधारणधर्मान्तरेणोपमा-  
नादुपमेयस्योत्कर्षायापकर्षाय वा वैधर्म्यप्रतिपादनं स व्यतिरेकः  
कथ्यत इत्यन्वयः । असाधारणधर्मान्तरञ्च उत्कर्षापकर्षहेतु-  
भूतं तच्च क्वचिदुपात्तं क्वचिदनुपात्तञ्च भवति तेन व्यतिरेकस्य  
भेदचतुष्टयमन्यैरुक्तं ज्ञेयं, तथाहि अकलङ्कं मुखं तस्या न  
कलङ्की विधुर्यथा, इत्यादौ अकलङ्कत्वकलङ्कित्वरूपहेतुद्वयो-  
पादानादेकः, प्रत्येकानुपादानात् द्वौ, समुदायानुपादानादेक  
इति चत्वारोभेदाः । भेदकथनञ्च क्वचिन्नञ्चादिवाचकप्रयो-  
गेण क्वचिद्विरुद्धधर्मापादानमात्रेण च शाब्दं सम्भवति, क्वचिच्च  
पर्यालोचनागम्यम्, एतच्च वक्ष्यमाणोदाहरणेषु स्पष्टीभविष्यति ।

इत्युपोपमानादुपमेयस्योत्कर्षोऽपकर्षो वा वैचित्रविशेषजनक-  
तया प्रतिपाद्यमानोव्यतिरेक इति लक्षणम्, तत्रोत्कर्षव्यतिरे-  
कस्य वक्ष्यमाणोदाहरणानि, अपकर्षव्यतिरेकस्य यथा, 'क्षीणः  
क्षीणोऽपि शशो भूयोभूयोऽभिवर्द्धते नित्यम् । विरम प्रसीद  
सुन्दरि ! यौवनमनिवर्त्ति यातन्तु' । अत्रोपमेययौवनस्योपमान-  
चन्द्रापेक्षयापकर्षः । यथा वा 'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुन-  
र्दिषां हसैर्दूतपथः सितोक्तः' । अत्र यशस्विहनूमदाद्यपेक्षया  
दौत्यफलासम्पादकतया नलस्यायशस्वितादपकर्षः ॥ १८० ॥

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।

गुणैस्तुन्योऽसि, भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥ १८१ ॥

इत्येकव्यतिरेकोऽयं, धर्मैकैकत्र वर्त्तिना ।

प्रतीतिविषयप्राप्तेर्भेदस्योभयवर्त्तिनः ॥ १८२ ॥

इत्थं व्यतिरेकस्य सामान्यलक्षणमुक्त्वा बहुप्रभेदस्य प्रथमं  
शब्दोपात्तसादृश्यप्रभेदान् क्रमेण दर्शयन्नेकव्यतिरेकमाह ।  
धैर्येति । धैर्यं पाण्डित्यमनुकृतवेलत्वञ्च, लावण्यं सौन्दर्यं  
लवणाक्तजलमयत्वञ्च, गाम्भीर्यं दुर्ब्बाधाशयत्वं गभीरत्वञ्च, गा-  
म्भीर्येत्यत्र माहात्म्येति कश्चित्पाठः । तत्र माहात्म्यं महाशयत्वं  
विपुलत्वञ्च । भेदस्त्विति भेदोवैधर्म्यम्, ईदृशेन अतिसुन्दरकर-  
चरणादिमता । अत्र धैर्यादिसाधारणधर्मप्रयोगात् सादृश्यं  
शब्दम् । उपमेयमात्रनिष्ठेन च शब्देन विलक्षणवपुषत्वधर्म-  
णाप्रस्तुतात् समुद्रात् प्रस्तुतस्य राज्ञ उत्कर्षः ॥ १८१ ॥

इत्येकेति । इत्यस्मिन् श्लोके एकत्र वर्त्तिना एकस्मिन्नपमेय  
एव वर्त्तमानेन धर्मेण सुन्दरवपुश्वत्वरूपेण उभयवर्त्तिन  
उपमानोपमेयनिष्ठस्य भेदस्य उत्कर्षापकर्षरूपवैधर्म्यस्य उप-  
मेयोत्कर्षस्य उपमानापकर्षस्य चेत्यर्थः प्रतीतिविषयप्राप्तेः  
प्रतीयमानत्वाद्धेतोरयमेकव्यतिरेक इत्यन्वयः । अत्र विषयपदं  
विषयत्वपरम् । एकमात्रनिष्ठधर्मेणोभयोर्मिथोव्यतिरिच्यमा-  
नत्वादेकव्यतिरेक इति वर्त्तुल्यार्थः ॥ १८२ ॥

अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।

असावञ्जनसङ्काशस्त्वन्तु चामीकरद्युतिः ॥ १८३ ॥

उभयव्यतिरेकोऽयमुभयोर्भेदकौ गुणौ ।

काण्ठ्यं पिशङ्गता चोभौ यत्पृथग्दर्शिताविह ॥ १८४ ॥

उभयव्यतिरेकमाह । अभिन्नवेलौ इति । अभिन्नवेलौ  
अनुसृष्टितमर्थ्यादौ । असावम्बुराशिरञ्जनसङ्काशः श्यामत्वान्  
मलिनः, त्वन्तु चामीकरद्युतिः सुवर्णकान्तिः । अत्र भवानिति  
त्वमिति च प्रक्रमभङ्गः सोढव्यः ॥ १८३ ॥

उभयेति । अत्रोपमानोपमेयोभयगतावेव निकर्षोत्कर्ष-  
बोधकौ अञ्जनसङ्काशत्वचामीकरद्युतित्वरूपभेदकावुपात्तावि-  
त्युभयव्यतिरेकोऽयम् ॥ १८४ ॥

त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।

अयन्तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥ १८५ ॥

स एष श्लेषरूपत्वात् सश्लेष इति गृह्यताम् ।  
साक्षेपश्च सहेतुश्च दर्शयते तदपि द्वयम् ॥ १८६ ॥

सश्लेषव्यतिरेकमाह । त्वमिति । दुर्वारावित्यादि, दुर्वार-  
रत्वमनभिभवनीयत्वमवार्य्यपूरत्वञ्च, सत्त्वं गुणविशेषस्तिमिप्रभृ-  
तिजन्तुश्च, तेजः प्रतापोवाडवाग्निश्च, जडात्मा जलमयत्वात्  
शीतलस्वभावोमूर्खश्च, पटुस्तीक्ष्णो निपुणश्च ॥ १८५ ॥

स एष इति । श्लेषरूपत्वात् जडात्मेतिपटुरितिस्त्रियुभे-  
दकधर्मद्वयसम्पादितत्वात् । न चात्र दुर्वारावित्यादिसाधा-  
रणविशेषणानामपि स्त्रियुत्वेन सश्लेषत्वमस्येति वाच्यं तादृश-  
विशेषणानां सादृश्यनिर्व्वाहकतया शब्दार्थान्यतरश्लेषाव्यभि-  
चारित्वेन सर्वत्रापि सश्लेषत्वापत्तेः तस्माद्भेदकविशेषण-  
स्यैव सश्लेषत्वेन सश्लेषत्वव्यपदेशः । अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तक-  
र्षकापकर्षकविशेषणद्वयस्यैव स्त्रियुत्वं, क्वचिदेकतरनिश्लेषणस्य  
स्त्रियुत्वेऽप्ययं भवति यथा एतत्पद्यस्यैव, तथापि भवतः कर्त्ता  
जडात्मा नायमर्हतीत्युत्तरार्द्धपाठे, अत्रापमानमात्रगतं जडा-  
त्मेति स्त्रियुविशेषणम् । इत्थं भेदकविशेषणस्यैकगतत्वेनोभय-  
गतत्वेन स्त्रियुत्वेन च भेदत्रयमुक्त्वा पुनरपि भेदद्वयमाह ।  
साक्षेपश्चेति । आक्षेपः विरुद्धधर्मान्तरोपन्यासेन सादृश्यप्रति-  
षेधः तत्सहितः । सहेतुकः हेतूपन्यासेन साध्यमानः, हेतु-  
श्चात्र हेत्वर्थविहितपञ्चम्यादिविभक्त्यन्तपदप्रतिपाद्यरूपः अत-  
एव हेतुविशेषणप्रयोगे न सहेतुकव्यतिरेकः ॥ १८६ ॥

स्थितिमानपि धीरोऽपि रत्नानामाकरोऽपि सन् ।

तव कक्षां न यात्येव मलिनामकरालयः ॥ १८७ ॥

क्रमेणोदाहरति । स्थितीति । अत्र मलिनत्वरूपविरुद्ध-  
धर्मप्रयुक्तसादृश्यात्तेषु प्रस्तुतस्योत्कर्ष इति साक्षेपव्यतिरेकः,  
नचाक्षेप एवायमिति वाच्यं तस्यात्राङ्गतया व्यपदेशकत्वाभा-  
वात् ॥ १८७ ॥

वहन्नपि मर्ही कृत्स्नां सशैलद्वीपसागराम् ।

भर्तृभावाद्भुजङ्गानां शेषस्त्वत्तो निकृष्यते ॥ १८८ ॥

वहन्नपीति । भुजङ्गानां सर्पाणाम्, अथच विटानां । नि-  
कृष्यते निकृष्टो भवति । त्वत्त इति सार्थाद्धीयत इत्यादिवद-  
पादानसंज्ञकस्याऽपि कर्तृत्वविवक्षया निकृष्यत इति कर्मणि  
प्रयोगः । अत्र भर्तृभावादिति पञ्चम्यन्तपदप्रतिपाद्येन हेतुना  
प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्त्कर्षनिकर्षबोध इति सहेतुव्यतिरेकः ॥ १८८ ॥

शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृशः ।

प्रतीयमानसादृश्याऽप्यस्ति सोऽप्यभिधीयते ॥ १८९ ॥

इत्थं शब्दोपात्तसादृश्यव्यतिरेकमुक्त्वा प्रतीयमानसादृश्य-  
व्यतिरेकं दर्शयन्नाह । शब्दोपादानेति । शब्दस्य साधारण-  
धर्मप्रतिपादकपदस्योपादानेन यत् सादृश्यं तत्पूर्वकोव्यति-  
रेक ईदृशः निरुक्तस्वरूपः । शब्द उपादानं प्रतिपादको यस्य

तादृशं सादृश्यं यत्रेति केचित् । प्रतीयमानेति, प्रतीयमानं साधारणधर्माप्रयोगेऽपि सामर्थ्यादवगम्यमानं सादृश्यं यत्र सः साधारणधर्माप्रयोगाभावेऽपि प्रसिद्धसादृश्यभोरूपमानोपमेययोर्भेदकथनरूप इत्यर्थः । तादृशो व्यतिरेकोऽप्यस्ति सम्भवति, सोऽप्यभिधीयते अनन्तरमेव दर्शयते ॥ १८८ ॥

त्वन्मुखं कमलञ्चेति द्वयोरप्यनयोर्भिदा ।

कमलं जलसंरोहि त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयम् ॥ १८० ॥

अभ्रूविलासमस्पृष्टमदरागं मृगेक्षणम् ।

इदन्तु नयनद्वन्द्वं तव तद्गुणभूषितम् ॥ १८१ ॥

त्वन्मुखमिति । इतीति भिदाया विशेषणम् एषेत्यर्थः, जलसंरोहि सलिलोत्पन्नम्, त्वदुपाश्रयं त्वन्मात्रनिष्ठम् । विभिन्नोपादानत्वाच्चन्मुखकमलयोर्भेद इत्यर्थः । अत्र साधारणधर्माप्रयोगान्मुखकमलयोः सादृश्यमशाब्दमपि प्रसिद्धत्वात् प्रतीयते ॥ १८० ॥

अभ्रूविलासमिति । अस्पृष्टमदरागमप्राप्तमद्यपानकृतलौहित्यं । मृगेक्षणं मृगस्य चक्षुः । तद्गुणभूषितं तैभ्रूविलासादिभिर्गुणैरलङ्कृतम् । अत्रापि विरुद्धधर्मात्रप्रयोगात् सादृश्यमार्थम् ॥ १८१ ॥

पूर्वस्मिन् भेदमात्रेक्तिरस्मिन्नाधिक्यदर्शनम् ।

सदृशव्यतिरेकश्च पुनरन्यः प्रदर्शयते ॥ १८२ ॥

उदाहरणद्वयदर्शनायाः प्रयोजनं दर्शयति । पूर्वस्मि-  
न्निति । पूर्वस्मिन् त्वन्मुखमित्याद्युदाहरणे, भेदमात्रेक्ति-  
रिति नतु प्रस्तुतस्योत्कर्षोक्तिरित्यर्थः उत्कर्षबोधकवैधर्म्या-  
नुपादानादत्रोत्कर्षस्य व्यङ्ग्यत्वमेवेति भावः । भेदश्चात्र कारण-  
भेदरूपः । उक्तञ्च, अयमेव हि भेदोभेदहेतुर्वा यदिरुद्ध-  
धर्माध्यासः कारणभेदश्चेति । नच जलसंरोहीत्यस्य जड-  
संरोहीतिशिष्टतया जडोपादानात् कमलाजडोपादानस्य  
मुखस्योत्कर्षः शब्दादेवोपस्थित इति कथं भेदमात्रेक्तिरित्यु-  
क्तमिति वाच्यम्, तात्पर्याभावेन जलपदस्य जडार्थबोधक-  
त्वाभावात् वस्तुतस्तु जलसंरोहीत्यत्र नीरसंरोहीत्येव पठनी-  
यम् । अस्मिन्निति । अस्मिन्नन्तरोक्ते अभूविलासमित्यादिपद्ये,  
आधिक्यदर्शनम् उपमानोपमेयनिकर्षोत्कर्षबोधकविशेषणैरूप-  
मेयस्योत्कर्षमात्रप्रतिपत्तिः नतु साधारणविशेषणमहि सा-  
दृश्यप्रतिपत्तिरिति । भेदश्चात्र द्वयोर्विरुद्धधर्मवत्तया प्रती-  
यते नतु स्फुटशब्देनाभिधीयते । इत्थं विरुद्धधर्मप्रयोगेण  
नञादिवाचकशब्देन वा स्फुटभेदव्यतिरेकं प्रदर्शयति सदृशध-  
र्ममात्रप्रयोगेणास्फुटभेदव्यतिरेकं दर्शयति । सदृशव्यतिरेक-  
श्चेति, सदृशेन सदृशधर्ममात्रप्रयोगेण व्यतिरेक आधिक्यं  
सदृशव्यतिरेक इत्यर्थः ॥ १६२ ॥

त्वन्मुखं पुण्डरीकञ्च फुल्ले सुरभिगन्धिनो ।

भ्रमद्भ्रमरमम्भोजं लोलनेत्रं मुखन्तु ते ॥ १६३ ॥

सदृशव्यतिरेकोऽपि सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेन प्रतीयमानत्वेन च द्विविधस्तत्र शब्दोपादानसादृश्यभेदमुदाहरति । त्वन्मुखमिति । फुल्लत्वं स्मितशोभितत्वं विकसितत्वञ्च । अत्र फुल्लत्वसुरभिगन्धित्वयोः साधारण्यात् सादृश्यं शब्दोपात्तं । भ्रमदिति, भ्रमद्भ्रमरत्वं लोलनेत्रत्वञ्च धर्मद्वयमसाधारणमपि विम्बानुविम्बतया सदृशमेव नतु विरुद्धं, तेन च मुखपुण्डरीकयोर्भेदः प्रतीयत एव परन्तु विरुद्धधर्मापादानेन यथा स्फुटतरः, नात्र तथेति युज्यत एव भेदविधानम् अत्र भ्रमरापेक्षया नेत्रस्योत्कर्षः पर्यालोचनया प्रतीयत इति मुखस्याधिक्याल्लक्षणसमन्वयः ॥ १८३ ॥

चन्द्रोऽयमम्बरोत्तंसोऽहंसोऽयं तोयभूषणम् ।

● नभोनक्षत्रमालीदमत्फुल्लकुमुदं पयः ॥ १८४ ॥

प्रतीयमानशौक्यादिसाम्योश्चन्द्रहंसयोः ।

कृतः प्रतीतशुद्धोश्च भेदोऽस्मिन् वियदम्भसोः ॥ १८५ ॥

पूर्वत्र शब्दवत्साम्यमुभयत्रापि भेदकम् ।

मृङ्गनेत्रादि तुल्यं, तत् सदृशव्यतिरेकता ॥ १८६ ॥

प्रतीतसादृश्यं सदृशव्यतिरेकमुदाहरति । चन्द्र इति । इदमिति काकात्त्रिन्यायान्नभःपयसोर्विशेषणं । नभो नक्षत्रमालीदमिदमुत्कुमुदं पय इत्यपि क्वचित्पाठः ॥ १८४ ॥

अत्र प्रतीयमानसादृश्यत्वं सदृशव्यतिरेकत्वञ्च सङ्गमयति ।



प्रतीयमानेति । अस्मिन् पद्ये प्रतीयमानं वाचकाभावेऽपि प्रसिद्धत्वादवगम्यमानं यत् शौक्त्यादि आदिना सितपक्षशो-  
भितत्वादीनां ग्रहणं । तेन साम्यं ययोस्तादृशयोश्चन्द्रहंसयो-  
रुपमानोपमेयभूतयोः, तथा प्रतीता शुद्धिर्विम्बानुबिम्बत्व-  
बोधिका स्वच्छता ययोस्तथाविधयोर्वियदम्भसोश्च आश्रय-  
तया उपमानोपमेयधर्मभूतयोरित्यर्थः, भेदः कृतः प्रद-  
र्शित इत्यन्वयः । अयमर्थः साधारणधर्माप्रयोगात् प्रतीय-  
मानसादृशयोश्चन्द्रहंसयोः स्वच्छतासाधर्म्येण सदृशाभ्यां विय-  
दम्भोरूपविभिन्नधर्माभ्यां व्यतिरेचनं प्रदर्शितमिति प्रतीय-  
मानसादृशव्यतिरेकस्य सदृशव्यतिरेकाख्योभेद इति । अत्र  
पूर्वार्द्धान्ते वियदम्भोरिति, उत्तरार्द्धान्ते चन्द्रहंसयोरिति  
पाठो न मनोरमः ॥ १६५ ॥

पूर्वत्रेति । पूर्वत्र तन्मुखमित्यादिश्लोके शब्दवत् शब्दविशिष्टं  
साम्यं फुल्ले इति सुरभिगन्धिनी इति च साधारणधर्मबोधक-  
शब्दाभ्यां मुखपुण्डरीकयोः सादृश्यं प्रतिपादितमिति शब्दो-  
पादानसादृश्याऽयं सदृशव्यतिरेक इत्यर्थः । उभयत्र सदृश-  
व्यतिरेकत्वं सङ्गमयति उभयत्रापीति, उभयत्रापि श्लोकद्वयेऽपि  
तुल्यं कृष्णत्वादिना स्वच्छत्वादिना च प्रणिधानगम्यसादृश्यं  
भङ्गनेत्रादि आदिना वियदम्भोर्यग्रहणं, भेदकम् उपमानोपमे-  
ययोर्भिन्नत्वप्रतिपादनेन निकर्षात्कर्षबोधकं, तत्तस्मात् सदृश-  
व्यतिरेकतेत्यन्वयः । अन्ये त्वेवंविधस्थले उत्कर्षनिकर्षयोः स्फुट-  
प्रतीतेरभावात् तस्या एवच व्यतिरेकव्यपदेशस्य जीवातुभूत-

त्वान्न व्यतिरेकत्वमुचितं किन्तु धर्मयोर्विद्वानुविम्बत्वादुपमा-  
ध्वनिरेवायमिति वदन्ति ॥ १६६ ॥

अरत्नालोकसंचार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः ।

दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥ १६७ ॥

सजातिव्यतिरेकोऽयं, तमोजातेरिदं तमः ।

दृष्टिरोधितया तुल्यं, भिन्नमन्यैरदर्शितं यत् ॥ १६८ ॥

व्यतिरेकचक्रम् ।

सजातिव्यतिरेकमाह । अरत्नालोकेति । दृष्टिरोधकर-  
मिति, दृष्टिश्चक्षुर्ज्ञानञ्च, तमोजातेऽन्धकारश्च, श्लेषवशादेव  
तमःपदेनोपमानोपमेयभूततमोद्वयप्रतिपादनात् सामान्यलक्ष-  
णसमन्वयः, व्यञ्जनया उपमानतमःप्रतीतेरच व्यतिरेक इति  
केचित् । अत्र दृष्टिरोधकरमिति विशेषणस्योभयवृत्तित्वात्  
सादृश्यं शाब्दं । अरत्नालोकेत्यादिविशेषणद्वयस्योपमेयमात्र-  
वृत्तित्वाद्भेदकम्, एतदेव दर्शयति सजातिव्यतिरेकोयमिति  
समाना जातिर्यस्य स सजातिः सजातितोव्यतिरेचनं सजातिव्य-  
तिरेक इत्यर्थः । इदं प्रस्तुतं यौवनप्रभवं तमः, तमोजातेर्ज्ञान-  
प्रतिबन्धकत्वरूपतमस्त्वधर्मवतोऽप्रस्तुततमःसामान्यस्य दृष्टिरो-  
धितया दृष्टिरोधित्वरूपसाधारणधर्मसम्बन्धितया तुल्यं, तथा  
अन्यैः अरत्नालोकेत्याद्यसाधारणधर्मैर्भिन्नञ्च कृत्वा यददर्शितं  
तत् सजातिव्यतिरेकोऽयमित्यन्वयः । अत्र अन्यैरिति वञ्ज-

वचनेन अहोरात्रवृत्तित्वादीनां परिग्रहः अन्यथा विरुद्ध-  
धर्मद्वयस्यैवोपादानाद्भवचनानुपपत्तेः । भिन्नमित्यनेनाश्वये  
च तमोजातेरित्यस्य विपरिणामेन पञ्चम्यन्तता ज्ञातव्या, अन्ये  
तु तम एव तम इति श्लिष्टरूपकमिदं विरुद्धधर्मापादाना-  
दधिकारूढवैशिष्ट्यमित्याहुः ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।

यत्र स्वाभाविकत्वम्बा विभाव्यं, सा विभावना ॥ १६९ ॥

विभावनां लक्षयति । प्रसिद्धेति । यत्रेति वैचित्रे इत्यर्थः ।  
प्रसिद्धस्य सामान्यतोलोकविख्यातस्य न तु तात्त्विककारण-  
तापन्नस्य हेतोर्व्यावृत्त्या असद्भावप्रदर्शनेन यत्किञ्चिदतिगूढं  
कारणान्तरं यत्र वैचित्रे विभाव्यं फलोत्पत्त्यनुपपत्त्या निपु-  
णाभिनिवेशेनानुसन्धानीयं, तथा स्वाभाविकत्वम्बा निपुणानु-  
सन्धानेनापि कारणान्तराप्रतीतेः फलस्य स्वतःसम्पद्यमान-  
त्वम्बा विभाव्यं, सा द्विविधवैचित्ररूपा विभावेति योजना,  
इत्यञ्च विना प्रसिद्धहेतुमुत्पन्नस्य फलस्य गूढकारणान्तरवि-  
भावनजन्यं कारणान्तरानुपलब्ध्या नैसर्गिकत्वनिश्चयजन्यं वा  
वैचित्रं विभावेति लक्षणं, ततश्च कारणान्तरं स्वाभाविकत्वं  
वा विभाव्यतेऽस्यामित्यधिकरणप्रत्ययान्तो योगरूढोऽयं वि-  
भावनाशब्दः असङ्कारसंज्ञानां प्रायेण योगरूढत्वात् । न-  
व्यास्तु कारणाभावे फलोत्पत्तिवर्णनं विभावेत्याहुः तच्च  
विभावेतिसंज्ञाया नाम्बर्थतेति नैतत् सम्यक् । अत्र कार-

णान्तरञ्च क्वचिच्छाब्दं, यथा, “अनायासकृशं मध्यमशङ्कत-  
रले दृशौ । अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः” । इति, अत्र  
वयोरूपं कारणान्तरमुक्तं तस्य च कारणतयाऽनिर्देशादिभा-  
व्यत्वं । क्वचिदार्थं, यथोदाहरिष्यते अपीतजीवकादम्बमि-  
त्यादि, अत्र शरत्कालरूपकारणान्तरमनुपात्तं विभावनीयं ।  
स्वाभाविकत्वमपि क्वचिच्छाब्दं यथा, वक्त्रं निमग्नसुरभीत्यादि  
क्वचिच्चार्यं यथा, अनञ्जितासिता दृष्टिरित्यादि । प्रसिद्धका-  
रणाभावश्च क्वचिच्छाब्दः, यथा, अपीतजीवेत्यादि । क्वचि-  
च्चार्यः यथा वक्त्रं निमग्न्यादि । यत्र तु कारणविरुद्धमद्भा-  
वेन कारणाभावप्रतिपादनं तत्रापीयं भवति परन्तु न स्फुट-  
तरा, यथा, यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रतपा-  
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः ककम्बानिलाः । सा  
चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि  
वेतसोतरुतले चेतः समुत्कण्ठते । इति, अत्रोत्कण्ठाकार्यस्य  
प्रसिद्धहेतूनां पत्यभावादीनामभावाविरुद्धेन पत्यादिसद्भावेन  
प्रतिपादित इति नात्र स्फुटत्वमस्याः अत एवात्र प्रकाशकता,  
अत्र स्फुटोऽन कश्चिदलङ्कार इत्युक्तं ॥ १६६ ॥

अपीतजीवकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम् ।

अप्रसादितशुद्धाम्बु जगदासीमनोहरम् ॥ २०० ॥

तत्र कारणान्तरविभावनामुदाहरति । अपीतेति । अ-  
पीताः मधून्यपीतवन्नोऽपि जीवा मत्ताः कादम्बाः कलहंसा

यत्र तत् । अपीतेति, भोजनार्थत्वात् पिवतेः कर्त्तरि क्तः ।  
 तथा असंमृष्टमपि असलमम्बरं यत्र तत् । अप्रसादितं कत-  
 कादिना प्रसादमप्रापितमपि शुद्धं स्वच्छमम्बु यत्र तत् ।  
 अत्र पानं लीवत्वस्य, मार्जनममलत्वस्य, प्रसादनं शुद्धत्वस्य,  
 प्रसिद्धं कारणं तदसद्भावेऽपि लीवत्वादिफलोत्पत्तिरिति प्र-  
 सिद्धकारणाभावः शाब्दः, तादृशफलोत्पत्तिश्च प्रसिद्धकार-  
 णाभावेऽप्युपनिबध्यमाना प्रसुप्तद्रूपतया कारणान्तरमपेक्षत  
 इति शरत्कालरूपं कारणान्तरं विभावयति, तदत्रार्थं का-  
 रणान्तरम् ॥ १०० ॥

अनञ्जिताऽसिता दृष्टिर्भ्रूनावर्जिता नता ।

अरञ्जितोऽरुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥ २०१ ॥

स्वाभाविकत्वविभावनामुदाहरति । अनञ्जितेति । अन-  
 ञ्जिता अञ्जनेनालिप्रापि दृष्टिरसिता श्यामला । तथा अनाव-  
 र्जिता अनाकृष्टकोटिद्वयापि भ्रूर्नता वक्रा, अरञ्जितो लाला-  
 दिभीरागमप्रापितोऽपि अधरोऽरुणः । अत्र अञ्जितत्वमसि-  
 तत्वस्य, आवर्जनं नम्रतायाः, रञ्जितत्वमरुणत्वस्य प्रसिद्धं  
 कारणं, तन्निरुत्तावप्युत्पद्यमानमसितत्वादि कार्यं दृष्टकार-  
 णान्तराभावादिधिनिर्मितत्वरूपस्वाभाविकत्वं विभावयति ।  
 तच्च स्वाभाविकत्वमिह गम्यं । प्रसिद्धकारणाभावश्च शाब्दः ॥  
 ॥ २०१ ॥

यदपीतादिजन्यं स्यात् शीवत्वाद्यन्यहेतुजम् ।

अहेतुकञ्च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता ॥ २०२ ॥

उदाहरणद्वये निरुक्तलक्षणद्वयं सङ्गमयन् कारणाभावे कथं कार्योत्पत्तिरिति विरोधं वारयति । यदपीतादीति । पीतं पानं भावे क्तः, आदिना उत्तरश्लोकगतानामप्यनञ्चितत्वादीनां परिग्रहः, एवं शीवत्वादीत्यादिना अमितत्वादीनाम् । अपीतादिजन्यं पानाद्यजन्यं किन्तु अन्यहेतुजं शरत्कालरूपकारणान्तरजन्यं, तथा अहेतुकञ्च कारणमन्तरेण स्वतःसिद्धञ्च यत् शीवत्वादि स्याद्भवति तस्येह विवक्षा इत्यतोऽविरुद्धता व्यभिचाराभाव इत्यन्वयः, अयमर्थः, त्वणारणिन्यायेन प्रत्येकपर्याप्तकारणतायां व्यभिचारापत्त्या कार्यगतं विजात्यमवश्यमङ्गीकरणीयं, ततश्च प्रकृते पानादिजन्यं शीवत्वादिकमन्यत् शरत्कालजन्यमन्यदिति पानादिकारणाभावेऽपि शरच्चन्तं विजातीयमिदं शीवत्वादिकं तस्मान्न व्यभिचारसम्भवः, एवमञ्जनलेपादिलौकिककारणजन्यमसितत्वादिकमन्यत् स्वभावसिद्धञ्चान्यदिति नात्रापि व्यभिचारशङ्केति, वैचित्र्यं विभिन्नानामपि शीवत्वादीनामेकताध्यवसानेन अहो असत्यपि कारणे कार्यमिति चमत्कारोदयादिति विवेचनीयम् ॥ २०२ ॥

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम् ।

अकारणरिपुशब्दो निर्निमित्ताऽसुहृत् स्मरः ॥ २०३ ॥

निसर्गादिपदैरत्र हेतुः साशान्निवर्त्तितः ।

उक्तञ्च सुरभित्वादि फलं, तत् सा विभावना ॥ २०४ ॥

॥ इति विभावनाचक्रम् ॥

शाब्दं स्वाभाविकत्वमुदाहरति । वक्तमिति । निसर्गेण स्वभावेन, नतु केनापि कर्पूरादिगन्धवस्तुना सुरभिः । अव्याजे-  
नाकपटेन सुन्दरं, नतु वसनाभरणादिना कृत्रिमसौन्दर्यवत् ।  
अकारणरिपुः विरोधादिकारणं विनैव विरहिणां ताप-  
कारी । एवं निर्निमित्ताऽसुहृदिति । अत्र सुरभित्वादीनां  
स्वाभाविकत्वं निसर्गादिपदबोधमिति शाब्दमेव । नन्वत्र प्र-  
सिद्धहेतुव्यावृत्त्यभावात् कथं लक्षणसमन्वय इत्यत्राह, निस-  
र्गादिपदैरिति । साशान्नादिवाचकशब्दवत् । सुरभित्वादि-  
फलं सुरभित्वादिफलस्य स्वाभाविकत्वम्, उक्तञ्च बोधितञ्च ।  
निसर्गादिपदानि हेतुसङ्गावं निवर्त्तयन्ति, सुरभित्वादि-  
फलस्य च स्वाभाविकत्वं बोधयन्तीत्यर्थः । तत्तस्मात् कारणा-  
भावफलस्वाभाविकत्वयोः प्रतीतत्वादित्यर्थः । सा निरुक्तलक्षणा  
विभावना अत्र वर्त्तत इत्यन्वयः । तस्मा इत्यत्र तस्मादिति  
कचित् पाठः ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासेऽक्तिरिष्यते ॥ २०५ ॥

अथ समासेऽक्तिं लक्षयति । वस्त्विति । किञ्चित् किमपि प्रस्तुतं

वस्तु अभिप्रेत्य चमत्कारित्वप्रतिपादयिषया व्यञ्जनया प्रतिपादयितुमभिलष्य तत्तुल्यस्य तदुपमानभृतस्यान्यवस्तुनः कस्यचिदप्रस्तुतस्योक्तिः शब्देन प्रतिपादनं सा समाभोक्तिरित्य-  
 श्वयः । शक्त्या प्रतिपादनापेक्षया व्यञ्जनया वस्तुनः प्रतिपा-  
 दनं हि चमत्कारविशेषं जनयति, यदुक्तं ध्वनिहता 'वाच्यो-  
 ऽर्थो न तथा स्वदत्ते प्रतीयमानः स एव यथेति, संज्ञावीज-  
 माह, संक्षेपरूपत्वादिति समासः संक्षेपः, संक्षेपश्च एकस्य प्र-  
 योगेणोभयप्रतीतिः, प्रकृतेच प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्द्वयोरैकस्याप्रस्तु-  
 तस्य प्रयोगेण प्रस्तुतस्यापि प्रतिपत्तिरिति । एतेनापमाना-  
 ष्ट्वाब्दादतिप्रसिद्धेरुपमेयस्य प्रतीतिः समाभोक्तिरित्यर्थः ।  
 तदुक्तं भोजराजेन, 'यथापमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते । अति-  
 प्रसिद्धेस्तामाहुः समाभोक्तिं मनीषिणः । प्रतीयमाने वाच्ये  
 वा सादृश्ये सोपजायते । आघां गर्हामुभे नाभे तदुपाधीन् प्र-  
 चक्षते । विज्ञेयमात्रभिस्त्रापि तुल्याकारविशेषणा । अज्ञेयमा-  
 वपरायस्ति तुल्यातुल्याविशेषणा । संक्षेपेणाच्यते यस्मात् स-  
 माभोक्तिरियं ततः । मैवान्नाक्तिरनन्याक्तिरुभयोक्तियु कथ्यते'  
 इति । वस्तुतस्तु समाभोक्तावस्थामुपमानमेव वाच्यत्वमुपमेय-  
 स्यैव गम्यत्वमिति न नियमः उपमेयादप्युपमानप्रतीतेः तद-  
 भ्युपगमस्यैचित्यात् । यथा, 'व्याधूय यद्वसनसम्बुजसोचनाया  
 वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः । आलिङ्गसि प्रसभमङ्ग-  
 मशेषमस्माद्भुवन्यस्त्वमेव मलयचलगन्धवाह' इति । अत्र शाब्दस्य  
 मलयानिलस्योपमेयत्वं गम्यस्य च दृढकामुकस्योपमानत्वमिति ।



अतएवाग्नेये उपमानमुपमेयं वानन्तर्भाव्यैव लक्षणं कृतं यथा,  
 'यत्रोक्ताङ्गम्यतेऽन्यार्थस्तत्समानविशेषणः । सा समासोक्तिरु-  
 दिता संक्षेपार्थतया बुधैः' इति । नव्यास्तु प्रस्तुतादप्रस्तुत-  
 प्रतीतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसे-  
 त्याहुः । वाच्ये प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः समासोक्ति-  
 रिति विश्वनाथादयः । स्वमते समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसयोर्भेद-  
 मप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणे विवेचयिष्यामः ॥ २०५ ॥

पिवन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे ।

अप्यसन्नदुसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुघ्नलम् ॥ २०६ ॥

इति प्रौढाङ्गनावद्वरतिलीलस्य रागिणः ।

कस्याञ्चिदिह बालायामिच्छावृत्तिर्विभाव्यते ॥ २०७ ॥

अत्र वाच्याङ्गप्रतीतौ तयोः कार्यलिङ्गविशेषणानामन्य-  
 तमस्य साम्यं हेतुरिति प्रथमं कार्यसाम्ये उदाहरति । पिव-  
 न्निति । असन्नदुसौरभ्यमसञ्जातमधुगन्धम् । लक्षणं सङ्गम-  
 यति । इतीति । इतीह इत्यस्मिन् पद्ये, बालायामनुद्भिन्न-  
 यौवनायाम्, इच्छावृत्तिः सुरताभिलाषप्रवृत्तिः, विभाव्यते  
 कार्यसाम्येन व्यज्यते । अत्राप्रस्तुतस्य भ्रमरस्य कार्यं फुल्लपङ्कज-  
 मधुपानपूर्वकपङ्कजकोरकमधुपानेच्छा, प्रस्तुतस्य कामुकस्य च  
 प्रौढाङ्गनारतिलीलापूर्वकबालासुरतेच्छा तयोश्च विम्बानुवि-  
 म्वतास्येवेति साम्यमेव तेन चाप्रस्तुताद्भ्रमरात् प्रस्तुतस्य कामु-  
 कस्य प्रतीतिः ॥ २०६ ॥ २०७ ॥

विशेष्यमात्रभिन्नापि तुल्याकारविशेषणा ।

अस्त्यसावपराप्यस्ति भिन्नाभिन्नविशेषणा ॥ २०८ ॥

विशेषणसाम्यनिबन्धनां समामोक्तिं दर्शयन् विशेषणाना-  
द्याभिन्नत्वेन भिन्नाभिन्नत्वेन च भेदद्वयमाह । विशेष्येति ।  
विशेष्यमात्रं विशेष्यपदमेव भिन्नं श्लेषानवष्टम्भादेकमात्रबोधकं  
यत्र सा । मात्रपदाद्विशेषणभिन्नत्वव्युदासः । अपिना पू-  
र्वीकृतकार्यसाम्यसमामोक्तिसमुच्चयः । विशेष्यपदस्य स्मिष्टत्वे तु  
द्वयोः प्रस्तुतत्वे श्लेषानुद्धारः, एकस्य तथात्वे तु शब्दशक्तिमूला  
ध्वनिरिति बोध्यम् । तुल्येति, तुल्याकारं श्लेषावष्टम्भेन वाच्य-  
व्यङ्ग्योभयधर्मबोधकं विशेषणं यत्र सेत्येका, अत्र श्लेषवशा-  
देकाकारशब्दप्रतिपाद्यत्वेन विशेषणधर्माणां साम्यम् । अपरा-  
प्यस्तीति । अत्रापि विशेष्यमात्रभिन्नेत्यनुषज्यते । भिन्नमेक-  
मात्रगामि अभिन्नमुभयगामि च विशेषणं यत्र सा । भिन्न-  
विशेषणस्य तु व्यङ्ग्यधर्मेण विम्बप्रतिविम्बतया साम्यम्, इत्यस्य  
स्मिष्टविशेषणा स्मिष्टास्मिष्टविशेषणा चेति द्वौ भेदावित्यर्थः । श्ले-  
षश्चात्र शब्दगतोऽर्थगतश्चेति द्विविधो बोध्यस्तेनापरेरङ्गीकृतं  
विशेषणसाधारण्यगर्भभेदान्तरं पृथङ्गं वक्तव्यम् । अर्थश्लेषाव-  
ष्टम्भविशेषणस्यैव साधारण्यात्, यथा 'निसर्गमौरभोद्भान्तभृङ्ग-  
सङ्गीतज्ञानिनी । उदिते वासराधीशे स्मैराजनि सरोजिनी' ।  
अत्र निसर्गेत्यादिविशेषणं साधारणं तेन च नायिकाप्रतीतिः ।  
केचित्तु श्लेषस्यगर्भत्वेन च विशेषणसाम्यं भवति, श्लेषस्यगर्भ-

तच्च उपमा रूपकतत्परगर्भत्वरूपं तेन च विशेषणसाम्ये  
भेदत्रयान्तरं ज्ञातव्यमित्याहुः तन्न रुचिरं तथाविधस्यले  
एकदेशविवर्त्युपमातादृशरूपकयोरेवाङ्गीकारस्यैचित्यात् अ-  
न्यथा, 'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्विधानार्द्रनखक्षताभम् ।  
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं चकार' । इत्या-  
दावाद्द्रनखक्षताभैन्द्रधनुर्धारणरूपविशेषणस्य नायिकाया अस-  
म्भवेन विशेषणसाम्याभावात् कथं नायिकाप्रतीतिः तस्मा-  
देवमादावेकदेशविवर्त्तिन्युपमैव, एवं 'लावण्यमधुभिः पूर्णमा-  
स्यमस्याविकस्वरम् । लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते' ।  
इत्यादावेकदेशविवर्त्तिरूपकमेव ॥ २०८ ॥

रूढमूलः, फलभरैः पुष्पान्निशमर्थिनः ।

सान्द्रच्छायो महावृक्षः सोऽयमासादितो मया ॥२०९॥

अनल्पविटपाभोगः फलपुष्पसमृद्धिमान् ।

सुच्छायः स्थैर्यवान् दैवादेप लब्धो मया द्रुमः ॥ २१० ॥

उभयत्र पुमान् कश्चिद्वृक्षत्वेनोपवर्णितः ।

सर्वे साधारणा धर्मरः पूर्वत्रान्यत्र तु द्वयम् ॥ २११ ॥

क्रमेणोदाहरति । रूढमूल इति । रूढं प्रवृद्धं मूलं शिफा,  
अन्यत्र मूलधनं यस्य सः । फलभरैः शस्यतिशयैः, अन्यत्र  
धनलाभैरर्थिनः पुष्पम् । सान्द्रा बज्जला छाया आतपाभावः,  
अन्यत्र कान्तिर्यस्य सः । सोऽयं प्रसिद्धः । अत्र मूलादिशब्दा-  
नामनेकार्थत्वेन विशेषणानामभिन्नत्वं । तथाच मेदिनी 'मूलं

शिफाद्ययोः, मूलवित्तेऽन्तिके वा नेति । फलं जातीफले शस्ये  
हेतुत्ये व्युष्टिस्त्राभयोरिति । काथा स्यादातपाभावे प्रतिविम्बा-  
कयोषितोः । पालनेत्कोचयोः कान्तिसच्छोभापङ्क्तिषु स्त्रि-  
याम्' इति च । महावृक्षपदन्वेकार्थमेवेति वाच्यव्यङ्ग्यवाक्या-  
र्थयोर्विशेष्यं भिन्नमेव ॥ २०६ ॥

अनल्पेति । अनल्पो विटपस्य शाखाविस्तारस्याभोगः पू-  
र्यता यस्य सः । फलानां शस्यानां पुष्पाणाञ्च समृद्धिः प्राचुर्यं  
विद्यते यस्य सः । अत्र पुष्पसाहचर्यात् फलपदस्य शस्यमात्र-  
वाचकत्वेनैकार्थत्वमेव । सुच्छायः पञ्चवनेविद्यादधिकातपाभा-  
वः, अन्यत्र शोभनकान्तिः । स्यैर्यमविचलितमूलत्वम्, अन्यत्र  
सत्यपि विघ्ने व्यवसायादचलनं, तद्वान् । दैवाद्भाग्यात् ॥  
॥ २१० ॥

उभयत्रेति । उभयत्र पद्यद्वये, कश्चित् प्रस्तुतः पुनान्, वृक्ष-  
त्वेन उपमानभृतवृक्षस्योपमेयत्वेन, उपवर्णितः विशेषणसा-  
धारण्योत्थापितया व्यञ्जनया बोधितः । पूर्वत्र पद्ये सर्वे धर्मा  
विशेषणभृताः साधारणाः श्लिष्टपदप्रतिपाद्यत्वेनैकरूपत्वाद्,  
भयान्वयित्वेनाभिन्नाः । अन्यत्र परत्र पद्ये तु द्वयं सुच्छायत्व-  
स्यैर्यवत्त्वधर्मयोर्युगलं श्लिष्टपदप्रतिपाद्यत्वादभिन्नं । विटपफल-  
पुष्पाणान्वेकार्थपदप्रतिपाद्यत्वाद्भिन्नत्वमेव, तेषां साधारण्यन्तु  
प्रतीयमानपुरुषगतैस्मात्प्रजातीयधर्मैः सह विम्बप्रतिविम्बतयेति  
बोधम् अन्यथा तेषां व्यञ्जनामुत्थापकत्वेनापुष्टत्वदोषापत्तेः ।  
अयञ्च चरमभेदो वैचित्रविशेषाजनकत्वात्प्रत्यैरुपेक्षितः ॥ २११ ॥

निवृत्तव्यालसंसर्गा निसर्गमधुराशयः ।

अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशुष्यते ॥ २१२ ॥

इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्तनात् ।

समुद्रेण समानस्य पुंसो व्यापत्तिवृत्तनात् ॥ २१३ ॥

॥ इति समासोक्तिचक्रम् ॥

अभिन्नविशेषणसमासोक्तौ रूढमूल इत्याद्युदाहरणप्रदर्शनेन विशेषणानां तात्त्विकत्वं प्रतिपादितं । सम्प्रति विपरीतधर्मारोपेण भेदान्तरं दर्शयन्नुदाहरति । निवृत्तेति । निवृत्ते व्यालानां सर्पाणाम्, अन्यत्र खलानां संसर्गा यस्मात् सः । तथा निसर्गेण मधुराशयः सुखाद्जलाधारः, अन्यत्र सदयहृदयः, कालेन समयविशेषेण अन्यत्र यमेन, परिशुष्यते निर्जलीक्रियते अन्यत्र विनाश्यते । अत्र व्यालसंसर्गित्वलवणाशयत्वे एवाम्भोनिधेः पूर्वसिद्धधर्मो तन्निवर्तनेन तद्विपरीतव्यालसंसर्गाभावनिसर्गमधुराशयत्वधर्मो वाच्येऽम्भोनिधावारोपितौ, व्यञ्जे च तात्त्विकावित्यभिन्नौ, ततश्च प्रसृतपुरुषविशेषप्रतीतिरित्यपूर्वसमासोक्तिरियम्, एतदेव सङ्गमयति । इत्यपूर्वेति । अपूर्वत्वे हेतुः पूर्वधर्मनिवर्तनादिति, पूर्वधर्मो पूर्वसिद्धधर्मो व्यालसंसर्गलवणाशयत्वरूपौ तयोर्निवर्तनादपलापात् तदपलापेन तद्विपरीतधर्माध्यासादित्यर्थः । समासोक्तिमद्भावे हेतुः समुद्रेणेत्यादिः । इत्थं कार्यविशेषणयोः साधारण्यरूपतभेदा दर्शिताः । लिङ्गसाधारण्यभेदो यथा, 'असमाप्तजिगीषस्य स्त्री-

चिन्ता का मनस्विनः । अनाक्रम्य जगत् हस्तं नो सन्ध्यां  
भजते रविः । अत्रोत्तरार्द्धे स्त्रीपुंलिङ्गसाधारण्येन नायक-  
नायिकाप्रतीतिः, एवमन्तेऽपि समासोक्तिभेदा भोजराजादि-  
भिरुक्तास्तेषां प्रबन्धेषु ज्ञातव्याः ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।

असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥ २१४ ॥

असावतिशयोक्तिं लक्षयति । विवक्षेति । विशेषः प्रस्तुतवस्तुन  
उत्कर्षः तस्य या लोकसीमातिवर्तिनी लोकमर्यादातिरिक्ता  
अत्यधिकेत्यर्थः, विवक्षा उक्तिः भङ्गा प्रतिपादनमित्यर्थः,  
असावतिशयोक्तिः स्यादित्यन्वयः । विवक्षेति स्वार्थे सन् दृष्ट्या-  
या अलङ्कारत्वाभावात् । विवक्षाया लोकसीमातिवर्तित्वञ्च  
परस्परया विशेषस्यैव लोकसीमातिवर्तित्वेन प्रतिपादितस्य  
चमत्कारजनकत्वात् । स्पष्टमुक्तमाग्नेयं, 'लोकसीमातिवृत्तस्य  
वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् । भवेदतिशयो नाम मन्त्रयोऽनन्त्रो विधा'  
इति । वस्तुधर्मस्य प्रस्तुतवस्तुनो गुणाद्याधिक्यप्रतोत्कर्षस्येत्य-  
र्थः । कश्चिच्च लोकसीमातिवर्तिन इत्येव पाठः । इत्यञ्च  
प्रस्तुतवस्तुनोऽत्यधिकोत्कर्षोक्तिरतिशयोक्तिरिति लक्षणम्, अ-  
तिशय उत्कर्षस्तस्योक्तिरित्यन्वयता । एवञ्च लोकसीमाति-  
वर्तित्वस्य विशेष एवान्वयात् प्रस्तुतवस्तुनि चानन्वयात्त्र  
कान्तिगुणवत्त्वाभावश्चङ्गा, प्रस्तुतवस्तुन एव तथात्वे कान्तिम-  
न्त्रायामात् वार्त्ताभिधानादावेव वा कान्तिशब्दावगमि यमेनान्यत्र

तदभावे दोषाभावात् । एवमपि वक्ष्यमाणोदात्तेनास्या न  
समानविषयत्वम् । अत्र प्रस्तुतोत्कर्षातिशयप्रतिपादनञ्चाप्रस्तु-  
ताभेदाध्यवसानादिना । अतिशयोक्तिं प्रशंसति । अलङ्कारोत्त-  
मेति सर्वालङ्कारजीवातुभूतत्वादर्शनीयार्थोत्कर्षातिशयबोध-  
कत्वेन समत्कारविशेषजनकत्वाच्चेत्यर्थः ॥ २१४ ॥

मल्लिकामानभागिन्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।

सौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥ २१५ ॥

उदाहरति । मल्लिकेति । मालाशब्दस्येष्टकादित्वात्तद-  
न्तस्य चेति ह्रस्वः । ईदृशं सामान्यालङ्कारमिच्छन्त्यने । अत्र  
ज्योत्स्नैव वर्णनीयत्वात् प्रस्तुता, तस्याः श्रेतिमा मल्लिकामाला-  
दिकृतनायिकाश्रेतिमाभिन्नतया वर्णनादत्यधिकत्वेन प्रती-  
यते, यद्वा ज्योत्स्नां रजन्यां तादृशाभिसारिकाणामलक्ष्यत्वस्था-  
सम्बन्धेऽपि तत्कल्पनात् प्रस्तुतज्योत्स्नायाः श्रेतिमोत्कर्षः प्रती-  
यते ॥ २१५ ॥

चन्द्रातपस्य बाहुन्यमुक्तमुत्कर्षवत्तया ।

संग्रयातिशयादोर्न व्यक्तौ किञ्चिन्निदर्श्यते ॥ २१६ ॥

अत्र लक्षणं सङ्गमयति । चन्द्रातपस्येति । चन्द्रातपस्य प्रस्तुत-  
ज्योत्स्नाया उत्कर्षवत्तया उक्तव्यत्वप्रतिपादनार्थं बाहुल्यं गाढ-  
त्वमुक्तम् अभिसारिकाणां तादृशश्रेतिना सहाभिन्नत्वप्रतिपा-  
दनेन सत्यपि लक्ष्यत्वेऽलक्ष्यत्वप्रतिपादनेन वा बोधितमित्यर्थः ॥

भेदान्तराणि प्रदर्शयन्नाह । संग्रयेत्यादि । संग्रयेनाति-

शयः प्रसृतोत्कर्षः । आदिना निर्णयादिपरिग्रहः । व्यक्ता  
प्रकाशनाय, निमित्ते सप्तमी । किञ्चिद्भेदान्तरं दृष्टवाङ्मय-  
भिया नतु बहवो भेदा इत्यर्थः ॥ २१६ ॥

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव ।

अस्ति नास्तीति सन्देहो न मेऽद्यापि निवर्तते ॥ २१७ ॥

स्तनयोरिति । स्तनयोरतिस्मृत्तयोः, एवं जघनस्यातिस्मृ-  
त्तस्य, अपिभिन्नक्रमे मध्ये वर्तमानमपि, अपिना सन्देहा-  
सम्भवः सूचितः । तथापि मध्यस्यातिकृशत्वेन सम्यगलक्ष्यत्वात्  
सन्देहावतारः । अत्र तथाविधसंशयस्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्ध-  
कल्पनेन मध्यस्य कृशत्वातिशयः प्रतिपादित इति संशयाति-  
शयोक्तिरियम् ॥ २१७ ॥

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि ।

अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थितिः ॥ २१८ ॥

निर्णयातिशयोक्तिमुदाहरति । निर्णेतुमिति । तव मध्यम्  
अस्तीति निर्णेतुं शक्यम्, अन्यथा मध्यसङ्गातं विना पयोधर-  
भरस्थितिर्नोपपद्येत, निरवलम्बनस्य गुरुवस्तुनः स्थितेरसम्भवा-  
दित्यन्वयः । अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थितेरिति कश्चित्  
पाठः । अत्र निरवलम्बनपयोधरभरस्थित्यनुपपत्तिकृतगथा-  
न्वित्निर्णयस्यासम्बन्धेऽपि तत्कल्पनेन मध्यस्य कृशत्वातिशयो-  
क्तेर्निर्णयातिशयोक्तिरियम् ॥ २१८ ॥



अहो विशालं भूपानभवनत्रितयोद्गरम् ।

माति मातुमगक्योऽपि यशोराशिर्यद्दत्र ते ॥ २१६ ॥

आश्रयाधिकातिशयोक्तिमुदाहरति । अहो इति । अहो अद्भुतमत्यन्तमित्यर्थः, मातुमगक्योऽपि अपरिमितोऽपि । अत्राश्रयभृतस्य भुवनत्रितयस्याधिक्यप्रतिपादनेनाश्रितस्य यशोराशराधिक्योक्तेराश्रयाधिकातिशयोक्तिरियम् । अतएवात्राधिकालङ्कारमिच्छन्ति नव्याः । एवमस्यां प्रस्तुतस्य निगरेणेनाप्रस्तुताध्यवमानादुत्कर्षोक्तौ चमत्कारातिशयः, यथा 'लता मूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः स्फुरत्ताराकारा गलति जलधारा कुवलयत् । धुनीते बन्धूकं तिलकुसुमजन्मापि पवनो वहिर्दारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृतिनः' । अत्र मुखादीनां निगीर्णानां हिमकराद्यध्यवमानेनोत्कर्षातिशयः । नव्यास्तु कार्यकारणयोः पौर्व्यापर्यविपर्ययेऽप्यतिशयोक्तिमिच्छन्ति, यथा 'हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापवाणेन । चरमं रमणीवत्तभ लोचनविषयं त्वया भजता' इत्यादौ । स्वमतेष्वत्र वक्ष्यमाणैस्त्वलङ्कार एव ॥ २१६ ॥

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागोशमहितामुक्तिमिमामतिगयाङ्गयाम् ॥ २२० ॥

॥ इत्यतिशयोक्तिचक्रम् ॥

अस्या अलङ्कारोत्तमत्वं व्याकरोति । अलङ्कारेति । वागोशमहितां वृहस्पतिनापि प्रशंसितां वाल्मीक्यादिमहाकवि-

भिरादृतां वा इमामतिशयाङ्गयामुक्तिमतिशयोक्तिम् अलङ्कारान्तराणामप्येकमद्वितीयं पराचणमवलम्बनमाहुः प्राक्तननिबन्धार इति शेषः । प्रस्तुतोत्कर्षातिशयरूपाया अस्या एव वैचित्ररूपत्वात् सर्वत्राव्यभिचारित्वाच्च अलङ्कारान्तराणामुपजीव्यत्वम् एतदभावे च वैचित्राभावेन विद्यमानानामप्युपमादीनां नालङ्कारत्वं, यथा 'गौरिव गवय इत्यादौ' यदुक्तं । 'सैव सर्वत्र वक्रोक्तिरन्यार्थो विभाव्यते । यत्रोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना' इति । अन्यच्च, 'कस्याप्यतिशयस्योक्तिरित्यन्वर्थविचारणात् । प्रायेणामो अलङ्कारा भिन्ना नातिशयोक्तिः' इति । एवं सर्वत्रैवातिशयोक्तिसङ्घावेऽपि वैचित्रान्तरेणालङ्कारान्तरव्यपदेशाः, वैचित्रान्तराभावे त्वतिशयोक्तिव्यपदेश इति बोध्यम् । अलङ्कारान्तरामपीत्यपि उक्तोदाहरणगतालङ्काराणां समुच्चयः, तथाहि मल्लिकामालभारिण्य इत्यादौ सामान्यं, स्ननयार्जघनस्यापीत्यादौ मन्देहः, निर्लेहं शक्यमस्तीत्यादौ निश्चयः । संशयनिश्चययो रूपमानोपमेयविषयकत्वाभावेऽप्यलङ्कारत्वं बहुभिर्वैचित्रजनकत्वादङ्गीकृतम् । अद्यो विशालमित्यादावधिकम् । एते चालङ्कारा अन्यैरुक्ता ज्ञातव्याः ॥ १२० ॥

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।

अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥ १२१ ॥

अथोत्प्रेक्षां लक्षयति । अन्यथैवेति । चेतनस्येतरस्याचेतनस्य

वा प्रस्तुतविषयस्यान्यथा स्वाभाविकत्वेनैव स्थिता वृत्तिर्गुण-  
 क्रियादिवर्त्तनं यथावत्स्वरूपञ्च, अन्यथा प्रकारान्तरेण अप्र-  
 स्तुतस्वरूपत्वेन च यत्र वैचित्र्ये, यद्वैचित्र्यबोधायेत्यर्थः, उत्प्रेक्ष्यते  
 सम्भाव्यते तां तादृशवैचित्र्यरूपामुत्प्रेक्षां विदुरित्यन्वयः । अ-  
 धिकरणसाधनोऽयमुत्प्रेक्षाशब्दः । यत्त्विति पाठेतु क्रियाविश्लेष-  
 णं तदा भावसाधनः । तदुक्तं प्रकाशकृता, 'सम्भावनामयोत्प्रे-  
 क्षेति' । सम्भावना चोत्कटकोटिकः संशयः, अप्रस्तुतकोटेरु-  
 त्कटत्वञ्च प्रस्तुतकोटेर्निर्गरणेन, निर्गरणञ्च क्वचिदनुपादानेन  
 क्वचिदुपात्तस्याप्यधःकरणेन च । यदुक्तं 'विषयस्यानुपादाने-  
 ऽप्युपादानेऽपि सूरयः । अधःकरणमात्रेण निगीर्षत्वं प्रचक्षते'  
 इति । उपमेये उपमानसम्भावनामेवोत्प्रेक्षेति नव्यैरुक्तं तत्प्राची-  
 नानामनभिमतमित्यग्रे स्फुटीभविष्यति । अस्याश्लेषेक्षणीया-  
 र्थानां जातिक्रियागुणद्रव्यात्मकत्वेन तेषाञ्च भावाभावाभि-  
 मानेन जात्यादित्रयस्य च स्वरूपफलहेतुरूपत्वेन द्रव्यस्य स्वरूप-  
 मात्रगतत्वेन च उत्प्रेक्षानिमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वेन एवं  
 प्रकारान्तरेण च बहवो भेदा अन्यैरुक्ता यन्मगौरवभियाच-  
 नोक्ताः स्वयमनुसन्धातव्याः ॥ २२१ ॥

मध्यन्दिनार्कसन्तप्रः सरसो गच्छते गजः ।

मन्ये मार्त्तण्डगृह्याणि पद्मानुद्वर्त्तुमुद्यतः ॥ २२२ ॥

स्नातुं पातुं विसान्यत्तुं करिणो जलगाहनम् ।

तद्वैरनिष्क्रयायेति कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥ २२३ ॥

चेतनस्येतरस्य वेद्युक्तं तत्र चेतनवृत्त्युत्प्रेक्षामुदाहरति । म-  
 ध्यन्दिनार्केति । मार्त्तण्डय्याणि सूर्यस्य पदान्, पदपत्र-  
 परतन्त्रेषु यह इति क्यः । उद्भुत्तुंमुन्मूलयितुम्, अत्र सूर्य-  
 तपस्य चेतनस्य गजस्य स्नानपानाद्यर्थकतया स्थिता मरस्यवगा-  
 हनक्रिया सूर्यपत्रपद्मोद्भरणार्थकत्वेनोत्प्रेक्षिता, तत्रच मध्य-  
 न्दिनार्कमन्तप इति मध्यन्दिनार्ककर्तृकमन्तापक्रिया निमित्तं,  
 मन्त्रे इति पदमुत्प्रेक्षाद्योतकम् । उत्प्रेक्षाविषयश्चात्र तादृश-  
 मरोऽवगाहनमुपात्तं । किञ्चात्र मन्तापकस्य सूर्यस्य प्रतीका-  
 राशक्तेन गजेन सूर्यपत्रपद्मोद्भरणादन्यैरुक्तः प्रत्यनीकालङ्का-  
 रोऽपि । यदुक्तं, 'प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतिकारे रिपोर्यदि ।  
 तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः' इति । तदनयोः म-  
 ङ्करः ॥ २२२ ॥

अत्र लक्षणं सङ्गमयति । स्नातुमिति । वैरनिष्क्रयाय  
 मन्तापकत्वाद्वैरिणः सूर्यस्य प्रत्यपकाराय ॥ २२३ ॥

कर्षस्य भूषणमिदं ममायतिविरोधिनः ।

इति कर्षात्पलं प्रायस्तव दृष्ट्या विलङ्घ्यते ॥ २२४ ॥

अपाङ्गभागपातिन्या दृष्टेरंशुभिरुत्पलम् ।

स्पृश्यते वा नवेत्येवं कविनेान्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥ २२५ ॥

अचेतनवृत्त्युत्प्रेक्षामुदाहरति । कर्षस्येति । इदमुत्पलं मम  
 आयतिर्दीर्घता तस्या विरोधिना निवारकस्य कर्षस्य भूषणम्  
 इति अस्माद्धेतोः । प्राय इत्युत्प्रेक्षाद्योतकं । दृष्ट्या चक्षुषा

विलङ्घ्यते स्वांगुमस्यर्केणोत्सार्थत इव । अत्राचेतनायादृष्टेरंगूनां  
सन्निहितत्वेन कर्षात्पले सर्शाख्यो गुणः कर्षात्पलोत्सार्णान्वेन  
सम्भावितः स चात्रानपात्तः ॥ २२४ ॥

अपाङ्गेति । अपाङ्गभागपातिन्या आकर्षान्तविश्रान्तायाः ।  
स्पृश्यते वा नवेत्यनेन अमन्नपि विषयस्यमत्कारप्रतिपिपादयि-  
षया विषयिणा केनचित् कविभिरुत्प्रेक्षणीयो भवतीति सू-  
चितम् । एवमुदाहरणद्वये चेतनाचेतनयोः प्रसृतयोः क्रिया-  
गुणौ उत्प्रेक्षाविषयौ, प्रसृतस्वरूपस्य विषयत्वं यथा, 'ऊरुः  
कुरङ्गकदृशश्चलचेलाञ्चलो भाति । सपताकः कनकमयो वि-  
जयस्तम्भः स्मरस्येव' । अत्र प्रसृतस्योरोः स्वरूपमेव विषयः  
नतु गुणादिः, विषयीच विजयस्तम्भः, नचेयमुपमा स्मरसम्ब-  
न्धिविजयस्तम्भस्याप्रसिद्धत्वेनोपमानत्वाभावात् प्रसिद्धस्यैव तथा-  
त्वात् उपमाद्योतकेवशब्दस्य चापमानोत्तरत्वनियमेनात्र तद-  
भावात् सम्भावनाया एव स्फुटं प्रतीयमानत्वेनोपम्यप्रतीतेर-  
भावाच्च । इयञ्चोत्प्रेक्षा द्योतकाप्रयोगेऽपि क्वचिद्भवति यथा  
'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटोक्तम् । हाराय गुणिने  
स्थानं न दत्तमिति लज्जया' । अत्र स्तनयोरचेतनतया लज्जा-  
या असम्भवेन लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षा, इयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षयाङ्ग-  
विश्वनाथादयः ॥ २२५ ॥

लिप्यतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

इतोदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणाञ्चिन्म ॥ २२६ ॥

केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते ।

नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ॥ २२७ ॥

मन्ये शङ्के इत्यादिपदप्रयोगएवोत्प्रेक्षा इवप्रयोगे तु सर्व्व-  
त्राप्युपमैवेति प्रत्ययभेदपर्यन्तमन्यरा च्छुधियः, उपमंये  
उपमानस्यैवोत्कटः संशय उत्प्रेक्षेत्यन्ये, मतदयञ्चैतदूपयन्नाह ।  
लिम्पतीवेति । श्लोकार्द्धमिदं मृच्छकटिकप्रकरणियम्, अस्या-  
त्तरार्द्धन्तु, 'असत्पुरुषमेवेव दृष्टिर्विफलतां गता' इति । इती-  
दमपीति प्राचीनपद्यार्द्धमपीत्यर्थः । भृयिष्ठमतितरां, नत्वां-  
शिकत्वेन । उत्प्रेक्षालक्षणाञ्चितमिति, तथाहि अचेतनस्य तमसो  
व्यापनरूपो विषयो लेपनत्वेन सम्भावितः, एवं वर्षतीवाञ्जनं  
नभ इत्यत्र निरालोकप्रवृत्तस्तमसः सम्यातो नभःकर्त्तका-  
ञ्जनवर्षणत्वेनेति, उभयत्र विषयस्यानुपादानम् ॥ २२६ ॥

केषाञ्चिदिति । केषाञ्चिदृजुधियां नतु सर्व्वेषाम् उप-  
माभ्रान्तिरत्रोपमालङ्कार इति भ्रमः, तत्र हेतुः इवश्रुत्येति  
कमलमिव मुखमित्यादावित्रात्रापीवगद्यस्योपमाद्योतकत्वादि-  
ति भावः । नन्वत्रोपमाप्रतीतिस्तान्त्विक्येवास्तां कथं भ्रान्ति-  
रित्यत्राह । नोपमानमित्यादि । तिङन्तेन तिङन्तपदप्रतिपा-  
द्येन कृत्वा उपमानं कस्यचित् प्रस्तुतस्योपमितिर्न भवति,  
तिङन्तपदप्रतिपाद्यस्य साध्यत्वात् सिद्धस्यैवोपमानत्वमभवादि-  
त्याप्तभाषितम्, आप्ताः प्रामाणिका भाष्यकारादयस्तेषां वचन-  
मतिक्रम्य अनालोच्य उपमाभ्रान्तिर्जायत इत्यन्वयः । तदुक्तं ।

मिद्धमेव समानार्थमुपमानं विधीयते । तिङन्तार्थस्तु साध्यत्वा-  
दुपमानं न जायत इति । अयमाशयः, प्रकृते हि उपमानोप-  
मेयतायामुपमेयस्य वर्णनीयत्वेन शब्दोपात्तत्वस्यावग्यक्तया अ-  
नुपात्तस्य प्रस्तुतस्यापि व्यापनस्योपमेयत्वाभावेनोपात्तस्य तमस  
एव तथात्वस्यावग्यक्तव्यत्वात् तस्य लिम्पतीति तिङन्तार्थ उप-  
मानमिति यद्वक्तव्यं तत्तिङन्तार्थस्य साध्यत्वेनोपमानत्वाभावस्य  
प्रामाणिकवचनप्रतिपन्नत्वादविचारविजृम्भितमिति ॥ २२७ ॥

उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।

लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोऽत्र समीक्ष्यते ॥ २२८ ॥

इत्युपमाभ्युपगमे वचनप्रमाणविरोधं प्रतिपाद्य युक्ति-  
विरोधमपि दर्शयति । उपमानोपमेयत्वमिति । तुल्यधर्म-  
व्यपेक्षया प्रस्तुताप्रस्तुतयोः समानगुणादिरूपधर्मसापेक्षतया  
उपमानोपमेयत्वं भवति अन्यथातिप्रसङ्गः स्यादिति, प्रकृते  
तदभावं दर्शयति । लिम्पतेरिति । लिम्पतेः लिम्पतीतिति-  
ङन्तार्थस्य, पदस्यापि नामत्वानुकरणात् षष्ठी । लिम्पतेर्लिप-  
धातोरित्यर्थस्तु न सम्यक् वर्णात्मकस्य धातोरन्वकारोपमान-  
त्वस्यान्वेनापि वक्तुमयोग्यत्वात् । कोऽत्र समीक्ष्यते इति न  
कोऽपीत्यर्थः । तस्मात् तमोलिम्पत्यर्थयोः साधारणधर्माभा-  
वात् कथमुपमेयोपमानभाव इति ॥ २२८ ॥

यदि लेपनमेवेष्टं लिम्पतिर्नाम कोऽपरः ।

सएव धर्मो धर्मी चेत्युन्मत्तोऽपि न भाषते ॥ २२९ ॥

ननु तमोलिम्पत्यर्थेऽर्लेपनमेव साधारणधर्मोऽस्तु तम-  
 मोऽप्यावरकतया गौणलेपनवत्त्वात् धर्मयोर्विम्बप्रतिविम्बतया च  
 साधारण्याभ्युपगमादित्याशङ्काह । यदिति । यदि लेपनमेव  
 इष्टं साधारणधर्मतयाभ्युपगतं तर्हि लिम्पतिर्लिम्पतिपदप्रति-  
 पाद्योऽपरो विशेष्यतामापन्नो धर्मभूतोऽर्थः कः न कोऽपीत्यर्थः,  
 वैयाकरणनये व्यापारस्यैव विशेष्यतया तिङन्तपदप्रतिपाद्य-  
 त्वात् । तदुक्तं 'फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः सृताः ।  
 फले प्रधानं व्यापारस्तिङ्गर्थस्तु विशेषणम्' इति । तथाच  
 बोधः, देवदत्ताद्याश्रयकलेष्यसंयोगफलकलेपनमिति । एव-  
 ञ्चात्र धर्म्यन्तराप्रतीतेर्लेपनस्यैव धर्मित्वं नतु धर्मत्वमिति ।  
 अत्रापि लिम्पतिरित्यनुकरणे प्रथमा । ननु प्रामाणिकप्रयोगे  
 ऽस्मिन्निवपदप्रतिपादिताया उपमाया निर्वाहणस्यावश्यक-  
 तया एकस्यैव लेपनव्यापारस्य धर्मित्वं धर्मित्वञ्चास्तु यथाऽ-  
 नन्वयोपमायामेकस्यापमानत्वमुपमेयत्वञ्चेत्यत्राह । स एव इति ।  
 स एव लिम्पतिरेव लिम्पतिपदप्रतिपाद्यलेपनव्यापार इत्यर्थः ।  
 उन्मत्तोऽपीति उन्मत्तैरप्येकस्मिन्नकस्य धर्मित्वं धर्मित्वञ्च ना-  
 च्यते, का कथा सहृदयानाम्, अनन्वयोपमायान्तु एकस्या-  
 पमानोपमेयत्वमनन्यमदृशत्वप्रतिपादनार्थं वैवर्तिकम् । इदन्तु  
 नितान्तनिर्बुद्धित्वविलम्बितम् । तस्मादत्र धर्माभावात् सर्व  
 दुरवस्था जागरूकंति भावः ॥ २२६ ॥

कर्त्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।

स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितम् ॥ २६० ॥



नन्वस्तु नाम धर्मिणमेव लेपनव्यापारस्य, कर्तुरप्याश्रय-  
तथा तिङा बोधितत्वात्तेनैवौपम्यनिर्व्वाहो जायतामित्यत्राह ।  
कर्त्तति । कर्त्ता तिङ्प्रतिपाद्यो व्यापाराश्रयः यदि उपमानं  
स्यात् तमम उपमानत्वेनाच्येत तर्हि तदपि न सम्यगिति शेषः ।  
यतोऽसौ कर्त्ता क्रियापदे लिप्यतीतिक्रियापदेन विशेष्यतया  
प्रतिपाद्ये लेपनव्यापारे न्यग्भूत उपमर्जनीभूतः तिङर्थस्तु  
विशेषणमित्युक्तः । लेपनव्यापारे विशेषणतयान्वितस्य कर्त्तुः  
कथमुपमानतया तममा महात्त्वयित्त्वमिति भावः । नन्वस्तु नाम  
कर्त्तुः स्वव्यापारे विशेषणतयान्वितत्वम् एकत्रान्वितस्याप्यन्य-  
त्रान्वितत्वस्य बहुषु दर्शनादित्याशङ्क्याह । स्वक्रियेति । स्वक्रिया  
स्वाश्रयकलेपनव्यापारस्तस्याः साधनं सिद्धिः विशेष्यतया बोध  
इत्यर्थः तत्र व्यग्राव्यापृतः प्रकारतामापन्न इति यावत्, तादृशः  
सन् अन्यत् पदार्थान्तरम् अपेक्षितुं स्वप्रकारकान्वयबोधे  
विशेष्यत्वेनाकाङ्क्षितुं पदार्थान्तरविशेष्यकबोधे पुनः प्रकारी  
भवितुमिति यावत् नालं न समर्थः । अयस्मावः एकत्रा-  
न्वितस्यान्यत्रान्वितत्वं युज्यतएव, परन्त्वेकत्र विशेषणतयान्वित-  
स्यान्यत्रापि विशेषणतयैवान्वयो न युज्यत इति, प्रकृते तु स्वव्या-  
पारे विशेषणतयान्वितस्य कर्त्तुरूपमानत्वाभ्युपगमे उपमेये  
तमस्यपि विशेषणत्वेनैवान्वितत्वमभ्युपेयमिति नैतद्युज्यतएव ।  
एतदेवाक्तं दीधितिकृता 'इतरविशेषणत्वेनोपस्थितस्यान्यत्र-  
विशेषणत्वेनान्वयायोगात्' इति । तस्मान्नात्र कर्त्तुरप्युपमानत्व-  
मिति भावः ॥ २१० ॥

यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः ।

अज्ञानीति न सखद्वं सोऽपि मृग्यः समो गुणः ॥ २३१ ॥

ननु, साभङ्गापारविशेषकान्वयबोधवादिवैयाकरणनये कर्त्तरूपसर्जनतयोपमानत्वं प्रथमान्तमुख्यविशेषकान्वयबोधवा-  
दितार्किकनये तु स्यादेतेत्यागङ्गाह । य इति । यो लिम्पत्य-  
मुना तुल्यमिति । अत्र यद्दःपदयोः प्रयोग उपमानोप-  
मंयभावस्युटीकरणाय, वस्तुतस्तु लेपनकर्त्तव तम इत्येव बोधः,  
अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः प्रकृतप्रयोगेच यद्दसोरनुपादानात्  
उपात्तशब्दार्थानामेव शाब्दबोधविषयत्वनियमात् । इत्यपि  
शंसत इति अत्र, मते इत्यध्याहार्यम्, इति शंसते वदते  
मतेऽपीत्यर्थः, अज्ञानीति न सखद्वमिति अज्ञानीति कर्मपदं  
न सखद्वम् उपमेयतमःकर्त्तकतदन्वयोपयोगिक्रियान्तराभा-  
वादुपमेयांशेऽन्वितं न भवति । नन्वङ्गकर्मकलेपनकर्त्तव तम  
इत्येव बोधोऽस्तु किमज्ञानीत्यस्योपमेयतमस्यनन्वितत्वाच्चिन्त-  
नेनेत्यत्राह, सोऽपि मृग्यः समोगुण इति सोऽपि कर्मताप-  
न्नाङ्गरूपो गुणो धर्मोऽपि समः साधारणत्वेन मृग्योऽन्वेष्टव्यः  
अवश्यं वक्तव्य इत्यर्थः, अन्यथा साधारणधर्माप्रयोगेण साध-  
र्म्याप्रतीतेः कथमुपमानोपमेयभाव इति भावः । तमोगुण  
इति पाठे तमोगुणस्तमोधर्मत्वेन मृग्यः इत्यन्वयः । नचाङ्ग-  
कर्मकलेपनमेव दयोः साधारणधर्मोऽस्तु तस्य चापमानांशे  
मुख्यत्वमुपमेयांशे तु गौणत्वं विम्बानुविम्बतयापि धर्मस्य सा-

धारणाभ्युपगमादिति वाच्यं, तादृशलेपनस्योपमानकर्तृपम-  
र्जनत्वेनोपमेयतमस्यन्वयायोगात् । अपिच साधारणा हि गुण-  
क्रियादयो धर्माः प्रथममुपमेयगतत्वेनैवान्वयबोधविषयता-  
मापद्यन्ते पर्यालोचनया तूपमानगतत्वेन प्रतीयन्त इति तेषां  
साधारण्यं, प्रकृते तूपमानगतत्वेन लेपनस्यान्वयबोध इत्युप-  
मानतावच्छेदकतयोपमानशरीरत्वमेव नतूपमानोपमेययोः  
साधारणधर्मत्वमिति विवेचनीयम् ॥ २३१ ॥

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते ।

न तथा लिम्पतौ लेपादन्यद्त्र प्रतीयते ॥ २३२ ॥

ननु माभृदत्र लेपनस्य साधारणधर्मत्वं धर्माप्रयोगासु-  
प्तोपमेयेयमस्त्वित्यत्राह । यथेन्दुरिवेति । इति अत्र । कान्तिः  
साधारणधर्मभूतं सौन्दर्यं यथा प्रतीयते वाचकाप्रयोगेऽपि  
सुन्दरत्वेन प्रसिद्धस्येन्दोरुपमानत्वाद्गम्यते, तथा, लिम्पतौ  
लिम्पतिपदघटितप्रयोगे लेपनकर्तृव्युपमाने सतीति वा,  
लिम्पतेरिति पाठे तु लिम्पतीत्युपमानपदप्रयोगादित्यर्थः ।  
लेपनादन्यत् उपमितिप्रयोजकसाधारणधर्मान्तरं न प्रतीयते,  
उपमानतावच्छेदकतया ज्ञायमानलेपनस्य तु उपमानमात्रा-  
न्वितत्वान्न साधारणधर्मत्वमिति पूर्वमेवाकम् । अयम्भावः  
साधारणधर्माप्रयोगेऽप्युपमितिर्भ्युपगम्यतएव, परन्तु तत्रो-  
पमेयोपमानयोः स्फुटसादृश्यत्वमपेक्षणीयं यथेन्दुरिव ते वक्त्र-  
मित्यादौ, प्रकृते तु तमोलेपनकर्त्रेण तथात्वमिति साधारण-  
धर्माभावान्नोपमासम्भव इति ॥ २३२ ॥

तदुपश्लेषणार्थोऽयं लिम्पतिध्वान्तकर्तृकः ।

अङ्गकर्मा च पंसैवमुत्प्रेक्ष्यत इतीष्यताम् ॥ २३३ ॥

इत्थं विपक्षमते दोषदानमुपसंहरन् स्वमतं द्रढयति ।  
तदुपेति । तत्तस्मादेवमुपमाभ्युपगमस्य सदोषत्वादित्यर्थः, अ-  
ङ्गकर्मा तथा ध्वान्तकर्तृको लिम्पतिर्लिम्पतिपदप्रतिपाद्या  
लेपनक्रिया पुंसा कविनिवद्धेन वक्त्रा उत्प्रेक्ष्यते सम्भाव्यते इति  
इष्यतामकामेनाप्यङ्गोक्रियतामित्यन्वयः, ननु विषयाभावे  
विषयिभृतायास्तथाविधविशिष्टलेपनक्रियायाः कथमुत्प्रेक्षणी-  
यत्वं मंगयविशेषरूपाया उत्प्रेक्षायाः कोटिदयविषयकत्वनि-  
यमादिति विषयं दर्शयन् विषयिभृतं लिम्पतिं विशिष्टं  
उपश्लेषणार्थं इति उपश्लेषणं तमःकर्तृकव्यापनम् अर्थः स्ववि-  
षयिकोत्प्रेक्षाया विषयो यस्य सः । अयमर्थः, प्रसृताऽर्थ-  
स्त्वावद्विषयः तत्र सम्भाव्यमानोऽध्वसोयमानो वाऽप्रसृतेऽर्थो  
विषयो, प्रकृते तमःकर्तृकोऽङ्गव्यापनमुत्प्रेक्षायाविषयः तादृश-  
लेपनं विषयीति ततश्चात्र प्रसृतं तमोव्यापनं तादृशलेपन-  
त्वेनोत्प्रेक्ष्यते न तूपमानेन तेनापमीयते इति । उत्प्रेक्ष्यत  
इत्यत्र क्वचिदुत्प्रेक्षितुमिति क्वचिदोत्प्रेक्षितमिति पाठद्वयं न  
सम्यक् ॥ २३३ ॥

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।

उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ २३४ ॥

॥ इत्युत्प्रेक्षाचक्रम् ॥

ननु माभृदत्रोपमा, इवप्रयोगे कथमत्रेवापीत्यत्राह । मन्ये इति । व्यज्यते द्योत्यते । तादृश उत्रेवाद्योतकः । द्योतका-  
प्रयोगे तु अन्वयबोधानुपपत्त्या सम्भावनात्याने प्रतीयमानो-  
त्रेचेति पूर्वमुक्तम् ॥ २३४ ॥

हेतुश्च सूक्ष्मनेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।

कारकज्ञापकौ हेतु तौ चानेकविधौ यथा ॥ २३५ ॥

हेतुः सूक्ष्मालवः क्रम इत्यनेनादिष्टानां हेतुसूक्ष्मलवा-  
नामलङ्कारत्वं भामहप्रभृतयो नेच्छन्ति यथा 'हेतुश्च सूक्ष्म-  
लेशौ च नालङ्कारतया मताः । समुदायाभिधेयस्य वक्रोक्त्यन-  
भिधानतः' इति । तेषामयमभिप्रायः निर्हेतुताया दोषत्वा-  
भिधानाद्धेतुहेतुमद्भावोऽन्वयोपयोगितया सुतरामपेक्षणीय  
इति नास्यालङ्कारत्वम् । एवमिङ्गिताकाराभ्यामभिप्रेतार्थ-  
प्रत्यायने वाच्यस्य कश्चमत्कार इति सूक्ष्मस्यापि नालङ्कारत्वं ।  
तथा स्वयमेव प्रकाशितस्य पुनर्निगूहनेऽपङ्कतिरेव किं पृथग्-  
लेशस्यालङ्कारत्वमिति, इदमनुभवमिद्धवैचित्र्यविशेषानवबो-  
धनिबन्धनं प्राचीननिबन्धविरुद्धञ्चेति मतमेतत् कटाक्षयन्  
त्रयाणामेकत्र निर्देशपूर्वकं वैचित्र्यविशेषात्मकत्वादलङ्कारोत्त-  
मत्वमाह । हेतुश्चेति । लेशो लवसंज्ञयोद्देशवाक्ये उक्तः ।  
उत्तमभूषणं नतु भूषणमात्रम् । उत्तमेति विपचाणामस-  
हृदयत्वप्रतिपादनाय । यद्योत्तमालङ्कारत्वं तस्यालङ्कारत्वं  
सिद्धमेवेति भावः । तत्र प्रथममुद्देशक्रमप्राप्त्यान्निरूपणीयस्य

हेत्वलङ्कारस्यातिप्रसिद्धत्वात्तत्रणमनभिधाय भेदान् दर्शयति । कारकज्ञापकाविति । लक्षणन्तूक्तमाग्नेये । 'मिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः । कारको ज्ञापक इति द्विधाऽप्युपजायते । प्रवर्तते कारकाख्यः प्राक् पश्चात् कार्यजन्मतः । पूर्वः शेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेष्यता । कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमादविनाभावदर्शनात् । ज्ञापकस्य च भेदोक्तिर्विद्या पूर्वोक्तिदर्शनात्' इति । एवञ्च मिषाधयिषितार्थसाधकोहेतुरिति लक्षणं, मिषाधयिषितोऽर्थस्य क्रियादिरूपं वस्तु ज्ञानञ्चेति द्विविधः । तत्र पूर्वस्य साधकः कारकः, द्वितीयस्य ज्ञापक इति, कारकज्ञापकयोर्लक्षणमुक्तं भोजराजेन । 'यः प्रवृत्तिं निवृत्तिञ्च प्रयुक्तिञ्चान्तराविशन् । उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारकं तं पचते । द्वितीयाच तृतीयाच चतुर्थी मत्तमीच यम् । क्रियानाविष्टमाचष्टे लक्षणं ज्ञापकस्य सः' इति । अनयोरपि प्रभेदा बहव उदाहरणेषु ज्ञातव्या इत्याह तौ चानेकविधाविति । अनेनैव हेत्वलङ्कारेणान्यैरुक्तस्य काव्यलिङ्गस्य, कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासस्यानुमानस्य च संयुक्त इति न ते पृथग् दर्शयिष्यन्ते । विश्वनाथस्तु हेतुहेतुमतोरभिन्नतयोपन्यासो हेतुरित्याह । यथा 'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति, अथञ्च हेतुः स्वमतेऽतिशयोक्तिरेव ॥ २३५ ॥

अयमान्दोलितप्रौढचन्दनद्रुमपल्लवः ।

उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥ २३६ ॥

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपवृंहणम् ।

अलङ्कारतयोद्दिष्टं, निवृत्तावपि तत्समम् ॥ २३७ ॥

तत्र कारकहेतुमुदाहरति, अयमिति । आन्दोलिता मन्दमन्दं चालिताः प्रौढाः वसन्तर्त्ताः परिणामेन बद्धलीभृताः अप्रौढेति पाठे वसन्तप्रारम्भेणाङ्कुरप्राया इत्यर्थः, चन्दन-द्रुमाणां पल्लवा येन सः । अनेन मलयमारुतस्य मान्द्यं मौ-गन्ध्यं शैत्यञ्च प्रतिपादितम् । अत्र मलयमारुतः प्रीत्युत्पा-दनक्रियायाः कारकः तस्य चान्दोलितेत्यादिविलक्षणवि-शेषणविशिष्टतया निर्देशाच्चमत्कारातिशयः सहृदयहृदया-नुभवसिद्ध इत्यलङ्कारता अन्यथा न तथात्वमिति यथा गौ-श्वरति मृगो धावतीत्यादौ । विपचाणान्वत्र स्फुटमपि प्रती-यमानं वैचित्र्यमपश्यतां गजनिमीलिकैवेत्येतदेवाह । प्रीत्युत्पा-दनेति । रूपस्य कर्तुस्तथाविधतिशिष्टस्वरूपस्य उपवृंहणं वैचित्र्यजनकतयोपन्यासः । अलङ्कारतयोद्दिष्टमिति वैचित्र्यस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वादिति भावः । इदञ्चात्पादनक्रियायाः प्रवृत्तावुदाहृतं निवृत्ताप्येवमुदाहर्त्तव्यमित्याह । निवृत्ताव-पीति । तत्समं क्रियाप्रवृत्तिसमानं । यथा 'मुग्धे तव मुखा-भोदलोलुपो मधुपो भ्रमन् । कर्णिकाकमलं फुल्लमपि नाभि-सरत्ययम् । अत्राभिसरणक्रियाया निवृत्तिः । एवं प्रयुक्तावु-दासीनतायाश्च बोध्यम् ॥ २३६ ॥ २३७ ॥

चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिज्झरान् ।  
 पथिकानामभावाय पवनेऽयमुपस्थितः ॥ २३८ ॥  
 अभावसाधनायालमेवम्भूतो हि मारुतः ।  
 विरहज्वरसम्भूतमदनाग्न्यातुरे जने ॥ २३९ ॥

पूर्वादाहरणे प्रीत्युत्पादनक्रियायाः साधकस्य हेतुत्वं दर्शितं,  
 तत्किं सर्वत्र क्रियाया एव साधको हेतुरिति शङ्कां निर-  
 ख्यन्नुदाहरणान्तरं दर्शयति । चन्दनेति । चन्दनारण्यमाधूय  
 ईषत्कम्पयित्वा, एतेन सौगन्ध्यं मान्द्यञ्च प्रतिपादितं । स्पृष्ट्वा  
 मलयनिज्झरानित्यनेन च शैत्यम् । अभावाय ध्वंसाय ॥२३८॥

अभावेति । एवम्भूतः सौगन्ध्यादिगुणयुक्तः, तेषामेवोद्दी-  
 पकतया पथिकाभावं प्रति कारणतावच्छेदकत्वात् । हि यतः  
 विरहज्वरे सम्भूतः प्रादुर्भवन् यो मदन एवाग्निस्तेनातुरे रुग्णे  
 जने, न तत्र करुणा हेतुरित्यादिवदत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी तस्याः  
 प्रतियोगित्वमर्थः तस्य चाभावित्यनेनान्वयः । अभावसाधना-  
 यालमिति अलं योग्यः, उपस्थितिद्वारेति शेषः । ततश्चाभाव-  
 स्यापि साधको हेतुर्भवतीति भावाभावसाधकतया हेतोर्द्वै-  
 विध्यं बोध्यम्, एतेन क्रियायाः साधको हेतुरिति यद् भो-  
 जराजेन क्रियाया एव साध्यत्वमुक्तं तन्नादरणीयम् अभावा-  
 देरपि साध्यत्वसम्भवात् अतएवाग्नेये 'सिषाधयिषितार्थस्य हेतु-  
 र्भवति साधकः' इत्यनेन सिषाधयिषितार्थत्वेन सामान्यतः  
 पदार्थमात्रस्यापि साध्यमानत्वं दर्शितमिति केचित् । वस्तु-



तस्तु अभावाद्योपस्थित इति निमित्ततयाऽभावविशिष्टाया उपस्थितिक्रियाया एव साध्यत्वम् अभावसाधनायेत्यभावस्य साध्यत्वोक्तिस्तु साध्यतावच्छेदकतया परम्परया, यत्र तु क्रियापदं नास्ति तत्र तदध्याहर्त्तव्यमेव क्रियारहितस्य वाक्यत्वाभावात् उक्तञ्च 'यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः' इति । एवञ्च सर्वत्र कर्मपून्वे प्राप्यकर्मणिच क्रियाया एव क्वचित् केवलायाः क्वचिद्विशिष्टायाः साध्यत्वं ज्ञेयम् ॥ २३८ ॥

निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया ।

प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता ॥ २४० ॥

एवमुदाहरणद्वये क्रियापेक्षैव हेतुत्वं दर्शितं क्वचित्तु कर्मापेक्षयापि भवतीत्याह । निर्वर्त्ये चेति । निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मणोति शेषः । तत्र निर्वर्त्ये पूर्वमसदेव कर्त्तुः क्रियया-त्याद्यमानं, सदेव वाऽलक्षितं प्रकाशमानमिति द्विविधं, यथा कटं करोति पुत्रं प्रसूते इति । विकार्यं कर्त्तुः क्रियया सदेव पूर्वरूपस्योच्छेदेनानुच्छेदेन वा अवस्थान्तरमापाद्यमानमिति द्विविधं, यथा काष्ठं दहति कुण्डलं करोतीति । यदुक्तं 'यदसञ्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाशते । तन्निर्वर्त्यं, विकार्यञ्च कर्म देधा व्यवस्थितम् । प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित्काष्ठादि भस्मवत् । किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या स्रवर्षादिविकारवत्' इति । तदपेक्षया निर्वर्त्यविकार्यापेक्षया तयोरेव तत्र कार्यत्वात्,

निवृत्तिविकारापेक्षयेति केचित् । अत्र तदपेक्षयैवेति न नियमः क्रियाया अपि जन्यत्वेन हेतुतानिरूपकत्वात् । प्राप्येत्विति कर्तुः क्रियाया व्याप्तिमात्रं यत्र प्रतीयते न निष्पत्तिर्न च विवृतिस्तत् प्राप्यं । यदुक्तं 'क्रियाकृता विशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते' इति । क्रियापेक्षैवेति क्रियाया अपेक्षा यत्र सा, क्रियापेक्ष्यैवेति सयकारपाठे क्रिया अपेक्ष्या निरूपकतया अपेक्षणीया यत्रेति विग्रहः, प्राप्यकर्मणो जन्यत्वाभावेन निरूपकत्वामावात् क्रियामात्रनिरूपितेत्यर्थः । जुमरनन्दिप्रभृतयस्तु अनोष्णतमपि कर्मभेदमिच्छन्ति यथा पापं त्यजतीति तत्रापि क्रियापेक्षितमेव हेतुत्वं, अथञ्च निवृत्तिविषयः ॥ २४० ॥

हेतुर्निर्वर्त्तनीयस्य दर्शितः, शेषयोर्द्वयोः ।

दत्त्वादाहरणद्वन्द्वं ज्ञापको वर्णयिष्यते ॥ २४१ ॥

हेतुरिति । दर्शित इति अयमान्दोलितेत्याद्युदाहरणे इत्यर्थः, तत्र प्रीतिरूपस्य कर्मणो निर्वर्त्तनीयत्वात् । शेषयोर्द्वयोर्विकार्यप्राप्ययोः । अत्र हेतुरित्यनुषङ्गः । उदाहरणद्वन्द्वं दत्त्वा उपन्यस्य हेतुदर्शयिष्यत इति शेषः, अनन्तरञ्च ज्ञापको हेतुर्वर्णयिष्यते इत्यन्वयः । यदा शेषयोर्द्वयोः शेषकर्मद्वयघटितवाक्यार्थद्वयगतहेत्वोरित्यर्थः । प्रतिज्ञा चैषा शिष्याणां तात्कालिकोत्कण्ठानिवारणायेति बोध्यम् ॥ २४१ ॥

उत्प्रवालान्यरण्यानि वाप्यः संफुल्लपङ्कजाः ।

चन्द्रः पूर्णश्च कामेन पान्यदृष्टेर्विषं कृतम् ॥ २४२ ॥

तत्र विकार्यकर्महेतुमुदाहरति । उत्प्रवालानीति । अत्र प्रकृतिभृतमुत्प्रवालारण्यादित्यतः पान्यानां दृष्टेश्चक्षुषो दा-  
हकत्वादिषं कृतं विषीभावरूपविकारं नीतमित्यारोपितः  
प्रकृतिविकृतिभावस्तत एव चमत्कारातिशयः तात्त्विके तु तस्मिं-  
स्तदभावात्, यथा सुवर्णं कुण्डलं करोतीति ॥ २४२ ॥

मानयोग्यां करोमिति प्रियस्थानस्थितां सखीम् ।

बाला भ्रूभङ्गजिह्वाली पश्यति स्फुरिताधरा ॥ २४३ ॥

प्राप्यकर्महेतुमुदाहरति । मानयोग्यामिति । मानयोग्यां  
मानाभ्यासम् । 'अभ्यासः खुरली योग्येत्यमरमाला' प्रियस्थान-  
स्थितां प्रियत्वेनारोपितां करोमीत्यभिप्रेत्येति शेषः । बाला  
अप्रगल्भा तस्या एव मानशिक्षासम्भवात् । अत्र सखीमिति  
प्राप्यं कर्म तद्विषयकदर्शनक्रियापेक्षयैव बालाया हेतुत्वं तच्च  
तथाविधाभिप्रायसहकृतभ्रूभङ्गेत्यादिकाल्पनिकविशेषणपुरस्कृतं  
सच्चमत्कारविशेषं पुष्पाति ॥ २४३ ॥

गतोऽस्तमर्काभातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥ २४४ ॥

अथ ज्ञापकहेतुमुदाहरति । गत इति । वासाय वास-  
वृक्षाय, गत्यर्थयोगे कर्मणि चतुर्थी, इतीदमपि अस्तमिता-

कादिकमपि कालस्यावस्था विशेषः प्रकृते सायंसन्ध्येत्यर्थः तस्या निवेदने साध्वेव पर्याप्तमेव, अत्रास्लमितार्कादयो ज्ञापकाः सायंसन्ध्या च ज्ञाप्या, ज्ञाप्यस्य च क्वचित् प्रतीयमानत्वं क्वचिच्च शब्देनोपादानमिति द्वयो गतिः, अत्र तु प्रतीयमानत्वम्, अतएव साध्वेवेत्येवकारेणानुपात्तस्य ज्ञाप्यस्य कथं ज्ञापको भवतीति शङ्का निरस्ता । सम्प्रति सन्ध्या वर्त्तते इत्युक्तौ वैचित्र्याप्रतीतेर्निरुक्तज्ञापकमुखेन सन्ध्याप्रतिपादने च तत्प्रतीते रस्यालङ्कारता ॥ २४४ ॥

अबधैरिन्दुपादानामसाध्वैश्चन्दनाम्भसाम् ।

देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः ॥ २४५ ॥

ज्ञाप्योपादाने ज्ञापकमुदाहरति । अबधैरिति । अबधैरविनाशैः, असाध्वैरप्रतिकार्यैः, देहोष्मभिर्देहतापैः । सुबोधं सुखेनानुमेयं । कामातुरं विरहव्याकुलम् । अत्र मनसः कामातुरत्वं ज्ञाप्यमुपात्तं तस्य देहतापा ज्ञापकाः, तेषाम् विशेषणद्वयेनातपलङ्घनादिजन्यत्वव्यावर्त्तनेन विरहासाध्वैश्च- प्रतिपादनभङ्गा वैचित्र्यातिशयः ॥ २४५ ॥

इति लक्ष्याः प्रयोगेषु रम्या ज्ञापकहेतवः ।

अभावहेतवः केचिद्ग्राह्यन्ते मनोहराः ॥ २४६ ॥

इतीति । इत्येवंरूपा रम्याश्चमत्कारजनकाः प्रयोगेषु प्राचां प्रबन्धेषु ज्ञापकरूपा हेतवो लक्ष्याः स्वयं ज्ञातव्याः । एवं कारका ज्ञापकाश्च भावरूपा एव हेतवोदर्शिताः, अनन्तरं

केचिदभावहेतवः अभावरूपाहेतवो व्याह्रियन्ते उच्यन्त इत्य-  
न्वयः ॥ २४६ ॥

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम् ।

अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम् ॥ २४७ ॥

अभावाश्च प्रागभावप्रध्वंसान्यान्यान्याभावात्यन्ताभावभे-  
देन चतुर्विधाः, क्रमेण तेषां हेतुत्वमुदाहरति । अनभ्यासे-  
नेति । धीमतां ज्ञानिनाम् । अक्षाणामिन्द्रियाणाम् । अनि-  
ग्रहेणामंयमेन । व्यसनं स्त्रीपानमृगयाद्यासक्तिः । अत्र याव-  
द्विद्यानामभ्यासे धीमद्भिश्च संसर्गाऽक्षाणाञ्च निग्रहो न क्रियते  
तावद्वासनं जायत इति विद्याभ्यासादीनां प्रागभावा एव व्यसनं  
प्रति हेतवः ॥ २४७ ॥

गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः ।

गतो मोहश्च्युता तृष्णा, कृतं पुण्याश्रमे मनः ॥ २४८ ॥

गत इति । पुण्याश्रमे पुण्याश्रमगमने प्रव्रज्यायामित्यर्थः ।  
अत्र पूर्वमुत्पन्नानां कामकथोन्मादादीनां प्रध्वंसाः पुण्याश्रमे-  
मनोनिधानं प्रति हेतवः ॥ २४८ ॥

वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न येषितः ।

गृहा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम् ॥ २४९ ॥

वनान्यमूनीति । गृहाश्रमाद्विरज्य वनं गतस्यानन्दोक्तिरि-  
त्यम् । अमूनि वनानि यद्येष्टेष्टाश्रमादिशून्यान्यपि न गृहाणि

दुःखातिशयदाहृद्यभिसृजानि तस्ये मानसं नन्दतीत्यस्यः, एव-  
मप्येऽपि, अत्र वनादिषु गृहादीनां भेदा वनं गतस्य मानस-  
न्दने हेतवः । हेतुत्वश्चेदं न स्वरूपसत्त्वेन किन्तु ज्ञायमानत-  
येति बोध्यम् । अत्र सादृश्यातिशयहेतुकाभेदप्रतीतिपूर्वक-  
भेदप्रतिपादनस्यैव चमत्कारजनकत्वाद्द्वनगृहादीनां सादृश्य-  
मस्यैव परन्तु तदविवरणान्नात्र निर्हयोपमा ॥ २४८ ॥

अत्यन्तमसदार्याणामनालोचितचेष्टितम् ।

अतस्तेषां विवर्द्धन्ते सततं सर्व्वसम्पदः ॥ २५० ॥

अत्यन्तमिति । अनालोचितचेष्टितमविमृश्यकारित्वम्, अत्य-  
न्तमसदविद्यमानं अनालोचितचेष्टितं नास्तीत्यर्थः । अतस्तेषा-  
मिति, अत्रानालोचितचेष्टितस्यात्यन्ताभावः सम्पदिवृद्धौ हेतुः ॥  
॥ २५० ॥

उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी ।

देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाञ्जलिः ॥ २५१ ॥

पूर्व्वोदाहरणत्रये भावप्रतियोगिकानामेवाभावानां हेतुत्वं  
दर्शितं संप्रत्यभावप्रतियोगिकस्याप्यभावस्य हेतुत्वं दर्शयन्नु-  
दाहरति । उद्यानेति । मञ्जरी अनुद्भिन्ना न भवति उद्भिन्नैव  
भवतीत्यर्थः अतस्तस्या उद्दीपकत्वात् पथिकनारीणां सतिलः  
सलिलाञ्जलिर्देयः मरणमुपस्थितमित्यर्थः मृतानामेव तर्पणा-  
ञ्जलिदानविधानात्, अत्र सहकारमञ्जर्युद्भेदाभावस्याभावो  
विरहिणीमरणहेतुत्वेन वर्णितः, अथ च प्रागभावाभावः, वस्तुन

उत्पादो हि प्रागभावाभाव उच्यते तेन तद्रूपस्य सहकारम-  
ञ्जरीणामुद्भेदस्य पथिकनारीणां मरणे कारणत्वं । प्रध्वंसाभावे  
यथा, 'पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनं पा-  
याद्दः परिरञ्जमधिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः' । स्वावा-  
सानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलदृशे यस्मै सोऽच्युतनाभि-  
पद्मवसतिर्वेधाः शिवं शंसति । अत्र नारायणनाभिपद्मरूपा-  
वामस्थानस्योपघाताभावो ब्रह्ममनोनिर्वृतिं प्रति हेतुः, सहजं  
वस्तुनोऽवस्थानमेव प्रध्वंसस्याभाव उच्यते । अत्यन्ताभावा-  
भावो यथा, अत्यन्तमसदार्याणामित्यादौ, अत्रालोचनचेष्टि-  
तस्यात्यन्ताभावाभावः मम्यद्विट्टद्वौ हेतुः । एवमन्योन्याभावा-  
भावोऽपि बोध्यः । अत्राभावाभावानां प्रतियोग्यादिस्वरूपत्वा-  
नभ्युपगमान्न भावहेतुत्वं बोध्यम् ॥ २५१ ॥

प्रागभावादिरूपस्य हेतुत्वमिह वस्तुनः ।

भावाभावस्वरूपस्य कार्यस्थोत्पादनं प्रति ॥ २५२ ॥

एवमभावस्य भावमभावञ्च प्रति हेतुत्वेन भेदान्तरं भव-  
तीति प्रतिपादयन्नभावहेतुमुपसंहरति । प्रागभावादीति ।  
भावाभावस्वरूपस्य भावस्वरूपस्याभावस्वरूपस्य चेत्यर्थः, तत्र  
पूर्वश्लोकेषु भावान् प्रति हेतुत्वम्, अभावं प्रति हेतुत्वन्तूह्यम्,  
यदा उद्यानेत्याद्युदाहरणे तथात्वं ज्ञेयं कार्यभूतस्य व्यज्यमान-  
मरणस्य प्राणवायोर्देहसंयोगनाशरूपत्वात् । एवमुक्तौदाहरणेषु  
भावानां कारकहेतुत्वं दर्शितं ज्ञापकहेतुत्वन्तु स्वयमूहनीयम् ॥

॥ २५२ ॥

दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यान्तरजस्तथा ।  
 अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसङ्घाश्चित्रहेतवः ॥ २५३ ॥  
 तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः ।  
 अत्यन्तसुन्दरादृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥ २५४ ॥

एवं हेतोः कारकत्वज्ञापकत्वाभ्यामभावरूपत्वेन च त्रैवि-  
 ध्यमुक्तं, सम्प्रति चित्रसंज्ञकं भेदान्तरमाह । दूरकार्यं इति ।  
 दूरं देशतः कालतश्च दूरवर्त्ति कार्यं यस्य सः । तत्सहजः का-  
 र्येण सहैव जातः । कार्यान्तरजः कार्ये जाते पश्चाज्जातः ।  
 तथा अयुक्तमनुचितं युक्तमुचितञ्च कार्यं यद्येसौ, अयुक्तका-  
 र्यौयुक्तकार्यश्चेत्यर्थः । असङ्घा बहुविधाः । चित्रहेतव इति  
 चित्रसंज्ञका हेतव इत्यर्थः, दूरकार्यत्वादिनाश्चर्यविषयत्वाद्भव-  
 र्यता, तदुक्तं भोजराजेन । 'क्रियायाः कारणं हेतुः कारको  
 ज्ञापकस्तथा । अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते' इति ॥  
 ॥ २५३ ॥

तेऽमी इति । गौणवृत्तिर्गौणी लक्षणा साच सारोपात्मिका  
 साध्यवसानार्थां प्रस्तुतानुपादानात्, सैव व्यपाश्रयः स्वविषय-  
 काप्रस्तुताभेदप्रतीतिजनिका येषां ते अत्र गौणवृत्तिव्यपाश्र-  
 यत्वं क्वचित् कार्यस्यापि भवति यथा पश्चात् पर्यस्येत्यादि  
 वक्ष्यमाणोदाहरणे रागसागर इत्यत्र, अत्र हेतोस्तथात्वञ्च  
 परम्परयेति बोध्यम् । क्वचिदुभयोरपि यथा राज्ञां हस्तार-  
 विन्दानीत्यादौ । तस्मात् गौणवृत्तिव्यपाश्रयादिति पञ्चम्यन्त-



पाठः सम्यक् । एतच्चोपलक्षणं रूप्यरूपकभावाभावेऽप्यथवसाय-  
मात्रविषयत्वे हेतूनामत्यन्तचमत्कारजनकत्वं बोध्यं यथा, आ-  
विर्भवति नारीणामित्यादिवक्ष्यमाणोदाहरणे । अत्यन्तसु-  
न्दरा दृष्टा इत्युदाहरणदर्शनायां हेतुः ॥ २५४ ॥

त्वदपाङ्गाङ्गयं जैत्रमनङ्गास्त्रं यदङ्गने ।

मुक्तं तदन्यतस्तेन सोऽप्यहं मनसि क्षतः ॥ २५५ ॥

क्रमेण दूरकार्यादीनुदाहरति । त्वदपाङ्गाङ्गयमिति । हे  
अङ्गने प्रशस्ताङ्गवति त्वदपाङ्गाङ्गयं त्वदपाङ्गरूपं तेनात्र सारोपा  
गौणी, अन्यतः पुरुषान्तरे, तेन त्वदपाङ्गरूपेणानङ्गास्त्रेण । स  
लक्ष्यभूतः पुरुषः, अपिभिन्नक्रमे अलक्ष्यभूतोऽहमपीत्यर्थः । अ-  
त्रास्त्ररूपकारणस्य लक्ष्यबेधरूपकार्यमेव निकटवर्त्ति, अलक्ष्य-  
भेदरूपन्तु दूरवर्त्त्येवेति कार्यस्यात्र देशतोदूरस्यता । कालतो  
यथा, 'अनश्रुवानेन युगोपमानमलम्बमौर्ब्धकिणलाञ्छनेन ।  
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रचावती तस्य भुजेन भूमिः' । अत्र  
बाह्य एव यौवनकार्यभूमिरक्षाकरणाद्धेतोर्दूरकार्यता ॥ २५५ ॥

आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम् ।

सहैव विविधैः पुंसामङ्गजोन्माद्विभ्रमैः ॥ २५६ ॥

आविर्भवतीति । पर्यस्तं निराकृतं शैशवं येन तद्वयो यौ-  
वनमित्यर्थः । अङ्गजोमनसिजः, अङ्गं मनस्युपाये च प्रतीके चा-  
प्रधानके । अङ्गादेशविशेषे स्यादङ्ग सम्बोधनेऽव्ययमित्युक्तेः । तेन  
कृत उन्मादो मनोविकारविशेषस्तत्कृतैर्विभ्रमैर्विस्मयैः, सहैवा-

विर्भवतीति अत्र नारीणां यौवनरूपं कारणं कार्यभृतैः  
पुंसां विभ्रमैः सहैव जायत इति कारणस्यागुकार्यकारिता  
प्रतिपादनाय कार्यप्राक्क्षणवर्त्तितापङ्गवैवक्षिकः एवञ्चात्र  
विभ्रमाणां पश्चादुत्पद्यमानत्वं प्रागुत्पद्यमानत्वेनाध्यवसितमि-  
त्यध्यवसायव्यपाश्रयोऽत्र हेतुश्चमत्कारातिशयजनको नतु गौ-  
णीव्यपाश्रय इति बोध्यम् ॥ २५६ ॥

पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्षं चन्द्रमण्डलम् ।

प्रागेव हरिणालीणामुदीर्षारागसागरः ॥ २५७ ॥

पश्चादिति । किरणान् पर्यस्योत्क्षिप्य उत्क्षिपदित्यर्थः ।  
पश्चादुदीर्णमुदितमित्यन्वयः । प्रागेव चन्द्रमण्डलोदयात् पूर्व-  
मेव, उदीर्ण उच्छलितः, समृद्ध इति क्वचित्पाठः, रागः  
कामाभिलाष एव सागरः । अतएवात्र कार्यस्यैव गौणवृत्ति-  
व्यपाश्रयत्वं, वस्तुतस्त्वत्र चन्द्रमण्डलोदयरूपकारणस्य क्षिप्र-  
कार्यकारिताप्रतिपिपादयिषया रागमागरेच्छन्नरूपकार्यस्य  
पश्चाद्भाविता पूर्वभाविनेनाध्यवसिता, तेनात्राध्यवसायमूल  
एव चमत्कारातिशयः ॥ २५७ ॥

राज्ञां हस्तारविन्दानि कुक्षलीकुरुते कुतः ।

देव त्वच्चरणद्वन्द्वरविवान्नातपः स्पृशन् ॥ २५८ ॥

राज्ञामिति । त्वच्चरणद्वन्द्वमेव रवेर्बालातपः । रवीत्यत्र  
रागेति बङ्गु पाठः तत्र त्वच्चरणद्वन्द्वस्य रागो लौहित्यं स एव  
बालातप उद्यदादित्यरश्मिरित्यर्थः, राज्ञां हस्ता हस्तद्वन्दा-

न्येवारविन्दानि तानि कुङ्गलीकुरुते मुद्रितानि करोति, अत्र प्रणामार्थं हस्तयोः पुटीभावे कुङ्गलीभावाध्यासस्तत एव चमत्कारातिशयः । अत्र बालातपरूपहेतोररविन्दकुङ्गलीभावरूपकार्यमयुक्तम् ॥ २५८ ॥

पाणिपद्मानि भूपानां सङ्कोचयितुमीशते ।

त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मलाः ॥ २५९ ॥

पाणिपद्मानोति । कुन्दनिर्मलाः कुन्दकुसुमवद्भवलाः, विशेषणमिदं नखानां चन्द्रत्वारोपे हेतुः । अत्र चन्द्रकिरणरूपहेतोः पद्मसङ्कोचनं कार्यं युज्यत एव ॥ २५९ ॥

इति हेतुविकल्पानां दर्शिता गतिरीदृशी ।

॥ इति हेतुचक्रम् ॥

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥ २६० ॥

हेतुमुपसंहरति । इतोति । हेतोर्विकल्पानां प्रभेदानां । गतिर्दिक् । दर्शितेति अनया दिशा अपरेऽपि हेतुप्रभेदाः स्वयं ज्ञातव्या इत्यर्थः ।

अथ सूक्ष्मं लक्षयति । इङ्गितेति । इङ्गितमभिप्रायबोधकचेष्टाविष्करणम्, इङ्गितं दृढतोभाव इति विश्वः, आकारोरत्यादिसूचकमुखरागादिः, स्यादाकारोऽङ्गवैकृतमिति वापालितः । ताभ्यां लक्ष्यो लक्षयितुं योग्योऽर्थः अभिलाषाद्यभ्यन्तरविषयः रहःक्रियमाणवर्हिर्विषयो वा सूक्ष्मः सूक्ष्माख्यालकारवान्, सूक्ष्मसंज्ञाया अन्वर्थतां प्रतिपादयितुं हेतुमुपन्य-

स्यति सौक्ष्म्यादिति अर्थस्येङ्गिताकाराभ्यामेव लक्ष्यत्वेन सूक्ष्म-  
मतिवेद्यत्वादित्यर्थः । इत्यञ्चार्थस्येङ्गिताकाराभ्यां निपुणमति-  
लक्ष्यत्ववर्णनं सूक्ष्मं नामालङ्कार इत्यर्थः । मध्यास्तु इङ्गिते  
नाकारेण वा लक्षितस्य सूक्ष्मार्थस्य निपुणमतिना केनचिद्भ्र-  
न्तरेण यत्सूचनं तत्सूक्ष्मं नामालङ्कारः सूक्ष्मार्थसूचनस्यैव चम-  
त्कारजनकतया लङ्कारत्वादित्याहुः । तथाचोक्तं प्रकाशकृता,  
'कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते । धर्मेण केन-  
चिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते' इति । कुतोऽप्याकारादिङ्गितादे-  
त्यर्थः । दर्पणकृतापि 'संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन  
वा । कयापि सूच्यते भङ्गा यत्र, सूक्ष्मं तदुच्यते' इति ॥ २६० ॥

कदा नौ सङ्गमोभावीत्याकीर्णं वक्तुमक्षमम् ।

अवेक्ष्य कान्तमवन्ता लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥ २६१ ॥

पद्मसम्मौलनाद्त्र सूचितोनिशि सङ्गमः ।

आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम् ॥ २६२ ॥

तत्रेङ्गितलक्ष्यार्थमुदाहरति । कदेति । नौ आवयोः ।  
आकीर्णं जनबहुले देशे । लीलापद्मं क्रोडार्थकमलम् । न्यमी-  
लयत् समकोचयत् । पद्मसम्मौलनादिति । सूचितो लक्षितः ।  
नायिकाया अभिप्रेतो निशाभाविमङ्गमरूपः सूक्ष्मोऽर्थः पद्म-  
नीमीलनरूपेङ्गितेन किञ्चिद्विलक्षित इति स्वमते लक्षणसमन्वयः ।  
नव्यमते तु नायकस्य जिज्ञासितः सङ्केतकालरूपः सूक्ष्मो-  
ऽर्थस्तस्य भ्रूक्षेपादिनेङ्गितेन नायिकया लक्षयित्वा निशासमघ-

शंसिकमलनिमीलनलीलया प्रकाशित इति । अत्र च वैचित्र-  
विशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणतया सहृदयानुभवसिद्धत्वादल-  
ङ्कारत्वमेव ॥ २६१ ॥ २६२ ॥

मदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्द्धत ।

उद्दामरागतरला च्छाया कापि मुखाम्बुजे ॥ २६३ ॥

इत्यनुङ्गिन्नरूपत्वाद्रत्युत्सवमनोरथः ।

अनुसङ्घैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थितः ॥ २६४ ॥

॥ इति सूक्ष्मम् ॥

आकारलक्ष्यार्थमुदाहरति । मदर्पितेति । उद्दामोऽत्य-  
धिको रागो रत्युत्सवाभिलाषस्तेन तरला मनोज्ञा उद्दाम-  
रागव्यञ्जिकेत्यर्थः, कापि विलक्षणा च्छाया कान्तिः । अत्र  
नायिकाया रत्युत्सवाभिलाषरूपार्थस्य मुखच्छायावैलक्षण्य-  
रूपाकारेण किञ्चित्सूक्ष्मत्वं प्रतिपादितम् । नयमतेऽप्यत्र ता-  
दृशाकारसंलक्षितस्य तादृशसूक्ष्मार्थस्य तादृशवचनभङ्गा बन्धु-  
समीपे सूचनमिति लक्षणसमन्वयः, सूचनञ्च यस्यार्थस्तं प्रत्ये-  
वेति न नियमः तस्यान्योद्देश्यकत्वस्यापि सम्भवात् अतएव  
प्रकाशकता सूक्ष्मलक्षणे अन्यस्मै इत्युक्तम् । मदर्पितेत्यत्र तद-  
र्पितेति कश्चित्पाठः ॥ २६३ ॥

ननु पूर्वादाहरणे पद्मनिमीलनात् प्रतीयमानस्य निम्नि-  
सङ्गमस्य सूक्ष्मत्वं तावदस्तु अत्र तु तादृशमुखच्छायारूपा-  
कारः स्फुटतरमेव रत्युत्सवमनोरथं लक्षयतीति कथमर्थस्य

सूक्ष्मत्वमित्याशङ्कोपपादयति । इत्यनुद्भिन्नरूपत्वादिति । रत्यु-  
त्सवमनोरथोऽनुद्भिन्नरूपत्वात् आकारलक्षितत्वेन स्फुटतर-  
प्रतीयमानरूपत्वाभावात् सूक्ष्मत्वमनुद्भिन्नैवापरित्यज्यैवात्र व्यव-  
स्थितो वर्णितोऽभूदित्यन्वयः । अत्राप्यवस्थित इति क्वचित्पाठः ।  
अयमर्थः, उद्दामरागतरला मुखच्छाया तावद्रत्युत्सवमनोरथ-  
स्यैवानुभाव इति न नियमः विषयान्तरमनोरथादिनापि  
तत्सम्भवादित्यनैकान्तिकत्वान्न स्फुटतरं तादृशमनोरथं लक्ष-  
यति लक्षयिता तु स्वीयविलक्षणसहृदयतामधीचीनया तथा  
कथञ्चिल्लक्षयतीति सूक्ष्मत्वमेव रत्युत्सवविषयस्येति ॥ २६४ ॥

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

उदाहरण एवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥ २६५ ॥

अथोद्देशवाक्योक्तलवेतिनामान्तरं लेशं लक्षयति । लेश  
इति । लेशेनाल्पतया निर्भिन्नं प्रकाशितं यत् वस्तुना रूपं  
स्वरूपं तस्य निगूहनं संवरणं लेशः गोमोद्भेदाद्यङ्गविकासा-  
दिना किञ्चित् प्रकाशमानस्य गोप्यविषयस्य केनचिद्व्याजेन  
गोपनं लेशनिर्भिन्नवस्तुनिगूहनरूपत्वात्केशालङ्कार इत्यर्थः ।  
इममेव नव्या व्याजेक्तिं वदन्ति । यथा 'व्याजेक्तिश्चूदनो-  
द्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्' इति । वक्ष्यमाणापङ्क्तौ तु न लेश-  
निर्भिन्नवस्तुना व्याजेनापङ्क्तव इत्यतोऽस्य भेदः । गोप्यनिर्भेदस्य  
क्वचिद्गोपयितुरनवधानवचनेनापि भवति तस्य निगूहनमपि  
क्वचित् लेशेण क्वचिद्लेशेण च । क्रमेण यथा, 'काले वारि-

धराणामपतितया नैव शक्यते स्यातुम् । उत्कण्ठितासि तर-  
रले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः' । अत्रापतितयेति  
पतिं विनेत्यर्थः स्वयमेवाभिहितः पतनाभावप्रतिपादनेन नि-  
गूहितः । 'इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा मिलति का न वनस्यति-  
ना लता । स्मरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं नहि घनागमरोति-  
रुदाहता' । अत्रापि स्ववचनेनैव सूचिता पतिमङ्गमेच्छा घना-  
गमस्वभाववर्णनया निगूहिता । इयमप्यपङ्कतिरिति विश्वनाथः ।  
ननु लेशनिर्भिन्ननिगूहने कश्चमत्कारो येनास्यालङ्कारत्वमि-  
त्याशङ्गाहं । उदाहरण एवास्येति । रूपं वैचित्र्यात्मकत्वम् ॥  
॥ २६५ ॥

राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रत्नकाः ।

अवगच्छेयु रा ज्ञात महे शीतानिलं वनम् ॥ २६६ ॥

निर्भिन्ननिगूहने द्वौ हेतु अनिष्टसम्भावना, लज्जा चेति  
तत्रानिष्टसम्भावनायामुदाहरति । राजेति । अवगच्छेयुरि-  
त्याशंसायां लिङ् । आवगच्छेयुरिति क्वचित्पाठः । अवगच्छे-  
युरित्यन्तमनिष्टशङ्कासूचकम्, अनन्तरं निगूहनोपायं चिन्त-  
यन्नाह । आ ज्ञातमिति । आ इति स्मरणे, ज्ञातं निगूहन-  
कारणं निश्चितमित्यर्थः । तदेवाह अहो इत्यादि, रोमोद्भेदस्य  
शीतानिलजनितत्वप्रतिपादनेनानुरागो निगूहितः ॥ २६६ ॥

आनन्दाश्रु प्रवृत्तं मे कथं दृष्ट्वैव कन्यकाम् ।

अस्ति मे पुष्परजसा वातोद्भूतेन दूषितम् ॥ २६७ ॥

लज्जामुदाहरति । आनन्दाश्रिति । कन्यकां विवा-  
हाय गोष्ठ्यामानीतां कन्यां दृष्ट्वैव कथमानन्दाश्रु प्रवृत्तमिति  
कन्यादर्शनमात्रेणैव आनन्दाश्रुणानुरागव्यक्तिर्लज्जाकरोत्या-  
शङ्का संवृणोति । अक्षि मे इति । अत्राश्रुणोऽक्षिदूषणजन्यत्व-  
प्रतिपादनव्याजेनानुरागो निगूहितः । अत्र वस्तुनिर्भेदश्च  
क्वचिदाशङ्कितः क्वचित्तात्त्विकः, तत्राशङ्कायामेतदुदाहरण-  
द्वयम् । तात्त्विकत्वे यथा, 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोप-  
गूढोत्सद्रोमाञ्जादिविमंठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः । आः  
शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं शैलान्तःपुर-  
मातमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः' । अत्र मात्त्विकतया रो-  
माञ्जादीनां परिज्ञानं तत्रत्यानां जातमेव, अतएव सस्मितं  
शैलान्तःपुरमातमण्डलगणैर्दृष्ट इत्युक्तम् ॥ २६७ ॥

इत्येवमादिस्थानेऽयमलङ्कारोऽतिशोभते ।

लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥ २६८ ॥

अस्यालङ्कारत्वमुपपादयति । इत्येवमादीति । अतिशोभते  
चमत्कारविशेषजनकतया काव्यमुपस्कुरुते, तस्मादस्यालङ्का-  
रत्वमनपलपनीयमित्यर्थः । अन्यैरुक्तो व्याजस्तुत्यलङ्कारोऽपि  
लेश एवेत्याह । लेशमेके इति । लेशतः स्तुतिच्छ्लेन कृतां  
निन्दां, तथा निन्दाच्छ्लेन कृतां स्तुतिं वा एके लेशं विदु-  
रित्यन्वयः । यदुक्तं दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य  
यः । स लेशः स्यात्ततो गान्या व्याजस्तुतिरपीष्यत इति । यथा



लेशनिर्भिन्नवस्तुनिगूहने लेशनामालङ्कारत्वं तथा लेशकृत-  
स्तुतिनिन्दयोरपीति किं व्याजस्तुतीत्यलङ्कारान्तराभ्युपगमेन  
पञ्चवीकरणमिति सोऽपि लेश एवेत्यर्थः ॥ २६८ ॥

युवैष गुणवान्राजा योग्यस्ते पतिरुज्जितः ।  
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि ॥ २६९ ॥  
वीर्यात्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये ।  
कन्यायाः कल्पते भोगान्निर्विविचोर्निरन्तरम् ॥ २७० ॥

तत्र स्तुतिव्याजेन निन्दामुदाहरति । युवैष इति । स्वयं-  
वरगोष्ठ्यां कस्यचिद्राज्ञः समोपमुपस्थितां कन्यां प्रति मख्या  
उक्तिरियम् । योग्यः पतिः पतित्वेन वरीतुमुचितः, अत्र हेतुः  
रणोत्सवे इति, अतिवीरोऽयं त्रियतामित्यापाततो बोधितं,  
पर्यवसाने तु सर्वदा रणव्यग्रेऽयमनेन ते कामसुखं दुर्लभं  
तन्न त्रियतामिति रणोत्सवे मनः सक्तमिति स्तुतिव्याजेन नि-  
न्दैव प्रतिपादिता ॥ २६९ ॥

एतदेवाह । वीर्यात्कर्षस्तुतिरिति । अस्मिन् पद्ये भोगान्  
सुरतोत्सवान् निरन्तरं निर्विविचोरूपभोक्तुमिच्छोः कन्याया  
भावो वरणाभिप्रायस्तस्य निवृत्तये राज्ञो वीर्यात्कर्षस्तुति-  
निन्दैव कल्पते निन्दारूपेणैव परिणमतीत्यन्वयः ॥ २७० ॥

चपलो निर्दयश्चासौ जनः क्लिन्नेन मे सखि ।  
आगःप्रमार्ज्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः ॥ २७१ ॥

दोषाभासो गुणः कोऽपि दर्शितश्चाटुकारिता ।  
मानं सखीजनोद्दिष्टं कर्तुं रागादशक्त्या ॥ २७२ ॥  
॥ इति लेशचक्रम् ॥

निन्दाव्याजेन स्तुतिमुदाहरति । चपल इति । मान एव मनस्विनीनां गौरवहेतुस्तदन्तरान्तरा प्रेयसि मानो विधेय इति वदन्तीं सखीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । चपलो नैकत्र स्थिरप्रेमा, निर्दयः परपीडानभिज्ञः । तेन युष्माभिरुपदिष्टेन मानेन । आगःप्रमार्ज्जनाय अपराधविस्मरणाय, चाटवः प्रियवादाः ॥ २७२ ॥

दोषाभास इति । सखीजनैरुद्दिष्टमुपदिष्टं मानं रागात् प्रेयस्यनुरागाधिक्यात् कर्तुमशक्त्या नायिकया कोऽपि स्त्रीणामतीवहृद्यङ्गमश्चाटुकारितारूपो गुणः, दोषाभासः प्रथमं दोष इवाभासत इति तादृशो दर्शितः, दोषत्वेन कथित इत्यर्थः । तस्मादत्र निन्दाव्याजेन स्तुतिर्दर्शिता ॥ २७२ ॥

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।  
यथासङ्गमिति प्रोक्तं सङ्ख्यानं क्रम इत्यपि ॥ २७३ ॥

अथ क्रमं लक्षयति । उद्दिष्टानामिति । उद्दिष्टानां प्रथममुक्तानां पदार्थानां यथाक्रममनूद्देशः पश्चाद्देशः पश्चादुक्तैः पदार्थैः क्रमेणान्वय इत्यर्थः । यथासङ्गमिति ननु हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रम इत्युद्देशवाक्ये लवानन्तरं क्रम एवोद्दिष्टस्तत्

कथं यथासङ्गस्य निरूपणमित्यत्राह । सङ्गानं क्रम इत्यपीति  
यथासङ्गं सङ्गानं क्रम इति त्रयः पर्याया इत्यर्थः ॥ २७३ ॥

ध्रुवन्ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षणमुखद्युतिः ।

स्नातुमम्भःप्रविष्टायाः कुमुदोत्पलपङ्कजैः ॥ २७४ ॥

॥ इति क्रमः ॥

उदाहरति । ध्रुवमिति । स्मितेक्षणमुखद्युतिरिति जात्या-  
श्रयत्वादेकवचनम् । चोरितेति किञ्चिदपहृतेत्यर्थः समुदाय-  
हरणे नायिकायां तदसत्त्वप्रतिपत्त्या वैरस्यापत्तेः । अम्भः  
प्रविष्टाया इति अम्भःस्थितानां कुमुदादीनां चौर्यक्रियाया  
उपपादकम् । उत्पलं कुवलयम् । अत्र स्मितद्युतिः कुमुदेन,  
ईक्ष्णद्युतिरुत्पलेन, मुखद्युतिः पङ्कजेन, चोरिता इति क्रमि-  
काणां क्रमिकैरन्वयः । अत्रालङ्कारान्तरविच्छिन्तिमूलतया  
प्रौढोक्त्वाच्च वैचित्रातिशयः ॥ २७४ ॥

प्रेयः प्रियतराख्यानं, रसवद्रसपेशलम् ।

ऊर्जस्वि कूटाक्षङ्कारं, युक्तोत्कर्षञ्च तत्रयम् ॥ २७५ ॥

संलक्ष्यक्रमाणां वस्त्वलङ्काररूपव्यङ्गानां वाच्यार्थस्य शो-  
भाजनकतया समासोक्तिरूपकादिनाञ्चालङ्कारत्वमुक्तम् असंल-  
क्ष्यक्रमाणां रसादिव्यङ्गानामपि तथात्वेनालङ्कारत्वमुचित-  
मिति सम्प्रति तद्रूपं प्रेयोरसवदूर्जस्विनामकमलङ्कारत्रय-  
माह । प्रेय इति । अथाणामेवासंलक्ष्यक्रमत्वरूपैकधर्मवत्त्वा-

देकत्र निवेशः । तत्र प्रियतरं भावाभिव्यक्त्या बोद्धव्यस्य प्रीत्या-  
 तिशयकरं वक्तुं प्रीत्याधिक्यसूचकमाख्यानं प्रेयः प्रकृतप्रिय-  
 त्वात् प्रेयो नामालङ्कारः । भावाच्च देवादिविषया रतिः  
 प्रधानत्वेनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणश्च । यथा काव्यप्रकाशे,  
 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावः प्रोक्तः'  
 इति । विभावादिभिरपरिपुष्ट उद्बुद्धमात्रः स्याथी च भाव  
 इति विश्वनाथादयः । अन्यकर्तुं देवादिविषयकरतिभाव-  
 व्यञ्जकमेवाख्यानं प्रेयोऽलङ्कारतयाभिमतमिति वक्ष्यमाणोदा-  
 हरणदर्शनादवगम्यते । ततश्चाख्यानचातुर्येण व्यज्यमानो दे-  
 वादिविषयकरतिभावोवाच्यस्य शोभाजनकतया प्रेयोनामा-  
 लङ्कार इति लक्षणम् । तथा रसपेशलं रसाभिव्यक्त्या सह-  
 दयहृदयङ्गममाख्यानं रसवत् रसवन्नामालङ्कारः आख्यान-  
 चातुर्येण व्यज्यमानोरस एव वाच्यस्य शोभाजनकतया रसव-  
 दलङ्कार इत्यर्थः । रसस्वरूपञ्च अन्यकृता नोक्तमिति किञ्चि-  
 दुच्यते । समुचितसन्निवेशशोभिना काव्येन तत्तदभिनयेन ता  
 समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतामधोचीनेन  
 भावनाविशेषमहिम्ना विगलितरामरमणीत्वादिभिरलौकिक-  
 विभावनादिव्यापारवत्तया विभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यप-  
 देशैः सीतादिभिरानन्मनकारणैश्चन्द्रिकादिभिर्दीपनकारणै-  
 रश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिश्च सम्भूय प्रादु-  
 र्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावर-  
 णाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमाहत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा

स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रिय-  
माणः प्राग्निविद्युत्वासरूपः स्थिरतया वर्तमानत्वात्  
स्थायिशब्दव्यपदेश्यो रत्यादिरेव रसः । तथा चाहुः 'व्यक्तः  
स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति व्यक्तो व्यक्ति-  
विषयौकतः, व्यक्तिश्च भग्रावरणा चित्, यथाहि शरावादिना  
पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति  
स्वयञ्च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिमंवलितान् रत्या-  
दीन्, अन्तःकरणधर्माणां सात्त्विकभास्यत्वाभ्युपगतेः, विभावा-  
दीनामपि स्वप्रतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव च सा-  
त्त्विकभास्यत्वमविरुद्धं, व्यञ्जकविभावादिचर्चणाया आवरणभङ्गस्य  
वा उत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपचर्येते वि-  
भावादिचर्चणावधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्र-  
काशस्थावृत्तत्वाद्विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते इतीदम-  
भिनवगुप्तादिमतस्वारस्येन । भट्टनायकप्रभृतयस्तु ताटस्थेन  
रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः  
मीतादीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् विना विभाव-  
मनात्मनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः नच कान्तात्वं साधारणं  
'विभावतावच्छेदकमत्रायस्तीति वाच्यम्. अप्रामाण्यनिश्चया-  
नास्कन्दितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धाव-  
च्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्य-  
त्वात्, तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणा-  
गम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानु-

कूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते, एवं साधारणीकृतेषु रामसीता  
देशकालवयोऽवस्थादिषु पङ्क्तौ पूर्वव्यापारमहिम्नि तृतीयस्य  
भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयोरजस्रमसोरुद्रिकसन्ध-  
जनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्का-  
रेण विषयोक्तो भावोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः  
स्थायी रस इत्याहुः । नव्यास्तु काव्ये नाव्ये च कविना नटेन  
च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण रामादौ सी-  
तादिरतौ गृहीतायाम्, अनन्तरञ्च सहृदयतोत्प्लासितस्य भा-  
वनाविशेषरूपदोषस्य महिम्ना कल्पितरामत्वाद्यवच्छादिते स्वा-  
त्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्य-  
मानोऽनिर्व्वचनीयः साक्षिभास्यः सीतादिविषयकरत्यादिरेव  
रसः अयञ्च कार्यो दोषविशेषस्य नाशश्च तदुत्तरभाविना  
लोकोत्तराङ्गादेन भेदाग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यश्च भवतीति  
प्राङ्गरित्येतत् सर्वं पण्डितराजेन विशदीकृतम् । सीतादि-  
विभावादिभिरामादिनिष्ठतयानुमीयमानो रत्यादिस्थिति  
भावो वासनासन्निकर्षेण सामाजिकैः साक्षात्क्रियमाणो रस  
इति श्रीशङ्कुकप्रभृतयः । वस्तुतस्तु विभावादिव्यज्यमान-  
रत्यादिस्थायिभावजन्यचमत्कार एव रसशब्देन व्यपदिश्यते  
सर्वमन्यत् पञ्चवनमिति बोध्यम् । रत्यादयश्च रतिहास-  
शोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयाः क्रमेण षट्कारहास्यकरुण-  
रौद्रवीरभयानकबीभत्साहुतरमानां स्थायिभावाः, शान्तस्य  
तु शमो निर्वेदो वेति कल्पद्वयं । रत्यादीनां स्वरूपञ्च दश-

रूपकादावभिव्यक्तं ज्ञेयं । शृङ्गारादीनां स्वरूपज्ञान्यत्र विस्तर  
इति नोक्तं । तत्र शृङ्गारोऽपि सम्भोगविप्रलम्भभेदेन द्वि-  
विधः । वीरस्य दानधर्मदयायुद्धमन्त्रादिभेदेन बहुवधः ॥

तथा रूढः प्रादुर्भूतः प्रधानतयाभिव्यक्त इत्यर्थः, तादृ-  
शोऽहङ्कारो गर्वो यत्र तादृशमाख्यानमूर्च्छस्वि, आख्यान-  
चातुर्येण प्रधानतयाभिव्यज्यमानो गर्वाख्यो व्यभिचारिभाव  
ऊर्च्छस्विनामालङ्कार इत्यर्थः । गर्वश्च, गर्वो मदः प्रभाव-  
श्रीविद्यामत्कुलतादिजः, इत्युक्तलक्षणः, अयञ्च प्राधान्येनाभि-  
व्यक्तो भाव एव, व्यभिचारी तथाञ्चित इति प्रकाशकारोक्तेः ।  
एषामलङ्कारव्यपदेशे हेतुमाह । युक्तोत्कर्षश्चेति । युक्तोऽलङ्का-  
रव्यपदेशोपयुक्त उत्कर्षो वाच्यशोभा यस्मात्तत्, सादृश्यादयो  
यथा वाच्यार्थशोभाजनकत्वादुपमाद्यलङ्कारतया व्यपदिश्यन्ते  
भावादयोऽपि तथा वाच्यशोभाजनकत्वसाम्यादित्यर्थः । मते  
चास्मिन् निरुक्तभावेषु मध्ये देवादिविषयकरतिभावस्य प्रेयो  
नामालङ्कारत्वं गर्वाख्यभावस्य चोर्च्छस्विनामालङ्कारत्वम्, एत-  
द्विन्नानान्तु भावानां तथा रसाभासभावाभासभावशान्ति-  
भावोदयभावशवलतानाञ्च रसपेशलमित्यत्र रसपदस्य रस्य-  
मानपरत्वेन रसवदलङ्कारत्वम् एषामपि काव्यशोभाजनक-  
त्वाविशेषेणालङ्कारत्वौचित्यादिति बोध्यम्, उक्तञ्चान्यत्र 'रस-  
भावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ । सन्धिः शवलता चेति  
सर्वेऽपि रसनाद्रसाः' इति । एते च रसादयः अङ्गित्वेना-  
ङ्गत्वेन वाभिव्यज्यमाना अलङ्कारतां प्राप्नुवन्ति अङ्गभूताना-

मपि काव्यशोभाजनकत्वाविशेषात्, नचाङ्गिनो रसादेरलङ्कार्यत्वात् कथमलङ्कारत्वमिति वाच्यं, स्वमते शब्दार्थात्मकस्य काव्यस्यैवालङ्कार्यत्वेन तदुपस्कारकस्य व्यङ्ग्यमात्रस्यैवालङ्कारव्यपदेश्यत्वात्, काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते इत्यलङ्कारलक्षणे शब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यैवालङ्कार्यत्वप्रतिपादनात् । ध्वनिकारप्रभृतयस्तु अङ्गिनो रसादेरलङ्कार्यत्वमङ्गभूतस्य तस्यैवालङ्कारत्वमाहुः । यथा 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतम्' इति । तत्र रसानामङ्गत्वे रसवदलङ्कारः भावानामङ्गत्वे प्रेयोऽलङ्कारः रसाभासभावाभासयोरङ्गत्वे ऊर्जस्वलङ्कारः भावशान्तेरङ्गत्वे समाहितालङ्कारः भावादयभावसन्धिभावशवलतानामङ्गत्वे तत्तन्नामकालङ्काराः । तदुक्तं विश्वनाथेन, 'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रथमस्तथा । गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा । रसवत् प्रेयऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् । भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वेच तदाख्यकाः' इति । अत्र ते नव्या प्रष्टव्याः किं प्रधानतया प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यमात्रस्यैवालङ्कार्यत्वमुत तथाभूतस्य रसादेरेवेति तत्र न तावत् प्रथमः समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसापर्यायोक्तादौ प्रधानतयैवाभिव्यज्यमानानां वस्त्वलङ्काराणां तैरप्यलङ्कारत्वाभ्युपगमात् नच तत्र वाच्यार्थस्यैव प्रधानत्वं प्रतीयमानानां वस्त्वलङ्काराणान्वप्रधानत्वम् अप्रधानानान्वलङ्कारत्वमुचितमेवेति वाच्यं, तत्र तत्र व्यङ्ग्यानामेव प्राधान्यस्यानुभवसिद्धतयानपक्षपनीयत्वात्, नापि द्वितीयः



सामान्येन काव्यात्मकतयाभ्युपगतानां वस्त्वलङ्काररसादिव्यङ्ग्या-  
नां मध्ये वस्त्वलङ्काराणामलङ्कारत्वं रसादीनामेवालङ्कार्यत्व-  
मिति निर्वक्तुमयोग्यत्वात् नच रसादिव्यङ्ग्यस्यैव प्रधानस्य  
काव्यात्मत्वादलङ्कार्यत्वं न वस्त्वलङ्कारयोरिति विश्वनाथोक्त-  
मादरणीयं, 'यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामञ्जलिहः शोण-  
मणीमयूखः । सन्ध्याभ्रमं प्राप्नवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं  
व्यधत्त' इत्यादौ तेनाप्यङ्गभूतेन गृहङ्कारेणैव काव्यव्यवहाराभ्यु-  
पगमात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूपध्वनिभेदस्य सर्व्वालङ्कारिकैरभ्यु-  
पगतत्वेन रसादेरेव काव्यात्मनप्रतिपादनस्य बह्वशो दूषितत्वाच्च,  
तस्माद्वाङ्मयतयाऽविशिष्टानां वस्त्वलङ्काराणां रसादीनां वा का-  
व्यशोभाजनकतया लङ्कारत्वं युक्त्यनुभवप्रतिपन्नमिति, प्राचां सर-  
णैरेव साधीयमी । अथात्र रसस्थालङ्कारत्वमुक्तं, पूर्व्वञ्च 'मधुरं  
रसवदाचीत्यादिना गुणत्वमुक्तं तत्कथमेकस्य गुणत्वमलङ्कारत्व-  
ञ्चेति चेद्यस्य समाधानं स्वयमेव ग्रन्थकारोऽप्ये करिष्यतीति  
सर्व्वमवदातम् ॥ २७५ ॥

अद्य या मम गोविन्द ! जाता त्वयि गृहागते ।

कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥ २७६ ॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।

भक्तिमात्रसमारोध्यः हृत्प्रीतश्च ततो हरिः ॥ २७७ ॥

तत्र प्रथमं प्रेय उदाहरति । अद्येति । विदुरस्य स्वगृहागतं  
श्रीकृष्णं प्रति सानुरागोक्तिरियं । हे गोविन्द अद्य त्वयि गृहागते

मदीयभवनं प्राप्ते सति मम या प्रीतिर्जाता कालेन समयान्त-  
रेण तवैव पुनरागमनादेषा प्रीतिर्भवेत् भविष्यति न तु त्वयि  
गते त्वदितरसाधुममागमादिना ईदृशी प्रीतिर्भविष्यतीत्यर्थः ।  
इतः प्रतिनिवृत्तस्य ते यावन्न पुनरागमनं तावद्दुःखेनैव स्या-  
स्यामीति भावः । नैषा काले भवेत् प्रीतिरिति पाठस्तु न  
मनोरमः । अत्र विदुरस्य वाक्यभङ्गाभिव्यज्यमानो भगव-  
द्विषयरतिभावो भगवतः प्रीत्यतिशयजननेन वाच्यस्य शो-  
भातिशयं पुष्पाति । श्लोकोऽयं 'सम्मानवज्जमानप्रीतिविरहे-  
तरविचिकित्सा महिमख्यातितदर्थप्राणस्यानतदीयतामर्व्वतद्वा-  
वाप्रातिक्रुत्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्' इति शाण्डिल्य-  
सूत्रीयप्रीत्युदाहरणतया स्वप्नेश्वराचार्य्येणोपनास्तस्य, 'या प्रीतिः  
पुण्डरीकाच्च तवागमनकारणात् । सा किमाख्यायते तुभ्यमन्त-  
रात्मासि देहिनाम्' इति महाभारतीयोद्योगपर्व्वीकविदुर-  
वचनस्य प्रतिरूपः ॥ २७६ ॥

इत्याहेति । युक्तम् अव्यभिचारिभगवद्भक्तिसूचकत्वात् म-  
भीचीनं, युक्तमित्यत्र वाक्यमिति क्वचित्पाठः । युक्तत्वे हेतुः  
नान्यतस्तादृशी धृतिरिति यतोऽत्र विदुरस्य अन्यता भगव-  
द्विन्नविषयेभ्यस्तादृशी धृतिः सन्तोषो न प्रतिपन्नेति शेषः ।  
तवैवागमनात् पुनरित्यनेन विषयान्तरेभ्यो विदुरस्य प्रीतिर्न  
भवतीति सूचितमित्यर्थः । अतएव भक्तिमात्रेण अनन्यसाधा-  
रणानुरागेणैव समाराधो हरिः सुप्रीतश्चाभृदित्युद्देश्यस्य  
प्रीतिकरमाख्यानमिति प्रेयोऽलङ्कारः ॥ २७७ ॥

सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम हेतानलो जलम् ।  
 इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव ! के वयम् ॥ २७८ ॥  
 इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मणः ।  
 प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥ २७९ ॥

वक्तुः प्रीतानुदाहरति । सोम इति हेता यजमानः ।  
 इतिरूपाणि सोमादिस्फूलरूपा अष्टौ मूर्त्तिरतिक्रम्य सूक्ष्म-  
 स्वरूपेण वर्त्तमानं सच्चिदानन्दात्मकं त्वां द्रष्टुं साक्षात्कर्तुं  
 वयं के अयोग्या एव, तर्हि यद्दृष्टोऽसि तत्र भक्तानुकम्पितैव  
 हेतुरिति भावः । अत्र निष्कलस्य परब्रह्मणे जन्यप्रीतेरभा-  
 वात् वक्तुस्तद्विषयकप्रीत्यैव प्रेयस्त्वम् ॥ २७८ ॥

इतीति । देवे महादेवे । राजवर्मणः राजवर्मनामकस्य ।  
 प्रीतिप्रकाशनं महादेवविषयकरतिभावसूचनं, तच्च तदपि,  
 प्रेय इत्यवगम्यतामिति एतेन भक्तस्य प्रीत्यभिव्यक्त्या बोद्धव्यस्य  
 देवादेः प्रीतिः, केवला भक्तस्यैव देवादिविषयिका प्रीतिर्वा  
 व्यज्यमाना प्रेयोऽलङ्कार इति सूचितम् । श्लोकद्वयेऽस्मिन् देव-  
 विषयकरतिभावे दर्शितः । मुनिविषयो यथा, 'हरत्यधं  
 सम्प्रति, हेतुरैष्यतः शुभस्य, पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः । शरीर-  
 भाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालचितयेऽपि योग्यताम्' ।  
 इयं हि नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिः । 'अत्युच्चाः परितः स्फु-  
 रन्ति गिरयः स्फारास्तथाभोधयस्तानेतानपि विभ्रती किमपि  
 न ज्ञान्तासि तुभं नमः । आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति

प्रस्तौमि यावद्भुवस्तावद्विभ्रदिमां स्यतस्तवभुजो वाचस्ततो मु-  
द्रिताः' । अत्र पूर्वार्द्धे भृविषयः, उत्तरार्द्धे राजविषयः ।  
'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र चुम्बामि मूर्द्धनि चिरञ्च परि-  
ष्वजे त्वाम् । आरोष्य वा हृदि दिवानिगमुदहामि वन्देऽथवा  
चरणपुष्करकदयन्ते' । अत्र पुत्रविषयः, अत्र वत्सलाख्यो रम-  
इत्यन्ये, एवमन्यविषयोऽपि रतिभावः प्रेयोऽलङ्कारतया बोध्यः ।  
कान्ताविषया तु रतिर्व्यक्ता शृङ्गारतां प्राप्नोति तत्र रमव-  
दलङ्कार इत्यनन्तरमेव दर्शयते ॥ २७६ ॥

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तुं यथा मे मरणं मतम् ।

सैषा तन्वी मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ २८० ॥

प्राक् प्रीतिर्दार्ढ्यता, सैयं रतिः शृङ्गारतां गता ।

रूपवाङ्मन्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥ २८१ ॥

अत्र रमवदलङ्कारं दर्शयन् तत्र रमाश्च शृङ्गारादिभे-  
देन बद्धविधा इति तेषु ब्रह्मादिकीटपर्यन्तानामादरणीयं  
नाभ्यर्हितत्वात् प्रथमं शृङ्गारमुदाहरति । मृतेतीति । मृतां  
मदालसां पुनर्नागानां प्रमादेन प्रत्युज्जीवितां प्राप्य तस्याः पत्युः  
कुवल्याश्वस्त्योक्तिरियम् । मृतेति मृतेयमिति निश्चित्य यथा  
सह प्रेत्य परलोके सङ्गन्तुं संयोगं प्राप्नुम् । मृतेऽभिप्रेत्य सङ्ग-  
न्वितिपाठे तु इत्यनुतापे मृते मरणे मति, भावे कः, यथा  
परलोकगतया सह सङ्गमभिप्रेत्याभिलष्येत्यर्थः । मे मया मरणं  
मतमिष्टं, सैषा तन्वी कथमत्रैव जन्मनि विना मरणं लब्धा

कथमिति विस्मये । सैषा तन्वीत्यत्र सैवावन्तीति कश्चित्पाठः,  
तत्र आवन्ती अवन्तिदेशोद्भवा वासवदत्तेत्यर्थः, वासवदत्ताया  
दाहप्रवादेन दुःखितस्य पुनस्तां प्राप्य वत्सराजस्यानन्दोक्तिरि-  
यम् । अत्र सम्भोगशृङ्गारारथो रसः स च 'दर्शनस्पर्शनादीनि  
निषेवेते विलासिनौ । यत्रानुरक्तावन्योऽन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः'  
इत्युक्तलक्षणः । अथञ्च विप्रलम्भानन्तरं प्रतिपाद्यमानः पुष्टिं  
प्राप्नोतीति विप्रलम्भानन्तर्येणात्र वर्णितः । तदुक्तं, 'न विना  
विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते । कषायिते हि वस्त्रादौ भू-  
यान् रागो विवर्द्धते' इति । विप्रलम्भश्च 'यत्र तु रतिः  
प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसावित्युक्तलक्षणः' अथञ्च  
पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकतया चतुर्विधः, विप्रलम्भश्चायं  
मदालसापक्षे करुणात्मकः, यदुक्तं 'यूनोरेकतरस्मिन् गतवति  
लोकान्तरं पुनर्लभ्ये । विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुण-  
विप्रलम्भाख्यः' इति ॥ २८० ॥

नन्वत्रापि नायिकाविषयिणी प्रीतिर्व्यज्यते तत् प्रेयोऽल-  
ङ्कारादस्य कोभेद इत्याशङ्कयामाह । प्रागिति । प्राक् पूर्व-  
दर्शिते अद्य येति सोमः सूर्य इति च श्लोकद्वये प्रीतिर्दर्शि-  
ता संप्रयोगशून्यत्वाद् रतिः प्रीतिः प्रेयोऽलङ्कारतया दर्शिते-  
त्यर्थः, प्रीतिप्रेयसोः पर्यायता, यदुक्तं, 'मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु  
सुखसंवेदनं वचः । असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते' इति ।  
संप्रयोगश्च विभावादिभिः परिपोषः स चात्र वर्त्तत इत्याह  
मेयमिति, सा तादृशी देवादिविषयकरतिषजातीयेत्यर्थः,

रतिः 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' इत्युक्तल-  
 क्षणा प्रकृते कान्ताविषयकोऽनुराग इत्यर्थः, रूपस्य स्वरूपस्य  
 बाहुल्यं विभावानुभावव्यभिचारिभिः परिपोषः तस्य योगेन  
 सम्बन्धेन गृह्णारतां गता अलौकिकचमत्कारजनकतया  
 तत्परिणामेन वा गृह्णाररसत्वं प्राप्ता, तत्तस्मादिदं वचो  
 रसवत् रसवदलङ्कारवत्, एतदुक्तं भरतेन 'विभावानुभाव-  
 व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति । अत्र निरुक्तनायिका  
 विभावः, सौहित्यवचनवदनस्मेरतादयोऽनुभावाः, हर्षविस्म-  
 यादयोव्यभिचारिणः, एतैरभिव्यज्यमानः पुष्टिं नीतोर-  
 त्याख्यः स्यायिभावो रसतामापद्यते । रसोद्बोधे च विभावा-  
 दीनां त्रयाणां समुदितानामेव हेतुत्वं यत्र तु एकस्य दयो-  
 र्वा सद्भावस्तत्रान्यतमस्यौचित्यादाक्षेपेण समुदितत्वं बोध्यम् ।  
 यथा 'दीर्घात् शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंशयोः सं-  
 चिप्रां निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव । मध्यः पाणि-  
 मितो नितम्बि जघनं पादावुदयाङ्गुली कन्दानर्त्तयितुर्यथैः ।  
 मनसः सृष्टं तथास्या वपुः' । अत्र मालविकामभिलषतोऽग्नि-  
 मित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽनुभावानां नयनवि-  
 स्फारादीनां व्यभिचारिणाञ्चैतुक्यादीनामौचित्यादेवाक्षेपः ।  
 एवमन्याक्षेपो बोध्यः, यत्र तु कञ्चैणाक्षेपस्तत्र तु दोष एव ।  
 यथा 'परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्वलतितरां परिवर्त्तते  
 च भृयः । इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं  
 किमत्र कुर्मः । अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भ-

वात् कामिनीरूपो विभावः कृष्णादाक्षेयः । एतच्च प्रसङ्गा-  
दुक्तम् ॥ २८२ ॥

निगृह्य केशेष्वकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।

सोऽयं दुःशासनः पापोलब्धः किं जीवति क्षणम् ॥ २८२ ॥

इत्यारुह्य परां कोटीं क्रोधा रौद्रात्मतां गतः ।

भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥ २८३ ॥

रौद्रमुदाहरति । निगृह्येति । केशेष्वित्यवच्छेदे सप्तमी ।  
कृष्णा द्रौपदी ।

परां कोटीमारुह्य विभावादिभिः परिपुष्टिं प्राप्य,  
क्रोधः स्यायिभावः स च 'प्रतिकूलेषु तैक्ष्णस्यावबोधः क्रोध  
इत्यते' इत्युक्तलक्षणः शत्रुं प्रत्यपचिकीर्षाया उद्रेकः क्रोध  
इत्यर्थः, रौद्रात्मतां गतो रौद्ररसत्वं प्राप्तः । तथाह्यत्र  
दुःशासन आलम्बनविभावः तस्य कृष्णाकेशाकर्षणादिचेष्टित-  
मुद्दीपनविभावः पाप इत्यधिकेपवचनमनुभावः प्रतीयमा-  
ना गर्वादयो व्यभिचारिभावाः, एतैः पुष्टिं नीतः क्रोधस्या-  
यिभावो रौद्ररसतां गतः । रसवत् रसवदाख्यालङ्कारवत् ॥  
॥ २८२ ॥ २८३ ॥

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ठा विविधैर्मखैः ।

अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥ २८४ ॥

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।

रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमोश्वरः ॥ २८५ ॥

वीरमुदाहरति । अजित्वेति । अजित्वा युद्धे शत्रुपराजया-  
दलब्ध्वा । अत्र क्लान्तवाक्यत्रयेण क्रमेण युद्धधर्मदानविषया  
उत्साहाः सूचिताः । तेनात्र युद्धवीरो धर्मवीरो दानवी-  
रश्चेति वीररसत्रयम् । दयावीरो यथा, 'शिरामुखैः स्यन्दत-  
एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति । हस्तिं न पश्यामि त-  
वापि तावत्, किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्' । अत्र जीमूत-  
वाहनस्य गरुडभुक्तावशिष्टनागान् प्रति दयायामुक्ताहः । एव-  
मन्येऽपि मन्त्रादिवीराः सम्भवन्ति ते च मुद्राराक्षसादौ ज्ञा-  
तव्याः ॥ २८४ ॥

इत्युत्साह इति । उत्साहः 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्वयानु-  
त्साह उच्यते' इत्युक्तलक्षणः । संरम्भ उद्योगः । प्रकृत्यात्मा  
तत्तद्विभावादिभिः परिपुष्टः, वीररमात्मना तिष्ठन् वीररसत्वं  
प्राप्नुवन्, रसवत्त्वं रसवदलङ्कारवत्त्वं समर्थयितुं सम्यादयितुम्,  
ईश्वरः समर्थः । अत्र युद्धे विजेतव्याः, धर्मं धर्माः, दाने याचका  
उत्साहस्यालम्बनविभावाः, प्रतीयमानाः महायान्वेषणादयो-  
ऽनुभावाः हर्षधृतिमत्यादयोऽप्यभिचारिणः एतैरभिव्यक्त उ-  
त्साहो वीररसतां भजते ॥ २८५ ॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्गा रुजाकरी ।

साधिगते कथं तन्वी ऊताग्नवतीं चिताम् ॥ २८६ ॥

इति कारुण्यमुद्रितमलङ्कारतया स्मृतम् ।

तथा परेऽपि बीभत्सुहास्याद्भुतभयानकाः ॥ २८७ ॥



करुणमुदाहरति । यस्या इति । तन्वीत्यत्र देवोति कश्चित्  
पाठः । इतीति । कारुण्यं करुणरमस्यायिभावः शोकः स च  
'दृष्टनाशादिभिस्त्रेता वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' इत्युक्तमक्षणः, चेत-  
सो वैक्लव्यं दुःखविशेष इत्यर्थः । उद्दिक्तं विभावादिभिः परिपुष्टं  
सत् अलङ्कारतया स्मृतं करुणरसीभूय काव्यशोभाजनना-  
द्रसवदलङ्कारत्वेन ज्ञातमित्यर्थः । अत्र शोच्या गतप्राणा  
तन्वी आलम्बनविभावः कुसुमशय्यापीत्यादिना जीवन्त्यास्त-  
स्याः सुखावस्थाम्मरणमुद्दीपनविभावः करुणवचनमनुभावः  
कथमित्यादिप्राश्चिन्तादयो व्यभिचारिणः एतैः परिपुष्टः शो-  
काख्यः स्यायिभावः करुणरसत्वं भजते ॥

तथेति । यथा पूर्वोदाहरणचतुष्टये रतिक्रोधात्साह-  
शोकाः स्यायिभावास्तत्तद्विभावादिभिः परिपुष्टाः शृङ्गाररौ-  
द्रवीरकरुणरसीभृता दर्शितास्तथा वक्ष्यमाणोदाहरणेष्वपि  
जुगुप्साहामविस्मयभयरूपाः स्यायिनो विभावादिभिः परि-  
पुष्टाः सन्तो बीभत्सहास्याद्भूतभयानकाख्या रसा भवन्तीति  
ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसंपुटैः ।

कौणपाः सह नृत्यन्ति कवन्धैरन्त्रभूषणाः ॥ २८८ ॥

तत्र बीभत्समुदाहरति । पायं पायमिति । पायं पायं  
पुनःपुनः पीत्वा । कौणपा राक्षसाः । कवन्धैर्निर्मस्तकक्रि-  
यायुक्तकलेवरैः सह । अन्त्रं पुरीतत् तद्भूषणं येषां ते ।

अत्र जुगुप्सा स्थायिभावः सा च, 'दोषेक्षणादिभिर्गर्हा  
जुगुप्सा विषयोद्भवा' इत्युक्तलक्षणा, तस्याः पाणिमंपुटैः शोणित-  
पायिनोऽन्वभूषणाः कौणपा आलम्बनविभावः प्रतीयमाना  
निष्ठोवनास्यवलनादयोऽनुभावाः, मोहापग्नारादयो व्यभि-  
चारिणः, एतैः परिपुष्टा जुगुप्सा बीभत्सरसत्वं भजते, बी-  
भत्सश्चात्र राजविषयरतौ गुणीभूतः तादृशरतिश्च वर्षनी-  
यप्रोतिकरत्वात् प्रेयोऽलङ्कार इति प्रेयोरसवतोः सङ्करो-  
ऽयम् ॥ २८८ ॥

इदमम्लानमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।

क्वाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ॥ २८९ ॥

हास्यमुदाहरति । इदमिति । सखीसमक्षं मानं प्रकाश-  
यन्तीं रहस्य कान्तेन सह कृतक्रीडां नायिकां प्रति सख्या  
उपहासोक्तिरियम् । अम्लानोऽपर्युषितः अस्मद्भ्यर्थनाशतेना-  
प्यपरिचित इत्यर्थः तादृशोमानो यस्यास्तथाविधाया अपि  
तव स्तनतटे नवं न तु प्राचीनं नखपदं लग्नं दृश्यते एतत्तु  
मानिन्यास्ते नायकसङ्गाभावेनासम्भवंमित्युत्तरीयेण क्वाद्यता-  
मित्यन्वयः । अत्र हासः स्थायिभावः स च 'वागादिवैकृतै-  
श्चेतोविकाशोहास उच्यते' इत्युक्तलक्षणः, विकाश उपहसनीय-  
त्वेन ज्ञानं । निरुक्तमानवती नायिका तस्यालम्बनविभावः  
नखक्षतमुद्दीपनविभावः तादृशमोक्षुण्ठनवचनमनुभावः प्रती-  
यमाना अवहित्यादयो व्यभिचारिणः, एतैः परिपुष्टा निरुक्त-

हासस्यायिभावो हास्यरसतां भजते । अस्त्रानमानाया इत्यत्र  
अस्त्रानमालाया इतिपाठो न मनोरमः ॥ २८८ ॥

अंगुकानि प्रवालानि पुष्पं चारादिभूषणम् ।

शाखाश्च मन्दिराण्येषां चित्रं नन्दनशाखिनाम् ॥ २९० ॥

अद्भुतमुदाहरति । अंगुकानीति । प्रवालानि किश-  
लयाः । नन्दनशाखिनां कल्पद्रुमाणाम् । अत्र विस्मयः स्या-  
यिभावः स च 'विविधेषु पदार्थेषु लोकमीमातिवर्त्तिषु ।  
विस्फारश्चेतमो यस्तु स विस्मय उदाहृत' इत्युक्तलक्षणः,  
विस्फारोविस्तारः स च दृष्टहेतुभ्योऽसम्भवित्वज्ञानेन हेत्वन्त-  
रानुसन्धाने मनोव्यापाररूपः । तस्य च अलौकिकनन्दन-  
शाखिन आलम्बनविभावः तेषामंगुकादिमत्त्वरूपगुणमहिमा  
उद्दीपनविभावः प्रतीयमानाः स्तम्भस्वेदादयोऽनुभावाः वित-  
र्कादयोव्यभिचारिणः एतैः परिपुष्टो विस्मयोऽद्भुतरसत्वं भजते  
॥ २९० ॥

इदं मघेनः कुलिशं धारासन्निहितानलम् ।

स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥ २९१ ॥

भयानकमुदाहरति । इदमिति । अत्र दैत्यस्त्रीणां भयं  
स्यायिभावः तच्च 'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्'  
इत्युक्तलक्षणम् । रौद्रशक्त्या शास्त्रवादेरनिष्टजननसामर्थ्येन,  
चित्तवैक्लव्यदं चित्तवैक्लव्यजनकस्वानिष्टतर्कणं । तस्य मघवा

आलम्बनविभावः निरुक्तरूपं कुलिशमुद्दीपनविभावः गर्भपा-  
 तोऽनुभावः प्रतीयमाना आवेगससोहादयो व्यभिचारिणः  
 एतः परिपुष्टो भयस्त्रायिभावो भयानकरसत्वं भजते । इत्येते  
 शृङ्गारादयोऽष्टौ रसा दर्शिताः, रसानामष्टमात्रसंख्यकत्वञ्च  
 नाद्याभिप्रायेण 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता इत्युक्तेः, अव्यकाव्ये  
 शान्तोऽपि रसः सम्भवति यदुक्तं, 'न यत्र दुःखं न सुखं न  
 चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा । रतः स शान्तः कथितो  
 मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधान' इति, सचाप्रदर्शितोऽपि  
 ज्ञेयः यथा, 'अद्वै वा हारे वा कुमुदशयने वा दृषदि वा मणौ  
 वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा । हृणे वा स्त्रेणे वा  
 मम समदृशो यान्तु दिवसाः कदा पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति  
 प्रलपतः । अत्र शमोनिर्वदो वा स्त्रायिभावः वस्तुमात्रस्यानि-  
 त्यत्वं भगवान् शिवो वा आलम्बनविभावः पुण्यारण्यमहापुरुष-  
 मङ्गादय उद्दीपनविभावाः, रोमाञ्छादयोऽनुभावाः, हर्ष-  
 स्मृतिमतिभृतदयादयोऽव्यभिचारिणः । एवं देवादिविषयक-  
 रतिप्रधानीभृतगर्भभिन्नभावानां रसाभासभावाभासभावोद-  
 यभावशान्तिभावसन्धिभावशवलत्वानाञ्च रस्यमानत्वाद्भवद-  
 लङ्कारत्वमिति तेषामुदाहरणानि पञ्चत्रयभिर्या नोक्तानि  
 स्वयं ज्ञातव्यानि ॥ २६२ ॥

वाक्यम्याग्राम्यतायेनिर्माधुर्ये दर्शितोरसः ।

इच्च त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥ २६३ ॥

॥ रसवच्चक्रम् ॥

ननु माधुर्यगुणनिरूपणे मधुरं रमवदित्यनेन रमवत्त्वस्य  
माधुर्यगुणत्वमुक्तम् अत्र त्वलङ्कारत्वमिति कोऽनयोर्भेद इत्या-  
शङ्काह । वाक्यस्येति । अत्र वाक्यस्येति वाच्यस्योपलक्षकं 'वस्तु-  
न्यपि रमस्थितिरित्युक्तेः । अग्राम्यता ग्राम्यत्वदोषाभावममा-  
नाधिकरणालङ्कारादिमत्तेत्यर्थः सैव योनिर्व्यञ्जिका यस्य सः ।  
दर्शित इति 'कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रममर्थे निषिञ्चति ।  
तथाप्यग्राम्यत्वैवेनं भारं वहति भृयसा' इत्यनेनेत्यर्थः । इह-  
त्विति गिरां विभावाद्युपस्थापकवाक्यानाम् अष्टरमायत्ता गृह-  
ङ्काराद्यष्टरसमङ्गावाधीना रमवत्ता रमवदलङ्कारवत्ता स्मृता,  
अयमर्थः रमयञ्जकग्राम्यत्वाभावममानाधिकरणालङ्कारादि-  
मत्त्वस्य माधुर्यगुणत्वं पूर्वमुक्तम् इह तु रमानामेवालङ्कारत्व-  
मतो न माधुर्यरमवतोरभेद इति । अत्राष्टेति परिचयाय  
न तु प्रकृतोपयोगाय रममात्रोपादानेनैवोपयोगसिद्धेरिति  
बोधम् ॥ २६२ ॥

अपकर्त्ताहमस्मीति हृदि ते मासु भृङ्गयम् ।

विमुखेषु न मे खङ्गः प्रहर्त्तुं जातु वाञ्छति ॥ २६३ ॥

एवमुक्त्वा परो युद्धे निरुद्धो दर्पगान्धिना ।

पुंसां केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥ २६४ ॥

॥ ऊर्जस्वि ॥

ऊर्जस्वुदाहरति । अपकर्त्तति । युद्धे पलायमानं शत्रुं  
प्रति कश्चिद्दोरस्याक्रियम् । अत्र युद्धवीररसस्य गर्वास्थो

व्यभिचारिभावः स्याद्यिभावमुत्साहं निगीर्याद्रिक्ततया व्यक्त  
 इत्यूर्जस्विता ऊर्जा बलप्रकाशनमचास्तीति व्युत्पत्तेः, एवञ्चा-  
 यमपि भाव एव 'व्यभिचारी तथाञ्जित इति प्रकाशकदुक्तेः,  
 परन्तूर्जःप्रकाशानादूर्जस्वीति विशेषनाम्ना व्यपदिश्यते । यत्र  
 त्वयमेव स्याद्यिन्युत्साहे निलीयते तत्र वीरो रसः, स च पूर्वा-  
 क्ररसवन्नाम्ना व्यपदिश्यते । यथा 'सुद्राः सन्वासमेते विज-  
 हित हरयः ! तुल्यशक्रेभकुम्भा युग्मद्वेषु लज्जां दधति परममो  
 सायका निष्पतन्तः । सौमित्रे ! तिष्ठ, पात्रं त्वमसि नहि रूपां  
 नन्वहं मेघनादः किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राम-  
 मन्वेषयामि' । अत्र पादत्रयेणोद्रिक्ततया व्यज्यमानोऽपि गर्व-  
 श्चतुर्थपादव्यङ्ग्यस्य रामजयोत्साहाख्यस्यायिभावस्य कुदौ नि-  
 लीयते अतएवेदं प्रकाशकता वीररसोदाहरणत्वेनोपन्यस्तं  
 तस्मादयं रसवदलङ्कार एव । मव्यास्तु रसाभामो भावाभामो  
 वा रसान्तरादेरङ्गत्वमापन्नः सन्तूर्जस्वलङ्कारो भवतीत्याच-  
 क्षते तत्र रुचिरं तथात्वे ऊर्जस्विमंज्ञाया अन्वर्थतानुपपन्नः  
 अलङ्कारमंज्ञानां तथात्वस्यैव नियमात् । विमुखेय्यिति । तथा च  
 हन्यादित्यनुवृत्तौ मनुः 'नायुधव्यसनप्राप्तं नात्तं नातिपरि-  
 चतम् । न भीतं न परावृत्तं मतां धर्ममनुस्मरन्' इति ॥  
 ॥ २६३ ॥

एवमुक्तेति । एवमादिकमिति यथात्र वीरव्यभिचारी गर्व  
 ऊर्जस्वित्वेनोक्तस्तथा रसान्तरव्यभिचारिगर्वोऽप्यूर्जस्वीत्यर्थः ॥

॥ २६४ ॥

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।

यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ २८५ ॥

अथ पर्यायोक्तं लक्षयति । अर्थमिति । इष्टं विवक्षितमर्थं वक्तुर्वैदग्ध्यभङ्गापत्त्या साक्षादाचकशब्देनानाख्यायाप्रतिपाद्य त-  
स्यैव विवक्षितार्थस्य सिद्धये सचमत्कारप्रतिपत्तये यत् प्रका-  
रान्तराख्यानं प्रकारान्तरेण वैदग्ध्यद्योतकवाक्यविशेषोपन्यास-  
भङ्गा व्यञ्जनया प्रतिपादनं तत् पर्यायेण तदर्थकशब्दान्तरेण  
विवक्षितार्थस्योक्तत्वात् पर्यायोक्तमिष्यत इत्यन्वयः । पर्यायता च  
शब्दानामेकार्थप्रतिपादकता, तादृशप्रतिपादकता च एकैव  
वृत्त्येति न नियमः वृत्त्यन्तरेणापि तदर्थप्रतिपादकत्वे पर्या-  
यतानपायात्, विवक्षितार्थश्चात्र क्वचिदाचार्यनियतसम्बन्धि-  
त्वात् वक्त्रादिवैशिष्यप्रतीतिमन्तरेणापि स्रष्टिति प्रयुक्तशब्देन  
व्यज्यते क्वचिच्च वाच्यएव प्रकारान्तरेण व्यज्यत इत्यस्य द्वौ  
भेदौ, एवमस्य व्यङ्ग्यमूलकेभ्योऽलङ्कारान्तरेभ्यो भेदो बोद्धव्यः  
तेषु निरुक्तरूपत्वाभावात्, नच 'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्था-  
नः सन्तु ते शिवाः । ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्'  
इत्यादौ वाच्यव्यङ्ग्ययोगमनागमनयोर्नियतसम्बन्धित्वात् कथ-  
माक्षेपादस्य भेद इति वाच्यं वाच्यनियतसम्बन्धिनेऽपि गमना-  
भावरूपव्यङ्ग्यस्य वक्तृवैशिष्यपर्यालोचनया त्वयि गतेऽहं मरि-  
ष्यामीति द्वितीयाद्द्व्यङ्ग्यपर्यालोचनया च प्रतीयमानत्वेन स्र-  
ष्टिति व्यज्यमानत्वाभावात् । तत्र प्रथमशोदाहरणं 'दशत्यसौ

परमृत' इत्यादि, मन्यकृता दर्शयिष्यते । द्वितीयस्य यथा 'य  
प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रोतिरुज्जिता । मदेनैरावणमुखे  
मानेन हृदये हरेः, । अत्र शक्रेरावणौ मानमदमुक्ताविति  
व्यङ्गं तदेव च प्रकारान्तरेण वाच्यमिति । केचित्तु पर्यायो-  
क्तेऽस्मिन् द्वयोरेव वाच्यव्यङ्गयोः प्रस्तुतत्वं समामाकौ वाच्यस्यैव  
प्रस्तुतत्वम् अप्रस्तुतप्रशंसायां व्यङ्ग्यस्यैव प्रस्तुतत्वमित्येषां मिथो-  
भेद इत्याहुः, तत् प्रसिद्धेदाहरणविरुद्धमित्युपेक्षितम् ॥ २६५ ॥

दशत्यसौ परमृतः सहकारस्य मञ्जरीम् ।

तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम् ॥ २६६ ॥

सङ्गमय्य सखीं यूना सङ्केते तद्रतोत्सवम् ।

निर्वर्त्तयितुमिच्छन्त्या कयाप्यपहृतं ततः ॥ २६७ ॥

॥ इति पर्यायोक्तम् ॥

तत्र वाच्यव्यङ्गयोर्नियतसम्बन्धित्वे पर्यायोक्तमुदाहरति ।  
दशत्यसाविति । दशति दंशनेन विनष्टां करोति, सहकारस्येति  
कुञ्जादहिःप्ररूढस्येत्यर्थः, तत एव वक्त्रा वहिर्गमनसम्भवात्  
वारयिष्यामि निवारयेयं, स्वैरमास्यतां सविश्रम्भं स्योयताम् ।  
अत्र जनवत्प्रदेशे सुरतोत्सवः सप्रतिबन्ध इति कुञ्जात्  
स्वस्यापसरणं सख्या इष्टं तस्य च इतोऽहं गच्छामिति वाचक-  
शब्देन प्रतिपादने वक्त्रा अवैदग्ध्यं न वा चमत्कारः अतः  
परमृतवारणप्रकारेण तद् व्यक्तिं नीतमिति वैचित्र्यातिशयः,  
अत्र वाच्यं दूरस्थस्य परमृतस्य वारणं प्रतीयमानगमनं विना-



नुपपन्नमिति वाच्यव्यङ्ग्योर्नियतसम्बन्धित्वं ततश्चान्वयबोध-  
समकाल इव व्यङ्ग्यस्य गमनस्य प्रतीतिः । एवं 'सृष्टास्ता-  
नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः । सावज्ञं पारिजातस्य  
मञ्जर्या यस्य सैनिकैः' । अत्र हयग्रीवेण स्वर्गा विजित इति  
विवक्षितोऽर्थस्तन्नियतसम्बन्धिना तत्सैनिकानां पारिजातमञ्ज-  
रोमावज्ञस्यर्शनरूपेण वाच्यार्थेन झटित्येव व्यक्तिं नीत इति  
पर्यायोक्तमेव ॥ २६६ ॥

श्लोकस्यास्य प्राकरणिकार्थमप्रतिपाद्य लक्षणसमन्वयो दुर्बोध  
इति तं विशदयति । सङ्गमयेति । यूना कामुकेन सह,  
सङ्केते सङ्केतस्थाने, तद्रतोत्सवं तयोः सुरतोत्सवं निर्व्वर्त्तयितुं  
स्वापसरणव्यञ्जनेन निर्जनतया सविश्रम्भं सम्पादयितुम् ॥  
॥ २६७ ॥

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।

तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥ २६८ ॥

अथ समाहितं लक्षयति । किञ्चिदारभमाणस्येति । कि-  
ञ्चित् कार्यमारभमाणस्य किमपि स्वरूपयोग्यं कारणमवलम्ब्य  
कर्त्तुमुद्यतस्य कर्त्तुस्तस्य कार्यस्य यत् साधनं तत्कार्यापधायक-  
कारणान्तरं तस्य या दैववशादकस्मात् पुनः समापत्तिः स-  
म्यक् प्राप्तिः दैवात् कारणान्तरप्राप्त्या अक्षेणेनारम्भकार्यस्य  
यत् समाधानमित्यर्थः तत् कार्यसमाधानरूपत्वात् समाहित-  
माङ्गरित्यन्वयः । नव्यास्तु इमं समाधिनामकं, भावशान्तिस्तु

समाहितनामिकामाहुः, अत्र साधनपदं साधनान्तरपरं तत  
 एव वैचित्र्यं बोध्यं, स्पष्टमुक्तं प्रकाशकृता 'समाधिः सुकरं  
 कार्यं कारणान्तरयोगतः' इति । अलङ्कारत्वञ्चास्य वर्ण्यमान-  
 त्वेन वाच्यशोभाजनकत्वाद्बोध्यम् । अत्र दैववशादिति न नि-  
 यमः बुद्धिपूर्वं कारणान्तरावलम्बनेन कार्यसमाधानेऽप्यस्य  
 भावात् । तदुक्तं भोजराजेन 'कार्यारम्भे सहायाग्निर्देवादैव-  
 कृतेह या । आकस्मिकी बुद्धिपूर्वाभयो वा, तत्समाहितम्'  
 इति ॥ १६८ ॥

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्षं घनगर्जितम् ॥ १६९ ॥

॥ समाहितम् ॥

उदाहरति । मानमस्या इति । मानिन्याः पादयोः पत-  
 नमपि माननिराकरणस्य कारणं, तदुक्तं 'साम भेदञ्च दानञ्च  
 नत्युपेचे रसान्तरम् । तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति  
 क्रमात्' इति । परन्तु नैतदुपधायकं तेन मानभङ्गाभावे उपे-  
 चादेरपि कर्तव्यत्वेनाभ्यनुज्ञानात्, घनगर्जितूपधायकमेव  
 अत्यन्तोद्दीपकत्वात् तथाचात्र पादपतनरूपकारणमवलम्ब्य  
 मानभङ्गार्थं प्रवृत्तस्य देवादुदीर्षेन घनगर्जितरूपेण कार-  
 णान्तरेणाक्षेपेण मानभङ्गरूपकार्यसमाधानमिति समाहितम् ॥  
 ॥ १६९ ॥

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनूत्तमम् ।

उदात्तं नाम तं प्राङ्गलङ्कारं मनीषिणः ॥ ३०० ॥

अथोदात्तं लक्षयति । आशयस्तेति । आशयो मनोव्या-  
पारविशेषः अभिप्राय इति यावत् । आशयः स्यादभिप्राय इति  
मेदिनी । तस्य, तथा विभूतेः सम्पत्तेर्वा यदनुत्तमं नास्त्यु-  
त्तमं यस्मादिति लोकातीतमित्यर्थः, महत्त्वमाधिक्यं वर्णयति  
इति शेषः तमलङ्कारमुदात्तार्थवर्षनरूपत्वादुदात्तं नाम प्रा-  
ङ्गरित्यन्वयः । वर्षनीयस्य महाशयत्ववर्षनं लोकातिशयसम्प-  
त्तिवर्षनं वा द्विविध उदात्तालङ्कार इत्यर्थः । नव्यास्तु प्र-  
स्तुतस्याङ्गत्वेन वर्ण्यमानं महतां चरितमप्युदात्तं वदन्ति,  
यदाङ्गः यदापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् इति ।  
यथा 'नाभिप्रभिन्नाम्यरूहामनेन संस्तुयमानः प्रथमेन धात्रा ।  
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिगते' ।  
अत्र प्रस्तुतस्य समुद्रस्याङ्गत्वेन भगवतो लोकसंहरणपूर्वक-  
शयनरूपचरितं वर्णितम्, इदमपि प्रस्तुतस्य माहात्म्यातिशय-  
व्यञ्जकत्वात् लोकातीतविभूतिवर्षनरूपमेवेति पृथक्त्वेनोप-  
न्यासो ग्रन्थकृता न कृतः ॥ ३०० ॥

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः ।

यो रावणशिरश्चेदकार्यभारेऽप्यविक्रवः ॥ ३०१ ॥

तचाशयमहत्त्वमुदारति । गुरोरिति । यो रावणस्य देवा-  
दिभिरजेयस्यापि निशाचरपतेः शिरश्चेदरूपं यत् कार्यं तद्रू-

पोभारोनिर्वाह्यं गुरुतरकर्म तत्राप्यविक्रवोऽथाकुलः स राघवः  
 गुरोः पितुः शासनं राज्यं विहाय वनं गच्छेत्त्याजाम्, अत्येतु-  
 मतिक्रमितुं, न शशाकेति व्याजन्मतिगर्भेयमुक्तिः, अत्र रा-  
 वणबधरूपामाध्यसाधनेऽप्यनुश्रुत्वा रामो यद्राज्यच्युतिकरं पितुः  
 शासनं नात्येतुं शशाक तेनास्य धर्मपरतन्वतया लोकातोता  
 महाशयता प्रतीयते ॥ ३०१ ॥

रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतवि म्वशतैर्वृतः ।

ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥ ३०२ ॥

विभृतिमहत्त्वमुदाहरति । रत्नभित्तिष्विति । रत्नभित्तिषु  
 संक्रान्तैः प्रतिफलितैः, कृच्छ्रादतिकथेन, आञ्जनेयेन हनुमता,  
 तत्त्वतो यथार्थतया, कृच्छ्रेण लङ्केश्वरस्य तात्त्विकत्वगृहे प्रति-  
 विम्बशतवृत्तत्वं हेतुः । अत्र रावणस्य वामगृहभित्तीनां प्रति-  
 विम्बग्राहिरत्नमयत्ववर्णनेनातिमहतो विभृतिः प्रतीयते ॥ ३०२ ॥

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।

सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यदः ॥ ३०३ ॥

॥ उदात्तम् ॥

अन्ये लाशयाधिक्ये उदात्तं नाद्रियन्ते तन्मतं दूषयन्नस्य  
 द्वैविध्याभ्युपगमे हेतुं दर्शयति । पूर्वत्रेति । पूर्वत्र गुरोः शास-  
 नमत्येतुमित्युदाहरणे, अत्र रत्नभित्तिषु संक्रान्तरित्यादौ ।  
 अभ्युदयगौरवं विभृतिमहत्त्वं सुव्यञ्जितं स्पष्टतया व्यक्तिं नो-

तम्, इत्यस्माद्धेतोरुदात्तस्य द्वयमपि प्रोक्तं, प्रोक्तमित्यत्र  
व्यक्तमिति क्वचित्पाठः स्फुटं प्रतीयमानमित्यर्थः । विषयद्वैवि-  
ध्येन वैचित्र्यापि द्वैविध्यादलङ्कारस्यास्य द्वैविध्यप्रतिपादनं  
युक्तिमिद्धमेवेति भावः ॥ ३०३ ॥

अपङ्कतिरपङ्कत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।

न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥ ३०४ ॥

अथापङ्कतिं लक्षयति । अपङ्कतिरिति । किञ्चित् किमपि  
प्रकृतस्य गुणक्रियादिरूपधर्ममपङ्कत्यापलप्य असत्यतया प्रति-  
पाद्येत्यर्थः, अनार्थस्य धर्मान्तररूपारोपमाणस्य दर्शनं सत्य-  
त्वेन व्यवस्थापनमपङ्कतिरित्यान्वयः । अत्र प्रकृतधर्मनिषेध-  
पूर्वको धर्मान्तरारोपः, रूपकसामान्ये तु न प्रकृतधर्मनिषेधः,  
तत्रापङ्कवरूपके तु धर्मिणमेव प्रकृतं निषिध्य धर्मन्तरारोप  
इति रूपकादस्य भेदः, एवमुत्प्रेक्षातिशयोक्त्यादौ न कस्यापि  
निषेध इति तेभ्योऽस्य भेदो बोध्यः, यदि च 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलद-  
लवलीलां वितनुते तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति  
तथा । अहन्वन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्तरुणोकटाक्षो-  
ल्कापातत्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम्' । अत्र प्रकृतस्य शशका-  
ङ्कितत्वस्य प्रतिषेधेन तादृशकिणकलङ्काङ्कितत्वप्रतिपादनात्  
मन्येशब्दप्रयोगाच्च प्रकृतनिषेधपूर्वकोत्प्रेक्षाभ्युपगम्यते तदा प्र-  
तीतिरुक्तोऽनयोर्भेदो बोध्यस्तथाहि उत्प्रेक्षायां प्रतीतिः सम्भा-  
वनात्मिका अत्र त्वाहार्यात्मिकेति, एवमाक्षेपे निषेधमात्रं न

त्वारोपः । प्रकृतनिषेधश्च नञादिवाचकशब्दवच्छ्रुत्वादिशब्दे-  
नापि, यथा 'उपवनसहकारोद्भासिमृङ्गच्छलेन प्रतिविशिख-  
मनेनोद्विहितं कालकूटम्' इति, तथा धूमं दधत् प्रकटला-  
ञ्जनकैतवेनेत्यादि, क्वचिन्मयट्प्रत्ययेनापि, यथा 'ताराम-  
यास्तत्र च फेणभङ्गा' इत्यादि, एवम् 'अमुष्मिन् लावण्या-  
मृतसरसि नूनं मृगदृशः स्मरः शर्व्वमुष्टः पृथुजघनभागे  
निपतितः । यदङ्गाङ्गाराणं प्रशमपिशुना नाभिकुहरे शि-  
खाधूमस्येयं परिणमति रोमावलिबपुः' । अत्र वपुःशब्देनापि  
रोमावल्लिनिषेधः, एवं प्रकारान्तरेण व्यञ्जनया च निषेधो  
बोध्यः । एतानि च नवीनाभिमताया अपङ्गुत्या उदा-  
हरणानि, स्वमते तेषु तत्त्वापङ्गुरूपकमेव धर्मिणं प्रकृतं  
निषिध्य धर्म्यन्तरस्यारोपात् धर्मारोप एवापङ्गुतिविषयतायाः  
पूर्वं व्यवस्थापितत्वात् । उदाहरति । न पञ्चेपुरिति । इपु-  
पञ्चकमात्रेणैदृशपीडाजनकत्वासम्भवादिति भावः । पत्रिणां  
वाणानां सहस्रं सहस्रसङ्ख्यत्वमस्तीति शेषः, अत्र स्मरश्च  
धर्मिणः पञ्चेपुताधर्मं प्रतिषिध्य सहस्रवाणतारूपधर्मान्तरा-  
रोपः ॥ ३०४ ॥

चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः ।

सेयमग्निमयी सृष्टिर्मयि, शीता परान् प्रति ॥ ३०५ ॥

शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्व्वात्मनि कामिना ।

आष्यप्रकाशनात्तस्य सेयं विषयनिष्कृतिः ॥ ३०६ ॥

क्रमेण भेदान् दर्शयन् विषयापङ्कतिमाह । चन्दनमिति ।  
परान् संयोगिनः प्रति शीता शीतला, मेयं चन्दनादिरूपा  
सृष्टिर्मयि विरहिणि अग्निमयो अग्निवद्वाहिकेत्यन्वयः ॥

शैशिर्यमिति । अत्र प्रकृतस्य चन्दनादेर्निषेधारोप-  
धर्मयोः शैत्यतापकत्वयोर्व्यवस्थितविषयत्वप्रतिपादनादियं वि-  
षयनिष्कृतिर्विषयापङ्कतिः । अत्र नञाद्यप्रयोगाच्छैत्यस्य नि-  
षेधो व्यङ्ग्यः ॥ ३०५ ॥ ३०६ ॥

अमृतस्यन्दिकिरणश्चन्द्रमा नामतो मतः ।

अन्य एवायमर्थात्मा विपनिष्यन्दिदीधितिः ॥ ३०७ ॥

इति चन्द्रत्वमेवेन्दौ निवर्त्यार्थान्तरात्मता ।

उक्ता स्मरार्त्तेनेत्येषा स्वरूपापङ्कतिर्मता ॥ ३०८ ॥

स्वरूपापङ्कतिमाह । अमृतेति । चन्द्रमा नामतः संज्ञायां  
चन्द्रादिसंज्ञामात्रप्रवृत्तये इत्यर्थः, अमृतस्यन्दिकिरणो मतः  
अमृतस्यन्दिकिरणैराह्लादकत्वेन भ्रमविषय इत्यर्थः, न त्वर्थतः,  
तस्यामृतस्यन्दिकिरणैराह्लादकत्वं तत्त्वतो नास्त्यर्थः, अय-  
मर्थः शब्दमात्रस्य व्युत्पत्तिमिदुत्वमतेन चन्द्रचन्द्रमःप्रभृति-  
• संज्ञाशब्दानां चन्दति किरणैराह्लादयतीति चन्द्रः, चन्द्रः सन्-  
मस्यति परिणमत इति चन्द्रमाः इत्यादिव्युत्पत्तिनिबन्धनं  
प्रवृत्तिमात्रं न तु तत्रेषां शक्तिः यथा गृहादिवाचकानां  
मण्डपादिशब्दानां मण्डपानकर्त्तृदो, तस्मादिन्दो चन्द्रादि-  
प्रयोगो ह्येव न यौगिक इति, एवं चन्द्रस्यामृतस्यन्दि-

किरणैराह्लादकत्वस्वरूपं निषिध्य आरोप्यं दर्शयति । अन्य एवा-  
यमिति । अर्थात्मा चन्द्रादिपदस्य समुदायवृत्तिप्रतिपाद्यार्थ-  
भूतोऽयमन्य एव तादृशाह्लादकभिन्न एव, कीदृशः स इत्याह  
विषनिष्यन्दिदीधितिरिति विषनिष्यन्दिकिरणत्वमवारोप्यं,  
तस्मादत्रापि धर्मस्यैव निषेधो धर्मान्तरस्यैव चारोप इति तत्त्वा-  
पङ्गवरूपकाङ्गदः । नाम नो मत इति पाठे तु नामेति प्राका-  
शे, नो इति निषेधे, चन्द्रमसोऽमृतस्यन्दिकिरणत्वस्वरूपं प्रवा-  
दसिद्धमप्यनुभवाकलितत्वान्नास्त्येवेत्यर्थः । अन्य एव अन्यस्वरूप  
एव किं तत् स्वरूपमित्याह अर्थात्मेति । अत्रास्त्येत्याहार्थम्  
अस्य अर्थतो वस्तुत आत्मा स्वरूपं विषनिष्यन्दिदीधितिः  
विषनिष्यन्दिदीधित्वमस्य तात्त्विकं स्वरूपमित्यर्थः, अर्था  
वास्तविक आत्मा स्वरूपं यस्येति बङ्गव्रीहिणा अर्थात्मेत्यय-  
मित्यस्य विशेषणं वा ॥ ३०७ ॥

इतीति । चन्द्रत्वममृतस्यन्दिकिरणैराह्लादकत्वस्वरूपं यदि  
आह्लादे इति चदधातुना चन्द्रपदसिद्धेरिति भावः । एव-  
कारस्य निवर्त्येत्यनेनान्वयः निषेधानन्तर्येणैवारोपस्य वैचि-  
त्रजनकत्वमितिप्रतिपादनायावधारणम्, एतेन क्वचिदपङ्गव-  
पूर्वक आरोपः आरोपपूर्वकस्यापङ्गव इति केषाञ्चिद्भेदक-  
रणं प्रत्युक्तम् । अर्थान्तरात्मता विषनिष्यन्दिकिरणत्वरूप-  
स्वरूपान्तरवत्ता, उक्ता आरोपिता । स्वरूपापङ्गुतिरिति  
स्वं कथ्यतेऽनेनेति स्वरूपं नैसर्गिकगुणक्रियादिरूपोधर्मः तन्नि-  
षेधपूर्वकेयमपङ्गुतिरित्यन्वर्थता, क्वचित्तु अर्थान्तरात्मतेत्यत्र



अर्थान्तरात्मनेति उक्तेत्यत्र च उक्तमिति पाठः तत्र उक्तमिति भावप्रयोगः ॥ ३०८ ॥

उपमापङ्गुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।

इत्यपङ्गुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः ॥ ३०९ ॥

॥ अपङ्गुतिचक्रम् ॥

उपमापङ्गुतिरिति । उपमायाः सादृश्यस्यापङ्गुतिरूप-  
मापङ्गुतिः सादृश्यापङ्गवपूर्वकसादृश्यातिशयस्यापनरूपेत्यर्थः,  
उपमास्वेव दर्शितेति 'न जातु शक्तिरिन्द्रास्ते मुखेन प्रति-  
गर्जितुम् । कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा' इत्यु-  
पमाभेदेषु मध्ये प्रतिषेधोपमायामित्यर्थः, अत्र हि इन्दुप्रति-  
योगिकस्य यत्किञ्चित्सादृश्यस्य प्रतिषेधेन सादृश्यातिशयस्य  
स्यापनम् । तत्त्वापङ्गवरूपकन्वपङ्गुतितो भिन्नविषयमिति तत्रैव  
प्रतिपादितम् । इतीति अनया दिशा अपङ्गुतिभेदानां वि-  
स्तरो लक्ष्येषु लक्ष्यः स्वयं ज्ञेय इत्यन्वयः । उपमापङ्गुतिवद-  
लङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतवोऽपरेऽप्यपङ्गुतिभेदा बोद्धव्या  
इत्यर्थः, तत्र उत्प्रेक्षापङ्गुतिर्यथा 'अशुक्लेन सुदृशो जत-  
पावकधूमकलुषाच्याः । अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्य-  
पूर इव' इति, एवमन्येऽपि बाध्याः ॥ ३०९ ॥

स्निष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।

तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥ ३१० ॥

अथ शब्दार्थगतत्वेन द्विविधं श्लेषमेकेनैव लक्षणेन लक्षयति । श्लिष्टमिति । अनेकार्थमभिधया वृत्त्या युगपदनेकार्थप्रतिपादकपदवत् तथा एकरूपान्वितम् अर्थभेदेन भिन्नत्वेऽपि युगपदुच्चारणविषयतामापन्नेनैकेन स्वरूपेण युक्तं वचो वाक्यं श्लिष्टं श्लेषालङ्कारवदित्यन्वयः, इष्टमिति वक्रोक्तिरूपेषु प्रायः सर्वेष्वप्यलङ्कारेषु शोभातिशयजनकतया कविभिरभिलषितमित्यर्थः, यथा वक्ष्यति 'श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् । भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' इति । श्लेषश्च एकतावभासहेतुर्निरन्तरमन्वविशेषः स च प्रकृते शब्दयोरेकप्रयत्नाच्चार्यत्वरूपः, अर्थयोश्चैकप्रयत्नाच्चार्यमाणशब्देनैककालबोधत्वरूपः, शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेनार्थयोश्चैकवृत्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेष इत्यन्ये । श्लेषद्वयश्चैतदेकत्रैव सम्भवति तथा हि यत्र शब्दस्य नानार्थत्वं तत्रार्थयोः श्लिष्टत्वं विद्यतएव शब्दस्यार्थभेदेन शब्दभेद इति नयेन विभिन्नत्वाच्छब्दयोरपि श्लिष्टत्वम्, अतएव शब्दश्लेषस्यास्य शब्दालङ्कारतया शब्दालङ्कारमध्ये लक्षयितुमौचित्येऽप्यर्थश्लेषाविनाभावित्तेनार्थालङ्कारमध्ये निरूपणं कृतम् । न च नानार्थकशब्दश्लेषे शब्दस्यैव वैचित्र्यबोधोपायत्वेन मुख्यत्वाच्छब्दालङ्कारमध्ये निरूपणमुचितमिति वाच्यं शब्दस्यार्थद्वयप्रतीतिमाधायैव वैचित्र्यजनकत्वेनार्थसापेक्षतया स्वतो वैचित्र्यजनकत्वेन मुख्यत्वाभावात् । शब्दस्यानेकार्थत्वञ्चाभिधया वृत्त्या युगपदनेकार्थप्रतिपादकत्वं तच्च यत्रानेकार्थसङ्केतितस्यापि शब्दस्य शक्तिसङ्कोचकानां

संयोगविप्रयोगादीनामभावस्तत्रैव सम्भवति यत्र तु तेषां स-  
 ज्जावस्तत्र तैरभिधायः सङ्कोचितत्वेन युगपदर्थद्वयप्रतीतेरभा-  
 वान्न श्लेषः, उक्तञ्च 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।  
 अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमौचित्यौ  
 देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्थानवच्छेदे विगेषस्यति-  
 हेतवः' । इति यत्र च संयोगादिप्रतिरोधितयाभिधया एक-  
 स्यैवार्थस्य प्रतीतौ जातायां पश्चाद्वाञ्जनयार्थान्तरप्रतीतिस्तत्रापि  
 न श्लेषः अभिधया युगपदर्थद्वयप्रतीतेरभावेन वैचित्र्याभावात्,  
 तथाविधस्यत्वे तु ध्वनित्वमेव यथा 'भद्रात्मनो दुरधिरोहत-  
 नोर्विशालवंशान्नतेः कृतशिलीमुखमंग्रहस्य । यस्यानुपप्लुतगतेः  
 परवारणस्य दानाम्बुमेकसुभगः सततं करोऽभृत्' । अत्र प्रक-  
 रणसङ्कोचितया शक्त्या केवलं वर्णनीयः पुरुषः प्रत्याय्यते पश्चाद्  
 व्यञ्जनया तु हस्तीति नात्र श्लेषः । तादृशार्थस्थानेकत्वञ्च  
 क्वचिद्वस्तुतः क्वचिदेकरूपत्वेऽप्यनेकसम्बन्धित्वाच्च तत्राद्ये शब्द-  
 श्लेषः, द्वितीयेऽर्थश्लेष इति नव्याः, अर्थश्लेषो यथा 'स्तोकेना-  
 न्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् । अहो सुमदृशी वृत्ति-  
 स्तुलाकोटेः खलस्य च' इति, अत्रान्नतिरधोगतिश्चैकैव परन्तु  
 • सम्बन्धिभेदाद्भिन्नत्वेन प्रतीयते, अत्रापि सम्बन्धिभेदेनान्नत्य-  
 धोगत्योरनेकत्वात्तदाचकपदयोरप्यनेकत्वमिति स्वमते लक्षण-  
 समन्वयः । अस्याभङ्गसभङ्गत्वेन प्रथमं भेदद्वयमाह । तदभिन्न-  
 पदमिति । तद्वचः अभिन्नपदं शक्यतावच्छेदकस्यैकत्वे नानात्वे वा  
 अभिन्नप्रकृतिप्रत्ययसमासघटितत्वेनाभिन्नपदवत् तथा भिन्न-

पदानां विभिन्नप्रकृत्यादिवत्पदानां प्रायो बाहुल्यं यत्र तत् ।  
 तत्राभिन्नपदके वाक्येऽभङ्गश्लेषः भिन्नपदके सभङ्गश्लेषः सभङ्ग-  
 श्लेष एवाधिकचमत्काराधायकत्वात् कविभिर्बाहुल्येन प्रयुज्यत  
 इति प्रायपदोपन्यासः । अन्ये तु वर्णप्रत्ययादिगतत्वेनास्याष्ट-  
 विधत्वमाहुयथा 'वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ।  
 श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः' इति । तत्र वर्णश्लेषो  
 यथा 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति वहुमाध-  
 नता । अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करमहस्रमपि' ।  
 अत्र विधाविति विधिविधुशब्दयोरिकारोकारयोः श्लेषः, एवं  
 प्रत्ययादिश्लेषो बोध्यः ॥ ३१० ॥

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।

राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः ॥ ३११ ॥

अत्राभिन्नपदमुदाहरति । असाविति । उदयमुन्नतिमुद-  
 याचलञ्च, कान्तिमान् कमनीयः रश्मिमांस्य, रक्तमण्डलाऽन्  
 रक्तप्रकृतिकः आलाहितविम्बश्च, राजा नृपञ्चन्द्रश्च, मृदुभि-  
 रनुद्देशकरैः शीतलैश्च, करैराजयाज्ञभागैः किरणैश्च । अत्र  
 प्रकरणादिनियामकाभावात् द्वावपि नृपचन्द्रौ वाच्यौ, उद-  
 यादिपदानि च प्रकृतिप्रत्ययादीनामभिन्नत्वादभिन्नान्येवेत्य-  
 भङ्गश्लेषः ॥ ३११ ॥

दोषाकरेण सम्बध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना ।

राज्ञा, प्रदोषो मामित्यमप्रियं किं न बाधते ॥ ३१२ ॥

भिन्नपदमुदाहरति । दोषाकरेणेति । प्रदोषो रजनीमुखं  
 प्रकृत्यदोषवांश्च कश्चित्प्राकरणिकः, अप्रियं प्रियाविरहिणं द्वेष्यञ्च,  
 मामित्यमेवं किं कस्मान्न बाधते यतो दोषाकरेण निशायाः प्रव-  
 र्त्तकेन दोषस्याकरेण च, तथा नचत्रपथवर्त्तिना आकाशस्थितेन  
 चक्षियपथे अपक्षपातव्यवहारे न वर्त्तमानेन च, राज्ञा चन्द्रेण  
 अथ च नृपेण सम्बन्धन् सम्बन्धं प्राप्नुवन् । अत्र दोषाकरेणेत्यादि-  
 पदानि दोषां रात्रिं करोतीति दोषस्याकर इत्यादिव्युत्पत्त्या  
 प्रकृतिप्रत्ययसमासानां भिन्नत्वाद्भिन्नान्येवेति सभङ्गशेषः राज्ञे-  
 त्यत्र त्वभङ्ग एव तदयं सभङ्गाभङ्गात्मकः, अयमपि तृतीय-  
 भेदो नवोनैरङ्गीक्रियते, यदुक्तं 'पुनस्त्रिधा सभङ्गाऽयाभङ्गस्त-  
 दुभयात्मकः' इति । शुद्धसभङ्गोदाहरणन्तु 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं  
 भूषितनिःशेषपरिजनं देव । विलसत्करेणुगहनं संप्रति सम-  
 मावयोः सदनम्' इति । अत्र पृथुनां कार्त्तस्वराणां स्वर्णानां,  
 पृथुकानां शिशूनामात्तस्वरस्य च पात्रं । भूषिता अलङ्कृताः,  
 भुवि उषिताश्च निःशेषपरिजना यत्र तत्, विलसद्भिः करे-  
 णभिर्हस्तिभिः, विले सोदन्तीति विलसत्कामूषिकास्तेषां रेणु-  
 मिश्च गहनमिति सर्वेषामेव स्रष्टृपदानां विभिन्नप्रकृत्यादि-  
 • घटितत्वाद्भिन्नत्वमेव ॥ ३१२ ॥

उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः ।

प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दृश्यन्ते केचनापरे ॥ ३१३ ॥

इत्यमुदाहरणद्वये प्राधान्येन व्यपदेशयोग्यः श्लेषो दर्शितः

संप्रत्यलङ्कारान्तराणामप्ययं चाहतासम्पादक इत्यङ्गभूतं तं दर्शयन्नाह । उपमेति । उपमा चात्र साधारणधर्मप्रयोगवती, तत्र साधारणधर्मस्याभिन्नत्वे अम्भोरुहमिवाताम्रमित्यादिधर्मापमाश्लेषोपमादावर्थश्लेषः, वालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनीति समानोपमायान्तु शब्दश्लेषः । रूपकमपि साधारणधर्मप्रयोगवत् श्लिष्टरूपकादिकम् । आक्षेपश्च 'अमृतात्मनि पद्मानां देष्टरि श्लिग्धतारके । मुखेन्द्रे तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना' इत्यादि श्लिष्टाक्षेपः । व्यतिरेकोऽपि साधारणधर्मप्रयोगवान्, न च 'त्वं समुद्रश्च दुर्वारावित्यादिसश्लेषव्यतिरेक एव व्यतिरेकपदेनोच्यत इति वाच्यम् एकव्यतिरेकादावपि साधारणधर्मसद्भावेन श्लेषस्यानपायात् । आदिना अर्थान्तरन्याससमासोक्त्यादीनां परिग्रहः, दर्शिता इति उपमादीनां निर्व्वहकतया अङ्गत्वेन दर्शिता इत्यर्थः । केचनेति अलङ्कारान्तरेष्वङ्गतामापन्ना अङ्गभूतावेत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिद्विरुद्धक्रियोऽपरः ।

विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि ॥ ३१४ ॥

नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधो विरोध्यपि ।

तेषां निदर्शनेष्वेव रूपमाविर्भविष्यति ॥ ३१५ ॥

तान् क्रमेणादिशति । अस्त्यभिन्नक्रिय इति । तेषामभिन्नक्रियादिश्लेषाणां, निदर्शनेषु वक्ष्यमाणोदाहरणेषु, रूपं स्वरूपम् ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥

वक्राः स्वभावमधुराः शंसन्त्यो रागमुल्लवणम् ।

दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान् ॥३१६॥

तत्राभिन्नक्रियश्लेषमुदाहरति । वक्रा इति । वक्रास्त्रिर्यक्  
चालिताः कुटिलभाषिण्यश्च, स्वभावेन मधुराः स्पृहणीयाः  
अरुचवादिन्यश्च, उल्लवणमत्यधिकं रागं नायिकाया अनुरागं  
शंसन्त्यः सृचयन्त्यः कथयन्त्यश्च, कान्ताभिः प्रेषिताः चित्राः  
आनयनार्थं प्रयुक्ताश्च, दृशश्चक्षुषि, दूत्यः मखीप्रभृतयः 'दूत्यः  
मखी नटी दामो धात्रेयो प्रतिवेशिनी । बाला प्रब्रजिका कारुः  
शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा' इत्युक्तेः । कर्षन्ति आवर्जयन्ति, अत्र  
वक्रादिविशेषणानां श्लिष्टता, विशेष्यभूतानां दृशां दूतीनाञ्च  
कर्षणक्रिया एकैवेत्यभिन्नक्रियत्वं, श्लेषस्य तथात्वञ्च परम्परया  
स्वाश्रयविशेषणानां विशेष्ययोर्दृग्दूत्योरेककर्षणक्रियावत्त्वात्,  
अत्र च वक्ष्यमाणस्वरूपायास्तुल्ययोगितायाः सद्भावात् श्लेषो-  
ऽयं तस्या निर्व्वाहकत्वादङ्गम्, एकया क्रियया वाक्यद्वयदीप-  
नाद्विद्यमानस्य दीपकस्याङ्गमित्यन्ये ॥ ३१६ ॥

मधुरा रागवर्द्धिन्यः कोमलाः कोकिनागिरः ।

आकर्ण्यन्ते मद्कलाः श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः ॥ ३१७ ॥

अविरुद्धक्रियश्लेषमुदाहरति । मधुरा इति । मधुराः स्वर-  
माधुर्यवत्यः माधुर्याख्यनायिकालङ्कारवत्यश्च, माधुर्यञ्च 'सर्वा-  
वस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता' इत्युक्तलक्षणं, रागवर्द्धिन्यः  
उद्दीपकत्वात् प्रणयप्रवागनाच्च अनुरागं वर्द्धयन्त्यः, कोमलाः

सुश्राव्याः मृदङ्गश्च, मदकलाः वसन्तप्रारम्भेण मदोन्मत्ताः  
 सौभाग्याद्यवलेपजविकारोन्मत्ताश्च, मदश्च 'मदो विकारः सौ-  
 भाग्ययौवनाद्यवलेपज' इत्युक्तरूपः । अत्र कोकिलागिर आ-  
 कर्ष्यन्ते असितेक्षणाश्च सिध्यन्त इत्याकर्षणक्षेपणक्रिययोरेक-  
 कालीनत्वसम्भवेनाविरोधः, क्षेपस्य तादृशक्रियामम्बन्धश्चात्रापि  
 परम्परया, स्वाश्रयविशेषणविशेष्ययोः कोकिलालापसितेक्षण-  
 योः कर्मत्वेनाविरुद्धक्रियाद्वयसम्बन्धात् । अत्रापि क्षेपस्य तुल्य-  
 योगिताया अङ्गत्वम् । केचित्तु कोकिलागिर इत्यसितेक्षणा-  
 विशेषणम्, असितेक्षणा इति च असिते अनष्टे विरहिजने  
 ईक्षणं यत्रेति व्युत्पत्त्या कोकिलागिर इत्यस्य विशेषणमि-  
 त्याहुः ॥ ३१७ ॥

रागमादर्शयन्नेष वारुणीयोगवर्द्धितम् ।

तिरोभवति घर्मांगुुरङ्गजस्तु विजृम्भते ॥ ३१८ ॥

विरुद्धक्रियाद्वयक्षेपमुदाहरति । रागमिति । वारुणी  
 पश्चिमदिक् मदिरा च, तस्या योगेन सम्बन्धेन उपयोगेन च  
 वर्द्धितं, रागं लौहित्यम् अनुरागश्च, आदर्शयन् प्रकाशयन्  
 वर्द्धयंश्च, घर्मांगुः सूर्यास्तिरोभवत्यस्तं गच्छति, अङ्गजः कामस्तु  
 विजृम्भते उद्रेकं गच्छति । अङ्गजपक्षे आदर्शयन्निति हेतौ शब्दः  
 आदर्शयितुमित्यर्थः । अत्र तिरोभवनविजृम्भणक्रिययोर्विरोधः,  
 क्षेपे च पूर्ववत् परम्परया तत्सम्बन्धः । तुल्ययोगितैवात्र  
 प्रधानम् ॥ ३१८ ॥



निस्त्रिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्रता ।

शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वञ्च वर्तते ॥ ३१६ ॥

मनियमश्लेषमाह । निस्त्रिंशत्वमिति । निस्त्रिंशत्वं त्रिंशद-  
ङ्गुल्यधिकपरिमाणवत्स्वङ्गत्वं निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति व्यु-  
त्पत्तेः, निर्द्दयत्वञ्च 'अथ निस्त्रिंशः खड्गे ना निर्द्दये त्रिषु' इति  
भेदिनी । असावेव न तु हृदये । वक्रता आकर्षणेनाशरत्नता  
वामता च धनुष्येव न तु व्यवहारे, मार्गणत्वं वाणत्वं याचक-  
त्वञ्च शरेष्वेव न त्वात्मनि, अत्रैवकारैर्निस्त्रिंशतादिपदानां द्वि-  
तीयार्था व्यवच्छेदेषु निषिद्धतया प्रतीयन्त इति श्लेषसद्भावः,  
सचैवकारेण नियमद्योतनान्नियमवान्, नियमश्च क्वचिद्योत-  
काभावेऽपि सामर्थ्यादवमोयते, यथा 'यस्मिंश्च राजनि जित-  
जगति पालयति महो चित्रकर्मसु वर्णमङ्गरास्त्रापेषु गुणच्छे-  
दा' इत्यादि, अत्र न प्रजास्वित्यादिव्यवच्छेदानां स्फुटं प्रती-  
यमानत्वादेवकाराभावेऽपि चित्रकर्मस्वेवेत्यादिनियमः प्रतीयत  
इत्ययमपि श्लेषो नियमवानेव, अत्र च परिसङ्ख्यालङ्कारः प्रधानं  
स च ग्रन्थकृतानुक्तोऽपि स्फुटं वैचित्र्येऽन्यैरुक्तोऽभ्युपगन्तव्यः, यदुक्तं  
'प्रश्नाद्प्रश्नतो वापि कथितादस्तुनो भवेत् । तादृगन्यव्यपो-  
हश्लेषाब्दार्थोऽथवा तदा । परिसङ्ख्या' इति । श्लेषश्चायं  
तदङ्गतया प्रतीयते । न च 'विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पात्तिके  
सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसङ्ख्येति गीयत' इत्यनेन नि-  
यमपरिसङ्ख्ययोर्भेदावगतेः परिसङ्ख्याभ्युपगमे कथमस्य सनि-

यमत्वमिति वाच्यं, मतेऽस्मिन्नन्यथपोहप्रतीतेरेव परिसङ्घात्वा-  
भ्युपगमात् व्यपोहस्य चात्र स्फुटं प्रतीयमानत्वात् ॥ ३१९ ॥

पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति ।

अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिङ्गनेष्वपि ॥ ३२० ॥

नियमाक्षेपरूपेणोक्तिश्लेषमुदाहरति । पद्मानामेवेति । पद्मा-  
नामेव दण्डेषु न तु तव दण्डास्त्रोपायेषु, कण्टकस्त्रीणां रा-  
वयवविशेषः क्षुद्रशत्रूरोमाञ्चय, 'रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च तरो-  
रङ्गे च कण्टकः' इत्युक्तेः । त्वयि रक्षति महीं पालयति मति ।  
अथवेति रागिमिथुनस्यानुरक्तस्त्रीपुंसयोरालिङ्गनेष्वपि कण्टका-  
दृश्यत इत्यन्वयः । अत्र पद्मानामेवेति नियमस्याथवेत्यादिना  
निषेधस्तद्धोषकोक्तियुक्तोऽयमिति नियमाक्षेपरूपेणोक्तिश्लेषः । अत्र  
पूर्वार्द्धे परिसङ्घैव प्रधानम्, अर्द्धद्वये च एकत्र निहितस्य कण्ट-  
कस्य वाक्यद्वयोद्दीपनाद्दीपकं प्रधानमिति श्लेषस्य तदङ्गता ॥  
॥ ३२० ॥

महोभृद्भूरिकटकस्तेजस्वी नियतोदयः ।

दक्षः प्रजापतिश्चासीत् स्वामी शक्तिधरश्च सः ॥ ३२१ ॥

अविरोधिस्त्रेषमुदाहरति । महोभृदिति । महोभृद्राजा  
पर्वतस्य, भूरिकटको बङ्गस्कन्धावारः विस्तीर्णनितम्बस्य । तेज-  
स्वी प्रतापवान् किरणवांस्य, नियतोदयोऽद्याहृतसम्पत्तिः प्रति-  
दिवसं जायमानोद्गमस्य । दक्षः कुशलो मुनिविशेषस्य, प्रजा-

पतिः प्रजापालकः सृष्टिकर्त्ता च । स्वामी प्रभुर्विशाखस्य,  
स्वामी प्रभुविशाखयोरिति मेदिनी, शक्तिधरः प्रभावोत्साह-  
मन्त्रजसामर्थवान् अस्तविशेषधारी च । अत्र महीभृदादि-  
स्त्रिष्टपदार्थद्वयस्य भूरिकटकादिस्त्रिष्टपदार्थद्वयेन मह सम्बन्धे  
विरोधाभावादविरोध्यं श्लेषः स चात्र प्रधानम् ॥ ३२१ ॥

अच्युतोऽप्यवृषच्छेदो राजाऽप्यविदितक्षयः ।

देवोऽप्यिवुधो जज्ञे शङ्करोऽप्यभुजङ्गवान् ॥ ३२२ ॥

॥ श्लेषचक्रम् ॥

विरोधिशेषमुदाहरति । अच्युत इति । अच्युतः सत्यथा-  
च्छुतिरहितो विष्णुश्च, वृषोधर्मा वृषभासुरश्च । राजा नरा-  
धिपश्चन्द्रश्च, क्षयः सम्पत्तिहीनता यत्नरोगश्च । देवो राजा  
सुरश्च, विवुधाविगतपण्डितः देवश्च । शङ्करो मङ्गलकृत् शिवश्च,  
भुजङ्गः षिङ्गः सर्पश्च । अत्राच्युतादिपदद्वितीयार्थे विष्णवादौ  
वृषच्छेद्यादिपदद्वितीयार्थस्याभावाविरुद्ध इति विरोधसहितो-  
ऽयं श्लेषः सच विरोधाभासस्याङ्गम् ॥ ३२२ ॥

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ॥

विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ ३२३ ॥

अथ विशेषोक्तिं लक्षयति । गुणेति । विशेषोवर्षनीयस्य  
वीर्याद्युत्कर्षस्य दर्शनाय प्रतिपादनायैव गुणजातिक्रियादी-  
नां वर्षनीयस्य प्रारिप्सितकर्मसाधने उपकरणभूतानामित्यर्थः

‘आदिना द्रव्यादिपरिग्रहः’ यद्वैकल्यदर्शनं कार्यसिद्धावमुप-  
 योगित्वेनानपेक्षणीयत्वप्रतिपादनं वैफल्येति पाठे स एवार्थः सा  
 विशेषाय गुणादिवैकल्योक्तिरूपत्वाद्विशेषोक्तिरिष्यत इत्यन्वयः ।  
 गुणादीनामिति भेदकथनाय नतु स्वरूपनिर्व्वाहाय, पदा-  
 र्थमात्रगतवैकल्योक्तेरेवास्याः स्वरूपत्वात् । पूर्वाक्तातिशयो-  
 क्तिरपि वर्णनीयोत्कर्षोक्तिरूपैव परन्तु न तत्र गुणादीनां  
 वैकल्यप्रतिपादनमित्यनयोर्भेदः । विभावनातोऽस्याभेदसूदा-  
 हरणव्याख्यानावसरे दर्शयिष्यते । अत्र गुणजातिक्रियाः क्वचि-  
 द्दर्शनीयगताः क्वचित्तदीयोपकरणगताश्च बोध्याः, गुणादिवैक-  
 ल्यञ्च क्वचिच्छब्दं क्वचिद्गम्यं, विशेषदर्शनायैवेत्यवधारणं कथ-  
 मपि विशेषदर्शनाभावे सत्यपि गुणादिवैकल्ये नास्याः सम्भव  
 इति सूचनाय । नव्यास्तु सत्यपि कारणे कार्याभावो विशेषो-  
 क्तिरित्याहुः तत्रालङ्कारसंज्ञानामन्वर्थतयैव प्राचीनैः प्रयुक्त-  
 त्वेन हेतुसमानाधिकरणकार्याभाववर्णने विशेषप्रतीतेरभावा-  
 द्विशेषोक्तिरिति संज्ञाभ्युपगमे हेतुः प्रयुक्तः, नच विशेषोवैचित्र्यं तच्च  
 सत्यपि कारणे कार्याभावोपनिबन्धं विद्यत एवेति विशेषोक्ति-  
 संज्ञाया अन्वर्थतेवेति वाच्यम्, अलङ्कारमात्रस्यैव वैचित्र्या-  
 त्मकत्वेनापमादावपि विशेषोक्तिसंज्ञायाः प्रसङ्गात्, अथ सति  
 हेतौ कार्याभावप्रतिपादनजन्यं स्फुटं प्रतीयमानमपि वैचित्र्यं  
 त्वयापि कथं संज्ञान्तरेणालङ्कारतया न संगृहीतमिति चेन्मेवं  
 तत्रास्माकमतिशयोक्तेरभ्युपगमात् कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्य-  
 यवद्वाप्यतिशयोक्त्यभ्युपगमस्यौचित्यात् । तस्माद्गुणादिवैकल्य-

वर्षमेन वर्षनीयस्य विशेषकथनमेव विशेषोक्तिरिति युक्ततरं ।  
यत्त्वित्यत्र यत्रेति क्वचित्पाठः यत्र वैचित्रे इत्यर्थः ॥ ३२३ ॥

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।

तथापि जितमेवासीद्मुना भुवनत्रयम् ॥ ३२४ ॥

तत्र गुणवैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न कठोरमिति । न कठोरं न वा तीक्ष्णमिति आयुधस्य पुष्पमयत्वादिति भावः, अत्रायुधस्य कठोरत्वं तीक्ष्णत्वञ्च गुणमनपेक्ष्यैव कामेन भुवनत्रयं जितमिति जेतुः कामस्य वीर्योत्कर्षः प्रतीयते । अत्रायुधगतकठोरत्वादिगुणस्य भुवनजयं प्रति प्रसिद्धहेतुत्वाभ्युपगमे तद्भाष्ये तादृशकार्यवर्षने उपधायककारणान्तरस्य कार्यस्वाभाविकत्वस्य वा विभावनीयत्वे तात्पर्याभावान्न विभावनायाः सम्भवः, विनोपकरणं क्रियानिष्पादकतया कर्तुरुत्कर्षप्रतिपादनस्यैवात्र तात्पर्यविषयत्वादित्यनयोर्भेदो बोध्यः । अत्रोपकरणगतगुणस्य वैकल्यम् ॥ ३२४ ॥

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसम्भवा ।

तथाप्येषा तपोभङ्गं विधातुं वेधसोऽप्यलम् ॥ ३२५ ॥

जातिवैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न देवेति । अत्र देवत्वं गन्धर्वत्वञ्च जातिविशेषः तन्नैरपेक्षेण तपोभङ्गसामर्थ्यवर्षनाद्वर्षनीयनायिकायाः सौन्दर्यादिविशेषः प्रतिपादितः, देव्योगन्धर्वस्य तपोभङ्गं कुर्वन्तीति पुराणप्रसिद्धिः । अत्र वर्षनीयगताया जातिवैकल्यम् ॥ ३२५ ॥

न वद्धा भुक्तुर्नापि स्फुरितोदशनच्छदः ।

न च रक्ताभवद्दृष्टिर्जितञ्च द्विषतां बन्धम् ॥ ३२६ ॥

क्रियावैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न वद्धेति । अत्र प्राकरणिकः कश्चिद्वीरो वर्णनीयः, बन्धनं स्फुरणञ्च क्रिया, रक्तलन्तुगुण एव, तदत्र क्रियागुणवैकल्यप्रयुक्तयोर्विशेषोक्त्योः सङ्करः । शुद्धक्रियावैकल्यादाहरणन्तु, 'नोपभोगो न वा दानं बन्धूनां भरणं न वा । तथापि गुरुतां धत्ते नृणां संरक्षितं धनम्' इति । अत्रोपभोगादिक्रियामात्रवैकल्यम् । प्रकृते च द्विषञ्जये क्रोधकार्याणां भुक्तुर्बन्धनादीनामनपेक्षणीयत्वप्रतिपादनेन वर्णनीयस्य क्रोधपूर्वन्यत्वव्यक्त्या महावीरत्वरूपविशेषः सूच्यते, अतएवोक्तं रौद्रप्रस्तावे 'रक्तास्यनेत्रता चास्य भेदिनी-युद्धवीरत' इति ॥ ३२६ ॥

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पत्तयः ।

स्त्रीणामपाङ्गदृष्ट्यैव जीयते जगतां त्रयम् ॥ ३२७ ॥

द्रव्यवैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न रथा इति । स्त्रीणां रथादीनि जयसाधनानि न सन्ति तथापि ताभिरपाङ्गदृष्ट्यैव केवलेन कटाक्षेणैव जगत्त्रयं जीयते इत्यस्ययः, अत्र रथादिद्रव्याणां वैकल्यं, लक्षणे आदिपदगृहीतद्रव्यञ्च वैशेषिकमतोक्तद्रव्यं न तु वैयाकरणमतोक्तद्रव्यं रथादिशब्दानामेकव्यक्तिवाचित्वाभावात् । एवमभावादिवैकल्यादाहरणं बोध्यम् । एतानि गुणादिवैकल्यस्य शाब्दत्वे उदाहरणानि ॥ ३२७ ॥

एकचक्रोरथो, यन्ता विकलो, विषमा हयाः ।

आक्रामत्येव तेजसो तथाप्यर्कोनभस्तलम् ॥ ३२८ ॥

सैषा हेतुविशेषोक्तिस्तेजस्यीतिविशेषणात् ।

अयमेव क्रमोऽन्येषां भेदानामपि कल्पने ॥ ३२९ ॥

॥ विशेषोक्तिचक्रम् ॥

इत्थं गुणादिवैकल्येन विशेषोक्तेर्भेदान् दर्शयित्वा प्रकारान्तरेणान्येऽपि भेदाः सम्भवन्तीति प्रतिपादयन् तेषां दिग्दर्शनार्थं हेतुविशेषोक्तिमुदाहरति । एकचक्र इति । यन्ता मारथिररुणः विकलोऽङ्गविकलः अनूरुत्वादिति भावः । विषमाः सप्तमह्याः अशिक्षितत्वादुद्धृताश्च । नभस्तलमतिविस्तीर्णमाकाशमार्गम् । अत्र जगत्त्रयमिति क्वचित्पाठस्तु न मस्य क्पातालादौ सूर्यप्रयाणस्याप्रसिद्धेः । अन्येषामतिविस्तीर्णमार्गप्रयाणे बङ्गचक्रोरथोऽविकलाङ्गो यन्ता अविषमाहयायापेक्ष्यन्ते सूर्यस्य तु तन्नैरपेक्ष्येणापि चिकीर्षितसिद्धिरित्युत्कर्षातिशयः तत्र च हेतुस्तेजस्यीति न हि तेजस्विनः स्वार्थमाधन उपकरणमपेक्षन्ते, अत्र तेजस्यीतिहेतुगर्भविशेषणोपन्यासेन वर्णनीयसूर्यस्य विशेषप्रतिपादनाद्धेतुविशेषोक्तिरियम् । अत्र च रथादिगतबङ्गचक्रत्वादिधर्माणां वैकल्यं गम्यम् ॥ ३२८ ॥

सैषेति । तेजस्यीतिविशेषणात् तेजस्यीतिहेतुगर्भविशेषणादित्यर्थः । हेतुविशेषोक्तिरिति हेतुपन्यासेन वर्णनीयगतविशेषप्रतिपादनादन्वर्थता ॥

अयमेवेति । अयमेव क्रम ईदृश्येव दिक् । तथाचास्मिन्नु-  
दाहरणे यथा हेत्वलङ्कारसम्बन्धेन विशेषोक्तिभेदस्तथा अल-  
ङ्कारान्तरसम्बन्धेनापरेऽपि भेदा बोद्धव्या इत्यर्थः, तथाच  
अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः, द्यूतं हि नाम असिंहासनं राज्य-  
मित्यादि अत्र च रूपकयोगः, पूर्वत्र परिणाम इति विश्व-  
मायः ॥ ३२६ ॥

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित् ।

कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥ ३३० ॥

अथ तुल्ययोगितां लक्षयति । विवक्षितेति । विवक्षिताः  
प्रस्तुतनिष्ठत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टा ये गुणाः स्तुतिहेतवो नि-  
न्दाहेतवो वा धर्मास्तैरुत्कृष्टा विख्यातास्तैः समीकृत्य समकची-  
कृत्य स्तुतिनिन्दार्थं स्तुत्यर्थं निन्दार्थं वा कस्यचित् प्रस्तुतस्य  
यत्कीर्तनं सा प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यगुणयोगित्वप्रतिपादनरूप-  
त्वात्तुल्ययोगितेत्यश्वयः । विवक्षितगुणोत्कर्षरिति पाठे च  
विवक्षितगुणैरुत्कर्षः ख्यातिर्येषामिति बहुव्रीहिः । अत्र बहु-  
वचनमविवक्षितं द्वाभ्यामेकेन वा समीकरणेऽस्याः सद्भावात् ।  
एवं विवक्षितगुणोत्कृष्टैरप्रस्तुतैरेवेति न नियमः प्रस्तुतेन समी-  
करणेऽप्यस्याः सम्भवात् यथा, 'कटाचा मधुरालापा विलासास्ते  
च ते शुभे । जगज्जये प्रवृत्तस्य कन्दर्पस्य महद्वलम्' अत्र कटा-  
चादयः सर्वेऽपि प्रस्तुताः, एतेन प्रस्तुतयोरेवाप्रस्तुतयोरेव वा  
एकधर्माभिसम्बन्धस्तुल्ययोगितेति केषाञ्चिन्मतं प्रत्युक्तम्, ता-



दृशनियमाभ्युपगमे प्रयोजनानुपलब्धेः वैचित्रस्य च सर्वत्र समा-  
नत्वात्, न च प्रस्तुताप्रस्तुतयोरप्येकधर्मसम्बन्धेन तुल्ययोगिता-  
भ्युपगमे दीपकस्य विषयापहारः स्यादिति वाच्यं स्वमते वाक्या-  
न्तरीयपदस्यानुषङ्गादिना स्वार्थद्वारा वाक्यान्तरार्थादीपकत्वस्यैव  
दीपकालङ्कारत्वात् तत एव च दीपकसंज्ञाया अन्वर्थत्वात् ।  
अथोपमालङ्कारेऽपि स्तुत्यर्थं निन्दार्थं वा विवक्षितगुणाकृष्टेन  
प्रस्तुतस्य समीकरणं साम्यस्य च व्यङ्ग्यतायामुपमाङ्गीकृता तद-  
नयोः समानविषयतापत्तिरिति चेन्नैवं प्रतीतिभेदेनैवानयो-  
र्भेदात् तथा ह्युपमायां वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा सादृश्यस्य प्रतीतिः  
शाब्दी 'दिवाजागर्त्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवोभवान् । असुरास्तेन  
हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः' इत्यादितुल्ययोगोपमादावपि  
व्यञ्जनयोपस्थितस्यापि सादृश्यस्य वृत्तिवेद्यत्वेन शाब्दबोधाभ्युप-  
गमात्, व्यञ्जनाया वृत्तित्वस्य चालङ्कारिकसिद्धान्तसिद्धत्वात्  
प्रकृते तु न तथा, सर्वेषां समकक्षतया विवक्षितगुणान्वयित्वे-  
नैव शाब्दबोधविषयत्वात् पर्यवसाने तु सादृश्यप्रतीतिरिति,  
इत्यञ्च विवक्षितगुणवत्तया प्रसिद्धैः सहाप्रसिद्धस्य वर्णनीयस्य  
समकक्षतया तादृशगुणान्वयित्वकीर्तनेन प्रशंसनं निन्दनं वा  
• तुल्ययोगितेति निर्गलितोल्लेखार्थः । अन्ये तु स्तुतिनिन्दयो-  
रेवात्र प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वं सादृश्यन्तूपसर्जनीभूतमित्यतस्तु-  
ल्ययोगोपमातोऽस्य भेद इत्याहुः ॥ ३३० ॥

यमः कुवेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि ।

विभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम् ॥ ३३१ ॥

तत्र सुतावदाहरति । यम इति । अत्र लोकपालत्वरूपे  
गुणोवर्षनीये राज्ञि वक्रुमिष्टः तेनोत्कृष्टैर्यमादिभिः सह सम-  
कक्षतया तद्गुणभागित्वकीर्त्तनेन राजा सुतः ॥ ३३१ ॥

सङ्गतानि मृगान्तीणां तडिद्विलसितानि च ।

क्षणादयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥ ३३२ ॥

॥ तुल्ययोगिता ॥

निन्दायामुदाहरति । सङ्गतानीति । सङ्गतानि सङ्गमाः ।  
क्षणादयं न तिष्ठन्ति क्षणमात्रं तिष्ठन्तीत्यर्थः । स्वयं स्वस्थानु-  
रागेणैव नतु परानुरागेन घनं निविडं नतु सञ्जयं यथा तथा  
आरब्धान्यपि, लोकनम्रा स्तनाभ्यामित्यादिवत् क्वचिदन्यथा-  
पीति तत्पुरुषः 'अथ च घनैर्मघैः स्वयमारब्धान्यपि । रूपमूल-  
कत्वेनात्र चारुतातिशय इतिप्रतिपादनाय श्लिष्टविशेषणाप-  
न्यासः । अत्राचिरावस्थायित्वगुणोवर्षनीये मृगान्तीमङ्गमं विव-  
क्षितः तद्वत्त्वेन प्रसिद्धैस्तडिद्विलसितैः सह तुल्यतया तद्गु-  
सम्बन्धवर्षनात् स च सङ्गमेनिन्दितः ॥ ३३२ ॥

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।

विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतोयथा ॥ ३३३ ॥

अथ विरोधं लक्षयति । विरुद्धानामिति । विशेषोवर्ष-  
नीयस्योत्कर्षस्तस्य दर्शनायैव, विरुद्धानां विरोधवतां, विरो-  
धानैर्सर्गिकासामानाधिकरण्यं परस्परसामानाधिकरण्यशून्या-

नामित्यर्थः पदार्थानां यत्र वैचित्र्ये संसर्गदर्शनं सामानाधि-  
करण्यप्रतिपादनं स विरोधप्रयोजकत्वाद्विरोधः स्यात् इत्यन्वयः ।  
विरुद्धानां संसर्गस्तत्त्वतो न सम्भवतीति विरुद्धानां वस्तुतो-  
विरोधाभावेऽप्यापाततो विरुद्धत्वेन प्रतिभासमानानामित्यर्थः,  
स्पष्टमुक्तं प्रकाशकता 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच'  
इति । पदार्थानामिति जातिगुणक्रियाद्रव्याणामित्यर्थः तत्र  
जातेजात्यादिभिश्चतुर्भिर्विरोधः, गुणस्य गुणादिभिस्त्रिभिः,  
क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां द्वाभ्यां, द्रव्यस्य द्रव्यैकेनेति विरोधस्य  
दश भेदा अन्यैरुक्ता ज्ञातव्याः । अयमेव शब्दशेषनिबन्धनसंदि-  
ग्धाभास उच्यते यथा 'पूर्व्यादाहते अच्युतोऽप्यवृषच्छेदी-  
त्यादौ, एष च अपिप्रयोगे वाच्यस्तदप्रयोगे व्यङ्ग्यः ॥ ३३३ ॥

कूजितं राजहंसानां वर्द्धते मद्मञ्जुलम् ।

क्षीयते च मयूराणां रूतमुत्क्रान्तसौष्ठवम् ॥ ३३४ ॥

कूजितमिति । अत्रैकस्मिन् शब्दरूपे कर्त्तरि विरुद्धयोरपि  
वृद्धिचयक्रिययोः संसर्गदर्शनं, सम्बन्धिभेदेन शब्दयोर्भिन्नत्वाद्-  
विरोधप्रशमनम्, अनेन च वर्ष्नीये शरत्काले एकजातीययोरपि  
बलाबलकारितया विशेषः प्रतीयत इत्यस्यालङ्कारता ॥ ३३४ ॥

प्रावृषेण्यैर्जलधरैरम्बरं दुर्दिनायते ।

रागेण पुनराक्रान्तं जायते जगतां मनः ॥ ३३५ ॥

प्रावृषेण्यैरिति । दुर्दिनायते श्यामलं भवति । रागेण-

नुरागेण लौहित्येन च, आक्रान्तमित्यत्र उत्सुकमिति कश्चित्पाठः । अत्रानुरागस्य लौहित्येनाभेदाध्यवसायाच्छ्यामत्व-लौहित्यगुणयोरेकजलधरनिष्पाद्यत्वरूपसंसर्गवर्षनेन विरोधः तस्य च श्लेषवशात् प्रशमनम् । अनेन च वर्षनीये प्रावृट्काले कश्चिद्विशेषः प्रतीयते ॥ ३३५ ॥

तनुमध्यं पृथुश्रोणि रक्तौष्ठममिते-गणम् ।

नतनाभि वपुः स्त्रीणां कं न हन्त्युन्नतस्तनम् ॥ ३३६ ॥

पुनरप्येकत्र बहूनां गुणयुग्मानां विरोधोपन्यासे वैचित्र्यातिशय इति ज्ञापनाय तादृशं गुणविरोधमुदाहरति । तनुमध्यमिति । कं न हन्ति न व्याकुलयति । अत्र तनुत्वपृथुत्वयोः, रक्तत्वामित्वयोः, नतत्वोन्नतत्वयोर्गुणयोर्विरोधः, तेषाञ्चाश्रयभेदात् तत्परिहारः । अनेन च वर्षनीयानां स्त्रीणां विशेषः प्रतीयते । तनुत्वपृथुत्वयोः नतत्वोन्नतत्वयोश्च परिमाणरूपत्वाद्गुणत्वम् ॥ ३३६ ॥

मृणालवाङ्ग रम्भोरु पद्मोत्पलसुग्वेशणम् ।

अपि ते रूपमस्माकं तन्वि तापाय कल्पते ॥ ३३७ ॥

मृणालेति । अपीति पूर्वार्द्धगतविशेषणत्रयेऽन्वेति । रूपं वपुः । अत्र मृणालवच्छीतलौ वाङ्ग यत्रेत्याद्युपमितिगर्भवङ्ग-श्रीहौ शीतलत्वगुणतापक्रिययोर्विरोधः, मृणाले एव वाङ्ग यत्रेत्यादिरूपकगर्भवङ्गश्रीहौ तु मृणालादिभिर्वाङ्गादीनामभे-

दाध्यवसायात् मृणालत्वरम्भात्वादिजातिभिस्तापक्रियाया वि-  
रोधः, वक्रुर्विरहित्वाच्च प्रशमनम् ॥ ३३७ ॥

उद्यानमारुतोद्भूताश्रुतचम्पकरेणवः ।

उदश्रयन्ति पान्थानामस्पृशन्तोऽपि लोचने ॥ ३३८ ॥

एषु भावाभिमाने क्रियादिविरोधा दर्शिताः, संप्रत्य-  
भावाभिमाने क्रियाविरोधमुदाहरति । उद्यानेति । उद-  
श्रयन्ति उद्गतवाष्पे कुर्वन्ति । अत्रास्पृशन्तोऽपीति स्पर्शनाभा-  
वेन उदश्रयणक्रियाया विरोधः, स्पर्शनाभावश्च स्पर्शनक्रियाप्र-  
तियोगिकत्वात्क्रियात्मक एव मतेऽस्मिन्नभावानां प्रतियोगि-  
धर्मित्वात् । विरोधप्रशमनञ्चात्र कुसुमरेणूनामुद्दीपकत्वात् ॥  
॥ ३३८ ॥

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी ।

याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभापिणि ! ॥ ३३९ ॥

कृष्णेति । ते दृष्टिरर्जुने पार्थेऽनुरक्ता कृष्णा द्रौपद्यपि  
तद्रूपापीत्यर्थः कर्णावलम्बिनी राधेयाश्रया इति कृष्णारूप-  
द्रव्यस्य राधेयावलम्बनक्रियया विरोधः, तत्प्रशमनन्तु श्लेषवशात्  
यथा कृष्णा अमिता अर्जुना शुक्ला अनु पश्चात् प्रान्तभाग  
इत्यर्थः रक्ता च श्रवणपर्यन्तगामिनी चेति ॥ ३३९ ॥

इत्यनेकप्रकारोऽयमलङ्कारः प्रतीयते ।

॥ विरोधचक्रम् ॥

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥ ३४० ॥

उपसंहरति । इत्यनेकेति । अनेकप्रकारः पूर्वाक्तयुक्ता  
दशविधः । प्रतीयत इत्यत्र अतिशोभत इति कचित्पाठः ॥

अथाप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति । अप्रस्तुतेति । अप्रक्रान्तेषु  
अप्रस्तुतेषु, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, बहुवचनमविवक्षितं, या स्तुतिरिति  
प्रस्तुतस्य निन्दार्थमिति शेषः ततएव वैचित्रोदयः । ततश्चा-  
प्रस्तुतस्य स्तुत्या प्रस्तुतस्य निन्दनीयत्वस्य चनमप्रस्तुतप्रशंसेत्यर्थः ।  
अप्रक्रान्तेष्वितस्तुतिरिति कचित्पाठः तत्र अप्रस्तुतस्य ईप्सिता  
प्रस्तुतद्वेषादभिमता स्तुतिरप्रस्तुतप्रशंसेति स एवार्थः, कश्चित्तु  
इममेव पाठं धृत्वा अप्रक्रान्तेनाप्रक्रान्तवर्णनेन ईप्सितस्य प्रस्तु-  
तस्य स्तुतिवर्णनं वाच्यस्याप्रस्तुतस्य वर्णनद्वारा प्रस्तुतस्येद्गम्यते  
तदा अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादिति व्याचष्टे तदेतद्व्यन्यस्यास्य पूर्वो-  
पर्यमनालोचयतो नवीनमतानुशीलनविमुग्धबुद्धिलविलसितं,  
नवीनादि अप्रस्तुताद्यात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तु-  
ताद्याद्यादप्रस्तुतप्रतीता समामोक्तिरिति विषयविभागनाल-  
ङ्कारद्वयमाहुः, एतच्च प्रकृतविरुद्धं प्रकृते हि अप्रस्तुतवर्णनेन  
प्रस्तुतस्य प्रतीता समामोक्तिरभ्युपगता ग्रन्थकृता, यथा 'वस्तु कि-  
ञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः । उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा  
समामोक्तिरिष्यते, इति तस्मादलङ्कारयोरनयारापद्यमान-  
मप्यभिन्नविषयत्वं व्याख्यातुरस्य दृक्पथं नावतीर्णमिति सम्भा-  
व्यते । अतः प्राचीननिरूपिताया अप्रस्तुतप्रशंसेतिसंज्ञाया

अन्वर्थतारक्षणस्यावश्यकतया प्रस्तुतनिनिन्दिषयाऽप्रस्तुतस्य प्रशं-  
सनमेवास्थालङ्कारस्य विषयः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतिस्तु समा-  
सोक्तेर्विषयः, अन्यैकस्य विषयापहारापत्तेरिति युक्तमुत्पश्या-  
मः । नच वाच्यव्यङ्ग्ययोरुपमानोपमेयत्व एव समामोक्तिः अन्य-  
त्राप्रस्तुतप्रशंसेत्ययमेव विषयविभाग इति वाच्यं सुखं जीवन्ती-  
त्याद्यप्रस्तुतप्रशंसादाहरणेऽपि हरिणाः सुखेन जीवन्तीति वयं  
दुःखेन जीवाम इति च वाच्यव्यङ्ग्ययोर्यतिरेकगर्भोपम्यस्य स्फुटं  
प्रतीयमानतया गन्धकर्तुः प्रमादापत्तेः, सेयमप्रस्तुतैवात्र मृग-  
वृत्तिः प्रशस्यते इत्युदाहरणव्याकारे न संज्ञाया अन्वर्थत्वाङ्गी-  
कारे गन्धकर्तुः स्वरमश्च स्पष्टं प्रतीयते तस्मादप्रस्तुतस्य प्रशं-  
सायामेवाप्रस्तुतप्रशंसा नतूक्तिमात्रे इति निष्कर्षः । किञ्चाप्रस्तु-  
तात् प्रस्तुतप्रतीतिवत् प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतिरपि समामोक्तिवि-  
षयाबोधः एतत्संग्रहायालङ्कारान्तरानिरूपणात् वैचित्र्यस्य  
च तुल्यतयोपलम्भादेतच्च 'व्याभूय यदसनमसुजलोचनाया  
इत्युदाहरणमुद्धरद्भिः पूर्वमेवाक्तमस्माभिः ॥ ३४० ॥

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।

अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्गरादिभिः ॥ ३४१ ॥

सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते ।

राजानुवर्त्तनक्लेशनिर्व्विसेन मनस्विना ॥ ३४२ ॥

॥ अप्रस्तुतप्रशंसा ॥

उदाहरति । सुखमिति । प्रभुमेवाविरक्तस्योक्तिरियम् ।  
अपरमेविनो जीवनार्थं परमेवाजन्यदुःखानभिज्ञाः । अनैरिति  
गौणप्रयोगः आदन एवान्नपदस्य शक्तत्वात् ॥ ३४१ ॥

मेयमिति । अप्रस्तुतैवेत्येवकारेण प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्द्वयोः प्रशं-  
सायां नायमलङ्कार इति सूचितं यथा, 'याते मय्यचिरान्नि-  
दाघमिहिरज्वालाशतैः शूष्कतां गन्ता कं प्रति पान्यमन्तति-  
रसौ सन्तापमालाकुला । इत्थं यस्तु निरन्तराधिपटलैर्नित्यं  
वपुः क्षीयते धन्यं जीवनमस्य मार्गसरमोधिग्वारिधीनां जनुः' ।  
अत्राप्रस्तुतस्य मार्गसरसः प्रस्तुतस्य च दातुः प्रशंसेति नाप्रस्तुत-  
प्रशंसा किन्तु समामोक्तिरेव । राजानुवर्त्तनेति अनुवर्त्तनवृत्तेः  
श्ववृत्तिरूपतया निन्द्यादिति भावः । उक्तञ्च मनुना 'मेवा  
श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति । मनस्विना प्रश-  
स्तमनस्केन ॥ ३४२ ॥

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता ।

दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम् ॥ ३४३ ॥

अथ व्याजस्तुतिं लक्षयति । यदीति । यदीति यदित्यर्थं  
क्रियाविशेषणं, निन्दन्निव यत् स्तौति असौ व्याजेन निन्दा-  
च्छलेन स्तुतिव्यञ्जनरूपत्वाद्याजस्तुतिः स्तुतेत्यन्वयः । निन्द-  
न्निवति इवपदेनापातत एव निन्देति निन्दायाः प्रसूत्रद्रूप-  
तया प्रतिपादनं सूचितं । ननु निन्दा हि निकृष्टत्वस्थापनं  
तच्च दोषोद्घोषणमन्तरेण न सम्भवति सति च दोषे कथं स्तु-



तिपर्यवसानमित्याशङ्कोपपादयति दोषाभामा इति दोषा  
इवाभामन्ते वस्तुतो गुणा एव ईदृशा धर्मा अत्र सन्निधिं  
लभन्ते निवेशनीया भवन्ति । निन्दन्निव स्तौतीत्यत्र च प्रत्य-  
यव्यत्ययेन स्तुवन्निव निन्दतीत्यन्वयोऽपि बोद्धव्यः तेन स्तुति-  
च्छलेन निन्दोक्तिरपि व्याजस्तुतिरेव वैचित्र्यमास्यात्, तत्र च  
व्याजरूपा स्तुतिर्याजस्तुतिरिति संज्ञार्थः । स्पष्टमुक्तं प्रकाश-  
कृता 'व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा कृठिरन्यथा' इति ।  
स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे तद्वत्तमुदाहरणं यथा 'हे हेलाजित  
बाधिसत्त्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे नास्ति त्वत्सदृशः परः  
परहिताधाने गृहीतव्रतः । त्वद्यत्पान्यजनेपकारघटनावैमु-  
ख्यलब्धायशोभारप्रोद्धने कर्णेपि कृपया साहायकं यन्मरोः,  
इति । अत्र समुद्रस्य स्तुतिव्याजेन निन्दाप्रतिपादनाच्चमत्का-  
रातिशयः स्फुट एव ॥ ३४३ ॥

तापमेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी ।

त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता, माभून्मदस्तव ॥ ३४४ ॥

उदाहरति । तापमेनापीति । तापमेनापि तापमत्वात्  
करितुरगादिजयसाधनरहितेनापि रामेण परशुरामेण, भूत-  
धारिणी पृथिवी । राज्ञापि राजत्वात् प्रभूतकरितुरगादि-  
जयसाधनवतापि । सैव तापसजितैव नत्वतिरिक्ता । अत्र वर्षनी-  
यस्य राज्ञो तापसजिताजयित्वप्रतिपादनेनापाततोनिन्दा, तथा  
च साक्षाद्भगवदवतारेण महादेवदत्तपरशुना परशुरामेण

यावती भूमिर्जिता तावती त्वया मनुष्येणापि जितेत्यतिमहती-  
स्तुतिर्वर्णनीयस्य प्रतीयते ॥ ३४४ ॥

पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते ।  
राजन्निष्वाकुवंशस्य किमिदं तव युज्यते ॥ ३४५ ॥

इयञ्चालङ्कारान्तरसंमर्गेणातिचमत्कृतिभूमिरितिप्रति-  
पादनाय तत्र श्लेषमूलां व्याजस्तुतिं दर्शयन् श्लेषस्य च शब्दार्थ-  
गतत्वेन द्वैविध्यात् प्रथममर्थश्लेषमूलामुदाहरति । पुंस इति ।  
इच्छाकुवंशीयं कञ्चिद्राजानं प्रति चाटुकारसोक्तिरियं । पुरा-  
णादाद्याहृद्वाच्च, श्रीर्लक्ष्मीः सम्पत्तिश्च । इच्छाकुवंशस्येति तत्रेत्यस्य  
विशेषणम् इच्छाकुवंशोवंशप्रवर्त्तकपुरुषो यस्य स तथा तस्य ।  
वंशस्येति सयकारपाठः सम्यक् । अत्राद्यपुरुषादाच्छिन्नाया-  
लक्ष्याः परिभोग इच्छाकुवंशीयस्य तेन योग्य इति निन्दा,  
तथा चातिप्रभृता ते सम्पत्तिरिति स्तुतिः प्रतीयते । अत्र प-  
राणपदे श्रीपदे च श्लेषः सचार्थयोरायद्यद्भूयोरलक्ष्मीसम्पत्तौ च  
वस्तुत एकत्वादर्थगतः । किञ्च परिभोगसाम्यात् श्रियां स्त्रीत्व-  
प्रतीतिरिति समासोक्तिरपि ॥ ३४५ ॥

भुजङ्गभोगसंसक्ता कलत्रं तव मेदिनी ।  
अहङ्कारः परां कोटिमरोदति कुतस्तव ॥ ३४६ ॥

शब्दश्लेषमूलामुदाहरति । भुजङ्गेति । भुजङ्गभोगसंसक्ता-  
विज्ञानामुपभोगेऽमुरक्ता सर्पशरीरैरावृता च, कलत्रं भार्या

पाल्याच, अत्र भुजङ्गादिशब्दानामनेकार्थमङ्केतितत्वाच्छब्दश्लेष-  
मूलेयम् ॥ ३४६ ॥

इति श्लेषानुविद्धानामन्येषाञ्चोपलक्ष्यताम् ।

व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तरः ॥ ३४७ ॥

॥ व्याजस्तुतिः ॥

उपसंहरति । इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण श्लेषानुवि-  
द्धानां तथान्येषाञ्चालङ्कारान्तरानुविद्धानां व्याजस्तुतेः प्र-  
काराणां प्रभेदानामपर्यन्तोऽसीमोविस्तर उपलक्ष्यतां स्व-  
बुद्ध्या ज्ञायतामित्यन्वयः ॥ ३४७ ॥

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित्तत्सदृशं फलम् ।

सदृशदा निदर्शयति यदि तस्यान्निदर्शनम् ॥ ३४८ ॥

अथ निदर्शनं लक्षयति । अर्थान्तरेति । अर्थान्तरे निद-  
र्शनीयादन्यस्मिन् कार्यविशेषे प्रवृत्तेन केनचित् यदि तस्यार्था-  
न्तरस्य सदृशं सदृक्कृष्टम्, असदृपकृष्टम्वा फलं निदर्शयति प्रति-  
पाद्येत तन्निदर्शनं नामालङ्कारः स्यादित्यन्वयः, यदीत्यत्र  
यत्त्विति तस्यान्निदर्शनमित्यत्र सा स्यान्निदर्शनेति क्वचित्पाठः,  
निदर्शनेति संज्ञायाः स्त्रीत्वञ्च बहुभिरङ्गीक्रियते । प्रकृतार्थ-  
प्रवृत्तस्य तत्सदृशाप्रकृतार्थान्तरज्ञापनं निदर्शनालङ्कार इति  
लक्षणार्थः । इयं सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना निदर्शनेति नव्याः,  
एतदुपलक्षणम्, असम्भवन्नपि वस्तुसम्बन्धो यत्र सादृश्यं निद-

र्शयति तत्रापि निदर्शनासम्भवः वैचित्रस्य स्फुटं प्रतीयमान-  
त्वात् स्पष्टमुक्तं प्रकाशकता 'अभवन् वस्तुमन्वन्ध उपमापरि-  
कल्पक' इति । अस्यादाहणरमनन्तरं दर्शयिष्यामः, अन्ये त्वयं  
द्वितीयोनिदर्शनाप्रकार उपमायामन्तर्भवतीति ग्रन्थकृता नोक्त  
इत्याहुः ॥ ३४८ ॥

उदयन्नेप सविता पद्मेध्वर्षयति श्रियम् ।

विभावयितुमृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥ ३४९ ॥

तत्र सत्फलनिदर्शनमुदाहरति । उदयन्निति । उदयन्नुद-  
गच्छन् चर्द्धिं प्राप्नुवंस्य, श्रियं शोभां सम्पत्तिञ्च । सुहृदनुग्रहं  
बन्धुत्वानुकूल्यरूपम् ऋद्धीनां सम्पत्तीनां फलं विभावयितुं  
सत्यामृद्धौ बन्धुनामानुकूल्यं कर्त्तव्यमिति ज्ञापयितुं पद्मेपु  
श्रियमर्षयतात्यन्वयः । अत्र पद्मेपु श्रीवितरणप्रवृत्तेनोदयभाजा  
सवित्रा सुहृदुपकाररूपमुदयफलं निदर्शयति फलञ्चैतदुक्तप्र-  
मव ॥ ३४९ ॥

याति चन्द्रांशुभिः स्पृष्टा ध्वान्तराजी पराभवम् ।

सद्योराजविरुद्धानां सृचयन्ती दुरन्तताम् ॥ ३५० ॥

॥ निदर्शनम् ॥

असत्फलनिदर्शनमुदाहरति । यातीति । पराभवं नाशं ।  
राजविरुद्धानां नृपतिप्रतिकूलानां चन्द्रप्रतिकूलानाञ्च । दुर-  
न्ततां निन्दितावमानत्वम् । अत्र चन्द्रांशुभिः पराभूयमाणा-

ध्वान्तराजी राजविरोधिनां परिणामदुःखरूपं फलं निदर्शयति तच्च फलमसदेव । एवम्, 'उन्नतं पदमवाप्य योलघुर्हेल-  
यैव स पतेदिति ब्रुवन् । शैलशेखरगतो दृषत्क्षणश्चारुमारुत-  
धुतः पतत्यधः' । अत्र शैलशेखरादधःपतनप्रवृत्तो दृषत्क-  
णोलघोरुन्नतपदप्राप्तस्य ततोऽप्रटितिपतनरूपममत्फलं निद-  
र्शयति । एषु च तथाविधमवित्रादीनां तत्तदर्थज्ञापनमम्बन्धः  
सम्भवत्येव । लक्षणस्थोपलक्षकतया प्राप्तायास्त्वसम्भवदस्तुसम्ब-  
न्धनिबन्धननिदर्शनाया उदाहरणं यथा, 'क सूर्यप्रभवोवंशः  
क चान्यविषया मतिः । तितोर्पुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि साग-  
रम्' । अत्र सूर्यवंशवर्णनप्रवृत्ते कवौ उडुपकरणकदुस्तरमा-  
गरतरणेच्छायाः सम्बन्धोऽसम्भवन् मनात्या सूर्यवंशवर्णनेच्छा  
उडुपेन सागरतरणेच्छेवेत्युपमां निदर्शयति, यथा वा 'उद-  
यति विततोर्द्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।  
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रली-  
लाम् । अत्रान्यस्य लीलां कथमन्योवहत्विति तत्सद्गोमित्युप-  
मायां पर्यावमानम् । मालारूपापेषा चारुतातिशयं पुण्याति  
यथा 'दोर्भां तितोर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे  
'हरिणाङ्गविम्बम् । मेरुं लिलङ्घयिषति भ्रुवमेष देव यस्ते गुणान  
गदितुमुद्यममादधाति' । अत्रेच्छात्रयस्य सम्बन्धोगुणवर्णनो-  
द्यतेऽसम्भवन् पूर्ववदुपमात्रयं निदर्शयति ॥ ३५० ॥

सुहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् ।

अर्थानां यो विनिमयः परवृत्तिस्तु सा स्मृता ॥ ३५१ ॥

अथ सहोक्तिं लक्षयति । सहोक्तिरिति । गुणकर्मणा-  
मिति अत्र कर्मशब्दः क्रियावाची, बह्वचनेन द्रव्यादिपरि-  
ग्रहः । गुणादीनां सहभावेन साहित्येन यत्कथनं सा सहो-  
क्तिः, सहभावस्येति क्वचित् षष्ठ्यन्तः पाठः । सम्बन्धिभेदेन  
भिन्नयोरपि गुणयोः क्रिययोरपरयोर्वा सहार्थस्य बलादेकेन  
वाचकेन यदेककालीनतया प्रतिपादनं सा सहोक्तिरिति  
निष्कृष्टोऽर्थः । एतदेवात्र दर्पणकृता 'सहार्थस्य बलादेकं यत्र  
स्याद्वाचकं द्वयोः' । सा सहोक्तिरिति । अत्र प्रौढोक्तिमन्तरेण  
वैचित्र्याभावात् तन्मूलकत्वमस्य बोध्यं तेन 'लक्षणेन समं रामा  
गहनं काननं यथै' इत्यादौ यथावित्येकेन पदेन रामलक्षण-  
योगमनक्रिययोः प्रतिपादनेऽपि प्रौढोक्त्यभावेन वैचित्र्याभा-  
वान्नायमलङ्कारः । अत्र धर्मिणां गुणादिभिर्युगपदन्वय इति  
तु ल्ययोगितातोभेदः ॥

इत्थं पद्याद्धेनैव सहोक्तिलक्षणं पर्याप्तमिति पद्यपूरणस्या-  
वश्यकतया सहोक्त्युदाहरणान्यदर्शयित्वैवात्तराद्धेन परिचित्य-  
लङ्कारं लक्षयति । अर्थानामिति । विनिमयः प्रतिदानं ति-  
लान् दत्त्वा माषग्रहणमित्यादिरूपं । विनिमयस्य समेन समस्य  
अधिकेन न्यूनस्य न्यूनेनाधिकस्य च ग्रहणमिति त्रिविधः, अय-  
मपि प्रौढोक्त्यैव प्रयुज्यमानश्चारुतामावहति । भोजदेवस्तु व्य-  
त्ययमपि परिवृत्तिमाह 'व्यत्ययोवस्तुगोर्यस्तु योवा विनि-  
मयोमिथ' इत्यादिना, व्यत्ययस्य कस्यचिदेकस्यानादन्यत्र स्थापनं  
यथा, कुमुदवनमपि श्रीमदभोजषण्डमित्यादौ ॥ ३५१ ॥

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः संप्रति रात्रयः ।

पाण्डुराश्च ममैवाङ्गैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः ॥ ३५२ ॥

तत्र प्रथमोद्दिष्टां महोक्तिमुदाहरन् प्रथमं गुणसहभावरूपामुदाहरति । सह दीर्घा इति । विरहिण्या उक्तिरियं । ममप्रति प्रियविरहममये नतु पूर्वं, रात्रयोदीर्घा इति दुःखबहुलतया दुःक्षेपणीयत्वादिति भावः । ता रात्रयः, पाण्डुरत्वे हेतुश्चन्द्रभूषणा इति ज्योत्स्य इत्यर्थः, अत्र दीर्घत्वं पाण्डुरत्वञ्च गुणौ तौच मस्वन्निभेदेन वस्तुतोभिन्नावपि महार्थवत्त्वाद्दीर्घा इति पाण्डुरा इति चैकैवैव पदेनैककालीनतया कथितौ । ननु 'आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम् । सहैव विविधैः पुंसामङ्गजान्मादविभ्रमैः' इति पूर्वदर्शितकार्यसहजचिचहेतुदाहरणेऽपि क्रिययोः सहभावो दृश्यते तदनयोरभेदापात इति चेन्नैवं सहभावमाधारण्येऽपि कार्यकारणभावस्यैव चिचनियामकत्वात् प्रकृते तु दीर्घश्चासदीर्घरात्र्योर्न कार्यकारणभावः द्वयोरैव विरहजन्यत्वात्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥

॥ ३५२ ॥

वर्द्धते सह पान्थानां मूर्च्छया चूतमञ्जरी ।

पतन्ति च समं तेषामशुभिर्मनयानिनाः ॥ ३५३ ॥

क्रियामहभावरूपां महोक्तिमुदाहरति । वर्द्धत इति । पतन्ति गच्छन्ति, अशुभिः प्राणवायुभिः क्वचिदशुभिरिति पाठः । अत्र वर्द्धनं पतनञ्च क्रिये । अत्रापि मूर्च्छावृद्धि-

चूतमञ्जरीवृद्धोः, असुपतनमलयानिलपतनयोश्च वमन्तज-  
न्यत्वान्न मिथः कार्यकारणभाव इति न चित्रहेतुना साङ्कर्यं ।  
यदिच चूतमञ्जरीवृद्ध्या मूर्च्छावृद्धिः मलयानिलपतनेन चा-  
सुपतनमित्यभिप्रायस्तदा शुद्धोदाहरणं 'सह मणिवलणहिं  
वाहधारा गलन्ति, अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं  
संह्रियन्तां बलानीत्यादिकं बोध्यम्. अत्र न सहभृतयोर्हेतु-  
हेतुमद्भावः ॥ ३५३ ॥

कोकिलान्नापसुभगाः सुगन्धिवनवायवः ।

यान्ति सार्द्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥ ३५४ ॥

कोकिलान्नापेति । सहोक्तीतिमंज्ञायवणान् सहशब्दप्र-  
योग एवायमलङ्कार इति भ्रमनिरासाय सहार्थकसार्द्धपद-  
घटितमिदमुदाहरणमुपन्यस्तम्, एवं सहार्थकशब्दान्तरोपा-  
दाने तदनुपादानेऽपि 'गम्यमानेश्च सहार्थैरित्यनेन विहितायां  
द्वितीयायाम्वा सहोक्तिर्वाधा । अन्यतु वृद्धिं यान्तीत्यत्र या-  
नक्रियायाः सहभाववत् गुणात्मिकाया वृद्धेरपि सहभावः  
प्रतीयत इति गुणक्रिययोरंकत्र सहभावदर्शनार्थमुदाहरण-  
मिदं दर्शितमित्याहुः तत्र वृद्धेर्गुणत्वे आनन्दस्यापि तथालं.  
गुणस्य गुणवृत्तिनापाते प्रतीकारश्चिन्त्यः ॥ ३५४ ॥

इत्युदाहृतयोदत्ताः सहोक्तेरत्र काश्चन ।

॥ सहोक्तिः ॥

क्रियते परिवृत्तेश्च किञ्चिद्रूपनिदर्शनम् ॥ ३५५ ॥



इत्युदाहृतय इति । काश्चनेति गुणक्रियासहभावविषया दर्शिताः, अनया रीत्या अन्यविषयापि सहोक्तिर्बाह्व्येत्यर्थः ॥

क्रियत इति । किञ्चिद्रूपनिदर्शनम् ग्रन्थबाहुल्यभिया एक-मात्रोदाहरणेन किञ्चित् स्वरूपप्रकाशनम् ॥ ३५५ ॥

शस्त्रप्रहारं दत्ता भुजेन तव भूभुजाम् ।

चिरार्जितं हतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥ ३५६ ॥

॥ परिवृत्तिः ॥

शस्त्रप्रहारमिति । अत्र न्यूनेनाधिकस्य ग्रहणरूपो विनि-मयः । एवं 'दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम । मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः' । अत्र पूर्वार्द्धे समेन समस्य, उत्तरार्द्धे अधिकेन न्यूनस्य विनिमयः ॥ ३५६ ॥

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ।

पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ॥ ३५७ ॥

॥ आशीः ॥

अथाशीःसंज्ञकमलङ्कारं लक्षयति । आशीर्नामेति । अभिलषिते दृष्टे वस्तुनि आशंसनं प्राप्तीच्छाप्रकाशनं यदा अभिलषिते प्रिये वस्तुनि जने सुहृज्जने इत्यर्थः आशंसनं शुभा-भ्यर्थनमाशीर्नामालङ्कार इत्यन्वयः । अयमलङ्कारो वैचित्र-विशेषात्मकत्वाभावात्त बह्वभिरङ्गीक्रियते, कैश्चित्तु सौहृद्यख्या-

पनेन वैचित्रं विद्यत एवेत्यङ्गीक्रियते, यदुक्तं 'आशीरिति च  
 केषाञ्चिदलङ्कारतया मता । सौहृद्यस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽ-  
 स्याद्य तादृश' इति । अन्यैस्तु न्याय्य एवास्याश्चमत्कारजनक-  
 लमिति नाव्यालङ्कारत्वेनोच्यते यथा 'आशीराक्रन्दकपटाच-  
 भागर्वीद्यमाश्रया' इत्यारभ्य, 'इति नाव्यालङ्कारतयो नाय्य-  
 भूषणहेतव' इति, तत्कृतमस्या लक्षणञ्च 'आशीरिति जनाशंसेति,  
 यथा शाकुन्तले । 'यथातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्वङ्गमता भव ।  
 पुत्रं त्वमपि सम्राजं मेव पूरुमवाप्नुहि' इति । अपरे तु प्रयोगोऽल-  
 ङ्कारस्यैवायं भेद इत्याहुः । उदाहरति पात्विति । अत्राङ्गी-  
 नसगोचरमिति वाक् च मनश्च ते गोचरौ प्रतिपादकं यस्य  
 तत्तथा तद्भिन्नं 'यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहति  
 श्रुतेः' । वाचोमनस इत्यत्मामान्तः ॥ ३५७ ॥

अनन्वयसमन्देहावुपमास्त्रिव दर्शितौ ।

उपमारूपकश्चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ॥ ३५८ ॥

इत्थं स्वभावाख्यानाद्याशीः पर्यन्तानलङ्कारानुद्देशक्रमेण  
 लक्षयित्वा संप्रति प्राप्तावमरतया सङ्कीर्णं लक्षयितव्येऽपि अन्यै-  
 रुक्तानां प्रतिपद्यालङ्काराणामनिरूपणेन स्वस्य नूनत्वमाशङ्क्य  
 तेषां स्वाक्रेष्वन्तर्भावेन तत्परिहरति । अनन्वयेति । अनन्वयः  
 'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगं' । अनन्वयः, इत्युक्तनक्षणः ।  
 समन्देहश्च 'समन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशय' इत्युक्त-  
 रूपः । उपमास्त्रिव दर्शिताविति तथाहि अनन्वयस्य 'चन्द्रार-

विन्द्याः कान्तिमतिक्रम्य मुखं तव । आत्मनैवाभवत्सुख-  
मित्यसाधारणोपमा' इत्यसाधारणोपमायामन्तर्भावः । सस-  
न्देहस्य च 'किं पद्ममन्तर्भ्रान्तास्त्रि किन्ते लोलोक्षणं मुखम् ।  
मम दोलायते चित्तमितीयं मंगयोपमेति मंगयोपमायाम् ।  
उपमारूपकञ्चापीति उपमारूपकाख्यं रूपकान्तरं वामने-  
नाक्तं यथा, 'उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकमिति' उदाहृतञ्च  
'जयति चतुर्दशलोकवर्षिकन्द इति' अत्र चतुर्दशलोकस्य  
वर्षिसाम्येन कूर्मादेवे कन्दलरूपणम्, अपरे चेदं परस्परितरूप-  
कमाचक्षते । अन्ये तु उपमासहितं रूपकमुपमारूपकं, यदुक्तम्,  
'उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य रूपयन् । यद्वदत्युपमाभेदमुप-  
मारूपकं यथा' इति । अस्योदाहरणं यथा, 'दिवाकरकर-  
स्पर्शादुदयाद्रेः पयोधरात् । नीलांशुकमिव प्राच्यास्तमोग-  
लति सम्प्रति' । अत्र नीलांशुकमिवेत्युपमया सहितमुदयाद्रेः  
पयोधरादिति रूपकमित्याहुः । रूपकस्यैव दर्शितमिति 'दृष्टं  
माधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाङ्गैणमुख्ययाः । उपमाव्यतिरेकाख्यं रूपक-  
द्वितयं यथा' इत्यनेन गृहीतमित्यर्थः ॥ ३५८ ॥

उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च ।

नानालङ्कारसंस्पृष्टिः सङ्कीर्णन्तु निगद्यते ॥ ३५९ ॥

उत्प्रेक्षेति । अभावान्यैरङ्गीकृत उत्प्रेक्षावयवोऽपि स्वमते  
उत्प्रेक्षाभेद एवेत्यन्वयः, उत्प्रेक्षावयवश्च उत्प्रेक्षाया आरम्भ-  
कमलङ्कारान्तरं तच्च शेषादिकं, यदुक्तं 'स्मिष्टेनार्थेन संस्पृष्टः

किञ्चिदुपमयाञ्चितः । रूपकार्येण वा युक्त उत्प्रेक्षावयवो यथाः  
 इति । तत्र श्लिष्टार्थसंस्पृष्टो यथा 'मुक्तोत्करः मङ्कटशुक्ति-  
 मध्यादिनिर्गतः सारमलोचनायाः । जानीमहेऽस्याः कमनीय-  
 कम्बुयीवाधिवामाद्गुणवत्त्वमाप' । अत्र गुणवत्त्वे श्लेषः 'उपमया-  
 ञ्चितो यथा कुमारमश्रवे, 'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सञ्चिद्यच्छ-  
 तिमिरं मरीचिभिः । 'कुङ्कुलीकृतमरोगजलोचनं चुम्बतीव रजनी-  
 मुखं शशी' । अत्राङ्गुलीभिरिव मरीचिभिरित्यत्र कुङ्कुलीकृत-  
 मरोगजलोचनमित्यत्र चोपमा चुम्बतीवेत्युत्प्रेक्षामारभते । एवं  
 रूपकार्यसंयुक्तोत्प्रेक्षापि । एवंविधोत्प्रेक्षावयवोऽपि स्वमते श्लेषा-  
 दिसङ्कीर्णात्प्रेक्षैवेति नात्रापि न्यूनता । केचित्तु यत्रावयव-  
 क्रियैवोत्प्रेक्ष्यते नावयविक्रिया स उत्प्रेक्षावयवः यथा 'लीनेव  
 प्रतिविम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च' इत्यादीत्याहुः । एवं  
 निपुणस्यादात्ते दृष्टान्तस्यापमायाम् उभेखपरिणामयारूप  
 कारणमालाया हतौ अपरेषाञ्चापरैरङ्गीकृतानामलङ्का-  
 न्तराणां, यथायथं निरुक्तेष्वन्तर्भावोवाध्यः ॥

अथ मङ्गीर्णं लक्षयति । नानालङ्कारेति । नानालङ्का-  
 राणां मजातीयानां विजातीयानाम्वा निरुक्तलक्षणानामल-  
 ङ्काराणां संस्पृष्टैरेकत्र संसर्गः मङ्गीर्णं मङ्गीर्णाख्यमलङ्का-  
 रान्तरं निगद्यते पृथग्वैचित्र्यविशेषोपलब्ध्या प्राचीनैरुच्यते,  
 युक्तश्चेतत् यथा लौकिकद्वाराद्यलङ्काराणां मिथ्य संसर्गेण  
 पृथक्चारुतातिशयजनकतया गुच्छगुच्छार्दुगास्तनादिसंज्ञया  
 पृथगलङ्कारत्वेन व्यपदेश्यतया मङ्गीर्णानां काव्यालङ्कारा-

सामपि पृथक्चान्ताप्रत्यायकतया पृथगलङ्कारत्वेन सङ्गी-  
र्णसंज्ञया व्यपदेश इति ॥ ३५८ ॥

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।

इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयो गतिः ॥ ३६० ॥

सङ्कीर्णस्य भेदो दर्शयति । अङ्गाङ्गीति । अङ्गाङ्गिभावेन  
निर्वाह्यनिर्वाहकत्वेनावस्थानमित्येका, तथा सर्वेषां समक-  
क्षता अनुग्राह्यानुग्राहकत्वमन्तरेण निरपेक्षतयावस्थानमित्य-  
परा, इत्यलङ्कारसंसृष्टेः सङ्कीर्णालङ्कारस्य द्वयो गति-  
र्भेदद्वयम् । तत्र समकक्षतयावस्थानञ्च क्वचिदेकाश्रयगतं  
क्वचिद्विभिन्नाश्रयगतमिति द्विविधं, तत्र प्रथममेकाश्रयानु-  
प्रवेशसंज्ञया कथितमन्यैः, तथा सन्देहसङ्करस्यान्यैरुक्तस्य तु  
सन्दिह्यमानालङ्कारयोः संसर्गाभ्युपगमे समकक्षतेत्यनेनैव सं-  
युक्तः सन्दिह्यमानयोरप्यनुग्राह्यानुग्राहकत्वाभावात्, तस्मादेत-  
न्मतेऽपि सङ्कीर्णस्य चतुर्विधत्वं सिद्धं, परस्वेकाश्रयानुप्रवेशं  
सन्दिग्धत्वेऽङ्गाङ्गित्वे च सङ्करसंज्ञा, समकक्षतायान्तु संसृष्टि-  
संज्ञान्येषामित्येव विशेषः ॥ ३६० ॥

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम् ।

कोषदण्डसमग्राणां किमेपामस्ति दुष्करम् ॥ ३६१ ॥

तत्राङ्गाङ्गिभावसङ्कीर्णमुदाहरति । आक्षिपन्तीति । आक्षि-  
पन्ति जिगीषन्ति सदृशो कुर्वन्तीति तु प्रतीयमानोऽर्थः तेना-

त्रोपमालङ्कारः स चात्र निर्वाहत्वादङ्गो, कोषो धनराशिः  
 कुशलस्य दण्ड उपायभेदः शास्त्रमितीर्थः गालस्य ताभ्यां  
 समयाणां सम्पूर्णाणामितिषेषाविद्धोऽर्थान्तरन्यामोऽयमन्याङ्गं  
 निर्वाहकत्वादित्यन्ये तथात्वे एषामिति लोकानामित्यर्थः, तत  
 एवार्थान्तरस्योपन्याससम्भवः अरविन्दानामित्यर्थकत्वे तु न तथा  
 एकस्य समर्थ्यसमर्थकत्वाभावात्, अपरे तु कोषदण्डसमयाणा-  
 मिति हेतुतयोपन्यासाद्धेलङ्कारोऽत्राङ्गमित्याहुः । वस्तुतस्तु  
 न किञ्चिदिह दुष्कारमिति चतुर्थपादः सम्यक् । एषामिति  
 सम्बन्धविवक्षया षष्ठी ॥ ३६१ ॥

निम्पतीव तमोऽज्ञानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

अस्त्युरूपमेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ३६२ ॥

॥ सङ्कीर्णम् ॥

समकक्षतासङ्कीर्णमुदाहरति । निम्पतीवेति । अत्र पूर्णं  
 उत्प्रेक्षा उत्तरार्द्धे चोपमा अनयोश्च निरपेक्षतयावस्थानमिति  
 समकक्षता । सङ्कीर्णत्वमिदं विभिन्नाश्रयगतम्, एकाश्रयगतं  
 यथा 'कुरवकारवकारणतां ययुरित्यत्र रवका रवका इति वकार  
 वकार इति च यमकयोः, संसारध्वान्तविध्वंसदंसः कंसनिस्तदनः,  
 इत्यत्र रूपकानुप्रासयोश्चैकत्र समकक्षतयावस्थानम्, अर्थालङ्का-  
 रयोरेकाश्रयानुप्रवेशस्तु बहुभिर्नाद्रियते अङ्गाङ्गित्वेनैव द्वयो-  
 रेकत्र सङ्गावात् । अन्ये तु समकक्षतयापि द्वयोरेकत्र सङ्गावः  
 सम्भवत्येव यथा 'अहिणअपओअरसिए पहिअसामाइएसु दि-

असु । महद् पसारिचगोत्राणं कश्चिन्नं मोरविन्दारं । अत्र  
पथिकश्यामितेष्वित्युपमा पथिकसामाजिकेष्विति रूपकम्, इ-  
योरप्यनयोरत्र तात्पर्यं समकक्षतया चावस्थानमित्याहुः ।  
मुखचन्द्रः शोभते इत्यत्र मुखमेव चन्द्र इति रूपकस्य मुखं  
चन्द्र इवेत्युपमाया वाच सद्भाव इति साधकबाधकाभावात्  
सन्दिह्यमानयोरनयोः समकक्षतयैवात्रावस्थानमिति ॥ ३६२ ॥

श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायेवक्रोक्तिषु श्रियम् ।

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ ३६३ ॥

पूर्वैः प्रदर्शितेषु तत्तदलङ्कारानारोदाहरणेषु वङ्गेषु श्लेष-  
सद्भावो दृष्टस्ततश्च श्लेषेण बहूनां सङ्कीर्णत्वमिति सूचयन्नाह ।  
श्लेष इति । वक्रोक्तिषु भणितिभङ्गीरूपालङ्कारवत्काव्येषु । वक्रो-  
क्तिष्वित्युक्त्या तद्भिन्नमपि काव्यमस्तीत्यायातं ततश्चालङ्कार-  
कृतं काव्यस्य भेदद्वयमाह । भिन्नमिति । स्वभावोक्तिर्जाति-  
गुणक्रियाद्रव्याणां यथावत्स्वरूपवर्णनरूपा, वाङ्मयं काव्यं,  
स्वभावाख्यानाद्यलङ्कारवत् भणितिभङ्गीरूपोपमाद्यलङ्कारव-  
च्चेति तत् द्विविधमित्यर्थः ॥ ३६३ ॥

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।

भावः कवेरभिप्रायः काव्येध्वासिद्धि संस्थितः ॥ ३६४ ॥

परस्यरोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् ।

विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्त्मना ॥ ३६५ ॥

व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद्गम्भीरस्यापि वस्तुनः ।

भावायत्तमिदं सर्व्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ ३६६ ॥

इत्थं केषाञ्चिदैचित्राणां स्वभावाख्यानाद्यलङ्कारत्वमुक्तम् अपराणि चानन्तानि वैचित्राणि सम्भवन्ति तानि च प्रत्येकं तत्तन्नाम्ना दुर्व्वचानोति सर्व्वेषामेव तेषां संघाहकमेकमेव भाविकाख्यमलङ्कारमाह । तद्भाविकमिति । प्रबन्धा महाकाव्य-नाटकाख्यायिकादयस्तद्विषयं तद्गतं प्रबन्धेषु चमत्कारजन-कतया निवेशनीयमित्यर्थः गुणं शोभाजनकं धर्मं, तत् अलङ्कारेषु प्रसिद्धं भाविकमिति भाविकाख्यमलङ्कारमाहुरित्यन्वयः । अस्यान्वर्थतां दर्शयति भाव इति कवेरभिप्रायोभावस्तमर्हतीति व्युत्पत्त्या भाविकसंज्ञाप्रवृत्तिरित्यर्थः, स चाभिप्रायः काव्येष्वामिद्धि आरम्भावधिसमाप्तिपर्यन्तं संस्यतः, एतेनायमलङ्कारोऽलङ्कारान्तरवन्न पदवाक्यमात्रगतः किन्तु महावाक्यरूप-प्रबन्धगतोऽपि भवतीति सूचितम् । भूतभाविनाः प्रत्यक्षा-माणत्वेन वर्णनं भाविकमिति प्रकाशकारः, अद्भुतपदार्थस्यापि प्रत्यक्षायमाणत्वमिति दर्पणकारः, तत्र संज्ञायाः सस्यगन्वर्थता न सम्भवतीति विवेचनीयम् ॥ ३६४ ॥

कवेरभिप्रायविषयान् कतिचित् प्रबन्धधर्मान् दर्शयति । परस्पररोपकारित्वमिति । वस्तुनि आधिकारिकेतिवृत्तानि पर्वाणि तदुपकारकाणि प्रामाण्यकेतिवृत्तानि, यदाह नख-कुट्टः 'इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते । आधिकारिकमेकं



स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम्' इति । सर्वेषां तेषां परस्परौपका-  
रित्वं कवेरभिप्रेतं, यथा रामायणे रामचरितमाधिकारिकं  
सुयोवादिचरितं प्रासङ्गिकं तद्योरङ्गाङ्गितया परस्परौपका-  
रोविद्यत एव । महाकाव्यादौ करितुरगपुरगिरिप्रभृतिव-  
र्त्सनमपि साक्षात् परम्परया वा प्रधानोपकारे पर्यवस्यतीति  
बोधम् । तथा व्यर्थानां प्रकृतस्यापरिपोषकाणां विशेष-  
णानामक्रिया अनुपन्यासः अभिप्रेतार्थबोधकविशेषणोपन्यास  
इत्यर्थः, अयमेव परिकरालङ्कार इति प्रकाशकारादयः यथा  
'विशेषणैर्यत्साकृतेरुक्तिः परिकरस्तु सः' इति । अपरे तु  
अपुष्टत्वदोषाभाव एवायं नालङ्कार इत्याहुः । तथा स्थानानां  
प्रकृतरसोपयोगिविषयविशेषाणां वर्त्तना ॥ ३६५ ॥

व्यक्तिरिति । उक्तिक्रमः पदरचनापरिपाटी तद्वलात्तदीय-  
प्रतिपादकतासामर्थ्यात् गभीरस्यापि गूढतरस्यापि वस्तुनो-  
ऽर्थस्य व्यक्तिः प्रस्फुटत्वम्, तदिदं सर्वं भावायत्तं कवेरभि-  
प्रायाधीनमिति भावायत्तत्वाद्भाविकमिदं विदुरिति ॥ ३६६ ॥

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदञ्चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥ ३६७ ॥

॥ भाविकम् ॥

किञ्च यच्चेति । सन्धयोमुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्व्वहणा-  
ख्याः पञ्च, तेषामङ्गानि उपक्षेपपरिकरादीनि चतुःषष्टि-  
मल्लकानि, वृत्तयः कौशिकीमात्त्वत्यारभटीभारत्यश्चतस्रः,

तासामङ्गानि नर्मानर्भस्फुर्जादीनि षोडश, लक्षणानि भूषणा-  
 चरसङ्घातादीनि षट्त्रिंशत्, आदिपदेन नाय्यालङ्कारवीथ्य-  
 ज्जलास्याङ्गानां ग्रहणं, तत्र नाय्यालङ्कारा आशीराक्रन्द-  
 कपटादयस्त्रयस्त्रिंशत्, वीथ्यङ्गानि उद्घात्यकावलगितादीनि  
 त्रयोदश, लास्याङ्गानि गेयपदस्थितिपाद्यादीनि दश । एतेषां  
 प्रपञ्चोदशरूपकादौ द्रष्टव्यः वाङ्मयभियात्र न दर्शितः । एतत्  
 सर्वमागमान्तरे भरतादिप्रणीतनाय्यशास्त्रे व्यावर्षितं नाय्य-  
 शोभाजनकतया निरूपितम्, इदञ्च सर्वमस्माकमलङ्कारतथै-  
 वेष्टमित्यन्वयः । तत्र केषाञ्चित् स्वभावाख्यानादावन्तर्भावः  
 अपरेषां भाविकत्वमिति दशरूपकादिग्रन्थदत्तोदाहरणदर्शनेन  
 स्वबुद्ध्या विवेचनीयम् ॥ ३६७ ॥

पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या  
 संहृत्य विस्तरमनन्तमलङ्कियाणाम् ।  
 वाचामतीत्य विषयं परिवर्त्तमाना-  
 नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥ ३६८ ॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शेऽर्थालङ्कारविभागो  
 नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यतीत्याद्युक्तं  
 पुनरपि स्मारयन् परिच्छेदमिममुपसंहरति । पन्था इति ।  
 अलङ्कियाणां पूर्वनिरूपितस्वभावाख्यानाद्यलङ्काराणामनन्त-

समीपं विस्तरं सम्भवन्तं प्रभेदसमूहं संहृत्य कार्त्स्न्येन वक्तुम-  
शक्ततया शीर्षग्रहणन्यायेन प्रकटतरं तं संगृह्य परिमाणवृत्त्या  
परिमितत्वेन स एषः पन्था विवृतः मार्गमात्रं प्रदर्शितम् । एष  
इत्यत्र एवेति क्वचित्पाठः पन्था एवेत्यर्थः । अनेन पथा मञ्जर-  
माणैरपरेऽपि भेदाः स्वयं ज्ञातव्या इत्याह वाचामिति वाचां  
विषयमतीत्य परिवर्त्तमानानतिप्रभृतानित्यर्थः । विशेषान् प्रभे-  
दान् विवरीतुं प्रकाशयितुम् अभ्यास एव अस्य विवृतमार्गस्य  
पुनःपुनःपरिशीलनमेव अलं समर्थः संक्षिप्तोऽप्यस्मन्निरूपण-  
प्रकारः पुनःपुनरालोच्यतां तेनैवापरेऽपि प्रभेदा ज्ञातव्या  
इत्यर्थः ॥ ३६८ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीश-भट्टाचार्य-विरचितायां मा-  
लिन्यप्रोच्छनीसमाख्यायां काव्यादर्शटीकायां द्वितीयः परि-  
च्छेदः ॥ २ ॥

## काव्यादर्शः ।

### द्वितीयः परिच्छेदः ।

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिवर्णसंहतेः ।

यमकं, तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ १ ॥

द्वितीयपरिच्छेदे 'काव्यशोभाकरणं धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते इत्यनेन शब्दार्थसाधारणमलङ्कारसामान्यलक्षणमभिधाय शब्दस्य प्रथमबुद्धिविषयतया प्रथमं निरूपयितुमुचितानपि तदीयालङ्कारानतिचमत्कारजनकत्वाभावादनिरूप्य चमत्कारविशेषभूमयोऽर्थालङ्कारा एव विनेयानां प्रवृत्तये पूर्वनिरूपिताः, संप्रत्युपादेयधर्मेषु प्राप्तावसरान् पूर्वनिरूपितानुप्रासभिन्नान् शब्दालङ्कारान्, तदनन्तरं हेयधर्मान् रेषांश्च निरूपयितुं द्वितीयपरिच्छेदमारभमाणेन प्रथमं मार्गविभागप्रसङ्गेनाकलक्षणमपि यमकमनूय तत्प्रभेदाः प्रदर्शयन्ते । अव्यपेतेति । अव्यपेतोऽव्यवहितः व्यपेतोव्यवहितश्च आत्मास्वरूपं यस्यास्तादृशी वर्णसंहतेः स्वरव्यञ्जनवर्णसङ्घस्य व्यावृत्तिविशेषेणावृत्तिः पुनरुच्चारणं यमकमित्यन्वयः । अस्य विशेषाः पूर्वमेवोक्ता इति नात्रोच्यन्ते । अव्यपेतव्यपेतात्मेति भेदकथनाय, तथाहि कश्चित् पूर्वोच्चरितवर्णसङ्घस्याव्यवधानेन पुन-

रुच्यारणं क्वचिद्भवधानेनेति प्रथममिदं भेदद्वयम् । अस्य स्थानं नियमयति तच्चेति । पादानामादिमध्यान्तभागा अस्य स्थानानीत्यर्थः । अत्रादिमध्यान्तत्यनेन पादानां खण्डत्रयगतत्वमेव यमकस्येति नाशङ्कनीयं मध्यपदेन सम्भवत्खण्डमात्रलाभात् चतुरादिखण्डेष्वप्यस्य स्थितिर्ज्ञातव्या यदाह प्रकाशकृत् । त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुःखण्डे चत्वारिंशदिति । एतदुपलक्षणं पादा अपि अस्य स्थानानीति ज्ञेयम् । यदुक्तं वामनेन 'पादः पादस्यादिमध्यान्तभागाः स्थानानीति । अत्र पादपदेन च पादद्वयात्मकस्य पद्यार्द्धस्य पादचतुष्टयात्मकस्य सम्पूर्णपद्यस्य च ग्रहणं तेन पादखण्डाः पादाः पद्यार्द्धं सम्पूर्णपद्यञ्च यमकस्य स्थानानीति निष्कर्षः ॥ १ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः ।

आदिमध्यान्त मध्यान्त मध्याद्याद्यन्त सर्वतः ॥ २ ॥

अत्यन्तवहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोः ।

सुकरा दुष्कराश्चैव दर्शयन्ते तेऽत्र केचन ॥ ३ ॥

तत्राविमिश्रविमिश्रतया द्विविधानामादिमध्यान्तयमकानां भेदान् क्रमेण दर्शयन् प्रथममविमिश्रं विभजते । एकैति । एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानामविमिश्राणामित्यर्थः विकल्पनाभेदाः, पद्यस्य चतुष्पादात्मकत्वात् प्रतिखण्डं चत्वारसुत्वारो-

भेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः, यथा अविमिश्रितमादिभागयमकं प्रथ-  
मपाद एव, द्वितीयपाद एव, तृतीयपाद एव, चतुर्थपाद एवेति  
चतुर्विधम्, तथा मध्यादिभागयमकमपि प्रत्येकं चतुर्विधमिति  
अयञ्चाविमिश्रभेदप्रकारोऽव्यपेतव्यपेतसाधारणः । अथ विमि-  
श्रयमकं विभजते आदोति । सम्भेदयोनयः सजातीययम-  
कान्तरसंमिश्रणजन्याः आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्व-  
तोवर्त्तमानानां तेषां यमकानां भेदा अत्यन्तबहवोऽतिवि-  
स्तारा ज्ञातव्या इत्यन्वयः । सर्वत इति । सप्तमीबहुवचनान्तं,  
पदच्छेदश्च 'आदिमध्यान्तेषु, मध्यान्तेषु, मध्याद्येषु आद्यन्तेषु,  
सर्वेषु चेति । मध्यपदानि च सर्वाणि द्वितीयतृतीयपादबोध-  
कानि, चरममादिपदश्च प्रथमद्वितीयतृतीयपादबोधकम्,  
अन्तपादस्यादौ त्रयाणां पूर्वपादानां स्थितत्वात् । मध्याद्येति  
आद्यश्च मध्या चेति विग्रहः धर्मार्थादिपाठादाद्यस्य परभावः,  
तत्र आदिमध्यान्तेत्यस्य प्रथमे द्वितीये, प्रथमे तृतीये, प्रथमे च-  
तुर्थे, इति त्रयः प्रकाराः । मध्यान्तेत्यस्य द्वितीये तृतीये द्वि-  
तीये चतुर्थे, तृतीये चतुर्थे, इति त्रयः प्रकाराः । मध्याद्ये-  
त्यस्य प्रथमे द्वितीये तृतीये चेत्येकः प्रकारः । आद्यन्तेत्यस्य  
प्रथमे द्वितीये चतुर्थे, प्रथमे तृतीये चतुर्थे, द्वितीये तृतीये चतुर्थे  
चेति त्रयः प्रकाराः । सर्वेत्यस्य प्रथमे द्वितीये तृतीये चतुर्थे  
चेत्येकः प्रकारः । मिलित्वा एकादश प्रकाराः । एते  
चादिभागविषयाः मध्यादिभागविषयाश्च बोध्याः । सुकरा  
दुष्कराश्चेति सुबोधा दुर्बोधाश्चेत्यपि बोध्यं तदेते कवीनां

बोद्धुणाञ्च क्लेशकरा इति केचन दर्शयन्ते नतु सम्भविनः सर्वे  
ऽपीत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

मानेन मानेन सखि प्रणयोभूत्प्रिये जने ।

खण्डिता कण्ठमाल्लिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमपादगतमव्यपेतमविमिश्रमादिभागयमकमुदा-  
हरति । मानेनेति । सामप्रयोगेणाष्यत्यक्तमानां नायिकां प्रति  
नायकभेदितानां सखीनामुक्तिरियं । हे सखि । प्रिये जने प्रण-  
यिजनं प्रति अनेनेदृशेनास्माकमपि क्लेशकरेणेत्यर्थः मानेने-  
र्याकोपेन सह तव प्रणयः प्रेम माभूत् प्रियजनं प्रति ईदृशं मानं  
माकाषीरित्यर्थः । ननु मान एव कृतापराधनायकस्य शासनं  
तं परित्यज्य किं करोमीत्याह खण्डितेति खण्डिता 'पार्श्व-  
मेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः । सा खण्डितेति कथि-  
ता धीरैरीर्याकषायिता' इत्युक्तलक्षणा, अत्रापिकारोबोध्यः  
खण्डितापि त्वं कण्ठमाल्लिष्य स्वयं तस्य कण्ठमाल्लिङ्ग्य तमेव  
सत्रपं सलज्जं कुरु, कृतापराधमपि मामियमौदार्यात् स्वय-  
माल्लिङ्गतीति मत्वा लज्जितो भविष्यतीत्येतदेवास्य शासनमि-  
त्यर्थः । अत्र मानेनमानेनेत्यव्यपेतमादिपादगतमादिभागय-  
मकम् ॥ ४ ॥

मेघनादेन चंसानां मदनेमदनेदिना ।

नुन्नमानं मनः स्त्रीणां सह रत्या विगाहते ॥ ५ ॥

तदेव द्वितीयपादगतमुदाहरति । मेघनादेनेति । हंसानां मदनोदिना गर्वमपनयता वर्षासु हंसानां निर्मदत्वादिति भावः । मेघस्य नादेन गर्जितेन नुन्नः उद्दीपकत्वात् खण्डितोमानो यस्य तत्तथा तादृशं स्त्रीणां मनः कर्म मदनः कामो रत्या अनुरक्तिरूपया स्वभार्यया सह विगाहते विलोडयति, वर्षासु कामिनीनां मनो मानं विहाय सकामं सानुरागञ्च भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

राजन्वत्यः प्रजा जाता भवन्तं प्राप्य सत्पतिम् ।  
चतुरं चतुरम्भोधिरसनेर्वीकरग्रहे ॥ ६ ॥

तदेव तृतीयपादगतमुदाहरति । राजन्वत्य इति । भवन्तं सत्पतिं सुपालकं प्राप्य प्रजाः राजन्वत्यः सुराजयुक्ता जाताः । सुराज्ञि देशं राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवानित्यमरः, 'राज्ञो मतौ सौराज्ये' इति नलोपाभावः । किम्भूतं चत्वारोऽम्भोधय एव रसना काञ्ची यस्यास्तादृशी उर्वी तस्याः करग्रहे राज्ञाह्यभागग्रहे अथच पाणियहणे चतुरं निपुणम् ॥ ६ ॥

अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तं कैश्चित् सद्य दिवैकसाम् ।  
पदातिरथनागाश्वरहितैरहितैस्तव ॥ ७ ॥

तदेव चतुर्थपादगतमुदाहरति । अरण्यमिति । कैश्चित् पलाय्य जीवद्भिस्तव अहितैः शत्रुभिररण्यमाक्रान्तं प्रविष्टं, तथा कैश्चित् समुखयुद्धेन मृतैरहितैर्दिवैकसां सद्य स्वर्ग



आक्रान्तं, किम्भूतैः पदातिरथनागाश्वरहितैः पदात्यादिसे-  
नाङ्गशून्यैः । एवमव्यपेताविमिश्रयमकस्यादिभागविषयाश्व-  
त्वारी भेदा दर्शिताः, द्वितीयभागादिविषया अप्येवंप्रकारा  
बोधाः ॥ ७ ॥

मधुरं मधुरम्भोजवदने वदनेत्रयोः ।

विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं नु ते ॥ ८ ॥

अथ सम्भेदयोर्नव्यपेतयमकभेदान् दर्शयन् प्रथमं ताव-  
दादिमध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं भेदत्रयं क्रमेणादाहरति ।  
मधुरमिति । नु भोः प्रिये मधुर्वसन्तस्ते तव भ्रमोजसदृशं यद्व-  
दनं तत्र वर्त्तमानयोर्नेत्रयोः 'सप्तम्यन्तमिदं' भ्रमरभ्रान्त्या भ्रम-  
रमिथुनमिदमितिभ्रमेण, भ्रमोजे भ्रमरमिथुनवर्त्तनस्य सम्भवा-  
द्युज्यत एव भ्रान्तिः । किं मधुरं विभ्रमं विलासं विडम्बयति  
विशेषेण प्रेरयति अर्पयतीत्यर्थः । उन्व प्रेरणे इत्यस्य चौरा-  
दिकस्य रूपं । वद कथय, तव नेत्रयोरथं विभ्रमो भ्रमरभ्रम-  
वता वसन्तेनैव किं जनितः भ्रमरमिथुनश्च वसन्तोदयेन समु-  
त्पन्नेऽभ्रोजे सविलासं वर्त्तत इति युज्यतेऽयं वितर्कः । भ्रमो-  
जवदने इति सम्बोधनपदमिति कश्चित् । नु इत्यत्र नेतिपाठे  
किं न विडम्बयति अपि तु विडम्बयत्येवेत्यर्थः, अत्र मधुरं  
मधुरमिति वदने वदने इति प्रथमद्वितीयपादविषयमादिभा-  
गदमकम् ॥ ८ ॥

वारणो वा रणोद्दामो हयो वा स्मर दुर्द्वरः ।  
न यतो नयतोऽन्तं नस्तदहो विक्रमस्तव ॥ ९ ॥

प्रथमद्वितीयपादगतं तदेवोदाहरति । वारण इति । हे स्मर यतस्तव रणोद्दामो युद्धदुर्मादो वारणो वा हस्ती च नास्ति तथा दुर्द्वरोरणदुर्द्वर्षो हयो वा घोटकश्च नास्ति 'वादयमुभय-प्राधान्यद्योतकं' तथापि नोऽस्मान् विरहिणोऽन्तं नाशं मृत-प्रायत्वं नयतः प्रापयतस्तव विक्रमस्तत्तस्मादहो आश्चर्यं इत्य-न्वयः । दुर्द्वर इति विक्रमस्य विशेषणमिति केचित् ॥ ९ ॥

राजितैराजितैर्दणैः जीयते त्वादृशैर्नृपैः ।  
नीयते च पुनस्तृप्तिं वसुधा वसुधारया ॥ १० ॥

तदेव प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । राजितैरिति । आ-जिर्युद्धं तत्र तैर्दणैः तीक्ष्णता प्रचण्डत्वमित्यर्थः तेन राजितैः शोभितैस्त्वादृशैर्नृपैर्वसुधा पृथिवी तत्स्थालोक इत्यर्थः जीयते जयेन प्रथमं क्षीणीक्रियते, पुनर्जयानन्तरं वसुधां धनानां धा-रया धारावृष्ट्या निरन्तरदानेनेत्यर्थः तृप्तिं नीयते च । इत्य-मादिमध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितास्तयोविभागा उदाहृताः ॥  
॥ १० ॥

करोति सद्दकारस्य कलिकोत्कलिकोत्तरम् ।  
मन्मनोमन्मनोऽप्येव मत्तकोकिलनिखनः ॥ ११ ॥

अथ मध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं तस्य प्रकारचयं क्रमेण दर्शयन् प्रथमं द्वितीयद्वितीयपादगतमुदाहरति । करोतीति ।

सहकारस्यास्य कलिका मन्मनः प्रियाविरहिणो मम मान-  
सम् उत्कलिकोत्तरमुत्कण्ठाप्रधानं करोति वसन्तागमसूचक-  
तयोद्दीपकत्वादिति भावः । न केवलमेकैवेयं किन्तु मन्मनः  
कर्णमूले गुप्तालाप इव, गौणप्रयोगोऽयम्, एष मत्तानां  
वसन्तप्रारम्भेणान्मदानां कोकिलानां निखनोऽपि, सोऽपि  
मम मानसमुत्कलिकोत्तरं करोति । मन्मनश्च 'सुरते कर्ण-  
मूले तु निजदेशीयभाषया । दम्पत्योः कथनं यत्तु मन्मनं  
तं विदुर्बुधाः' इत्युक्तलक्षणः । मां मनुते उद्दिशति पचा-  
दित्वादजिति केचित् । मनसि मनुते प्रबुध्यतीति मन्मनः  
कामः मत्तकोकिलनिखनयेत्यपरे । अत्र कलिकोत्कलि-  
कोत्तरमित्यत्र तकारस्य स्वरशून्यत्वात् तद्व्यवधानेऽपि यम-  
कस्य नाव्यपेतत्वहानिः पद्यीयवर्णसङ्ख्यापूरकतया स्वरयुक्त-  
स्यैव वर्णस्य व्यवधायकत्वाभ्युपगमात् एवमन्यत्रापि बाध्यम् ॥  
॥ ११ ॥

कथं त्वदुपलम्भाशाविहताविह तादृशी ।

अवस्था नालमारोढुमङ्गनामङ्गनाग्निनी ॥ १२ ॥

- तदेव द्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । कथमिति । प्रो-  
षितं नायकं प्रति दूतीं प्रेरयन्त्या नायिकाया वाचिकमिदं । इह  
वसन्ते त्वदुपलम्भाशायास्तव प्राप्तिप्रत्याशाया विहता विघाते  
सति तादृशी अनुभूयमाना अङ्गनाग्निनी अङ्गचयकरो कृश-  
लरूपेत्यर्थः अवस्था कामदशाविशेषः अङ्गनां स्त्रियं मामा-

रोढुमाक्रमितुं कथं नालं न समर्था अपि तु समर्थैव,  
पुरुषा हि कथञ्चित् धैर्यमवलम्ब्य कामदशया नाभिभूयन्ते  
अङ्गनास्तु स्वभावतोऽधीराः सुतरामभिभूयन्त एवेत्यङ्गना  
पदस्य सार्धक्यं, तव विरहे अतिरुशा मरणोन्मुखी जातास्तीति  
ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

निगृह्य नेत्रे कर्षन्ति बालपक्षवशोभिना ।

तरुणा तरुणान् कृष्टानलिनो नलिनोन्मुखाः ॥ १३ ॥

तदेव तृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । निगृह्यति । नलि-  
नोन्मुखाः पद्मेषु पतनोद्युक्ता अलिनोभ्रमराः बालैः को-  
मलैः पक्षवैः शोभिना तरुणा वृक्षेण कर्त्रा कृष्टान् प्रथममाकृ-  
ष्टान् तरुणान् यूनो नेत्रे निगृह्य तरुशोभादर्शनोत्सुके चक्षुषी  
बलेन गृहीत्वा कर्षन्ति स्वशोभादर्शनपरान् कुर्वन्तीत्यर्थः । इत्थं  
मध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं प्रकारत्रयमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

विशदा विशदामत्तसारसे सारसे जले ।

कुरुते कुरुतेनेयं हंसो मामन्तकामिप्रम् ॥ १४ ॥

अथ मध्याद्येत्यनेन प्रतिपादितमेकप्रकारं दर्शयति । वि-  
शदेति । विशन्तः प्रविशन्त आमत्ताय सारसाः पक्षिविशेषा  
यत्र तादृशे सारसे सरःसम्बन्धिनि जले वर्त्तमाना विशदा शुभ्रा  
दयं हंसो राजहंसोत्यर्थः कुरुतेन कुत्सितकृजितेन कृत्वा उद्दो-  
पकलेन विरहिणामसञ्चत्वाद्भुतस्य कुत्सितत्वं, माम् अन्तकस्य

यमस्य आमिषं भोग्यं कुरुते, मां मारयितुं चेष्टत इत्यर्थः ।  
आमिषं पुंनपुंसकम् । भोग्यवस्तुनि सम्योगेऽप्युक्त्वाचे पललेऽपि  
चेति मेदिनी । अत्र मध्ययोर्द्वितीयतृतीयपादयोरुद्योपादे च  
यमकमित्येक एव प्रकारः ॥ १४ ॥

विषमं विषमन्वेति मदनं मदनन्दनः ।

सहेन्दुकलयापोढमलया मलयानिलः ॥ १५ ॥

अथाद्यन्तेत्यनेन प्रतिपादितं प्रकारत्रयं क्रमेण दर्शयन्  
प्रथमं प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । विषममिति ।  
अपोढमलया परित्यक्तहिमानोजनितमालिन्यया इन्दुकलया  
सह वर्त्तमानः तथा मदनन्दनः मम विरहिणोऽनन्दनोऽम-  
न्तोषकः मदं मदनस्य गर्वं नन्दयति वर्द्धयतीति स तथेति  
वा, तादृशो मलयानिलः विषममप्रतिविधेयं विषं गरलं तथा-  
विधगरलरूपमित्यर्थः, मदनं काममन्वेति अनुगच्छति उद्दो-  
पयतीत्यर्थः । इन्दुकला मलयानिलश्च काममुद्दोपयतीत्यर्थः ।  
विषमं विषमन्वेतीत्यत्र यम्यमानपदयोरैकस्य सानुस्वारत्वेना-  
मन्तोषश्चेत् विषमं विषमं क्षणौतीति प्रथमपादः पठनीयः ।  
द्वितीयविषममित्यस्य विषेण मा उपमा यस्मैति व्युत्पत्त्या विष-  
मदृशमित्यर्थः, क्षणौतीति तीक्ष्णं करोति ॥ १५ ॥

मानिनी मानिनीषुस्ते निषङ्गत्वमनङ्ग ! मे ।

चारिणी चारिणी शर्म तनुतां तनुतां यतः ॥ १६ ॥

प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगतं तदेवोदाहरति । मानि-  
 मोति । हे अनङ्ग मा मां ते तव निषङ्गत्वं निरन्तरशरनिकर-  
 पतनेन तूष्णप्रायत्वं निनीषुः प्रापयितुमिच्छुः तथा हारिणी  
 हारवती अतएव हारिणी मनोहारिणी हाराद्यलङ्कारेण  
 मनोहररूपवत्त्वात् द्विगुणतरं विरहदुःखं वर्द्धयन्तीत्यर्थः इयं  
 मानिनी तनुतां यतः दुस्त्यजं मानं दृष्ट्वा चिन्तया क्षीणतां  
 प्राप्नुवती मे मम शर्म मङ्गलं तनुतां करोतु मानत्यागेन यथेयं  
 मे सुखजनिका स्यात् तथा भवदनुग्रहो भवत्वित्यर्थः । यत इति  
 इण्गतावित्यस्य शत्रन्तस्य षष्ठीरूपम् ॥ १६ ॥

जयता त्वन्मुखेनास्मान्कथं न कथं जितम् ।

कमलं कमलंकुर्व्वदलिमदलि मत्प्रिये ॥ १७ ॥

तदेव द्वितीयद्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । जयतेति ।  
 हे मत्प्रिये मम प्राणप्रतिभे अस्मान् जयता वशो कुर्व्वता त्वन्-  
 खेन अकथं कथारहितं निर्व्विवादमित्यर्थः यथा तथा कमलं  
 पद्मं कथं न जितम् अपि तु जितमेव, किञ्चूतं कं जलमलंकु-  
 र्व्वत्, तथा अलिमन्ति भ्रमरविशिष्टानि यानि दलानि तान्यस्य  
 सन्तीति अलिमदलि । एवमाद्यन्तत्यनेन प्रतिपादितास्त्रयः  
 प्रकाराः उदाहृताः ॥ १७ ॥

रमणी रमणीया मे पाटलापाटलाशुका ।

वारुणीवारुणीभूतसौरभा सौरभास्पदम् ॥ १८ ॥

अथ सर्व्वत इत्यनेन प्रतिपादितं पादचतुष्टयगतमव्यपेत-  
मादिभागयमकमुदाहरति । रमणीति । ईदृशी रमणी स्त्री मे  
मम रमणोया रतिस्थानं, कीदृशी पाटला पाटलाख्यवृक्षकुसुमं  
हरीतक्यादिषु पाठात् स्त्रीत्वं । तद्वत् पाटलं श्वेतरक्तवर्षं अंगुलं  
वस्त्रं यस्याः सा, अतएव अरुणीभृता मैत्री सूर्य्यमन्विनो भा  
दीप्रियत्र तादृशी वारुणीव पश्चिमदिगिव, तथा मैरभस्य सौग-  
न्ध्यस्यास्पदं स्थानम् । इत्यमादिमध्यान्तेत्यादिकारिकया प्रति-  
पादिता अव्यपेतादिभागयमकस्यैकादश प्रकारा उदाहृताः ॥  
॥ १८ ॥

इति पादादियमकमव्यपेतं विकल्पितम् ।

व्यपेतस्यापि वर्ण्यन्ते विकल्पास्तस्य केचन ॥ १९ ॥

इतीति । पादादियमकं पादस्यादिभागगतयमकं । वि-  
कल्पितं सप्रभेदं दर्शितं । विकल्पा भेदाः । तस्य यमकस्य ।  
केचन नतु सर्व्वे ॥ १९ ॥

मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना ।

सहकारोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति ॥ २० ॥

तत्र व्यपेतमादिभागयमकमेकस्मिन् पादे न सम्भवतीति  
प्रथमं प्रथमद्वितीयपादगतं तदुदाहरति । मधुरिति । मधु-  
र्वसन्तः एणदृशां हरिणाक्षीणां मानं प्रणयेर्षाकोपं सह-  
कारोद्गमेनैव, कृदभिहितभावत्वादुद्गतसहकारमुकुलेनैवेत्यर्थः

शब्दशेषं मानेतिनाममात्रावशिष्टं करिष्यति गत्वर्थतोमानं  
रक्षिष्यतीत्यर्थः, किम्भूतेन यतोमधुरेण मधुयुक्तेन मधुविन्दून्  
क्षरतेत्यर्थः तथा सुगन्धिना, इत एवास्योद्दोषकत्वम् । तत्र  
मधुरेण मधुरेणेतिवर्णसङ्घाटत्तेर्दृशां मानमिति वर्णचतुष्टय-  
व्यवहितत्वाद्द्विपेतयमकत्वम् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ १० ॥

करोऽतिताम्रो रामाणां तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।

करोति सेर्ष्यं कान्ते च श्रवणोत्पलताडनम् ॥ २१ ॥

तदेव प्रथमतः तीयपादगतमुदाहरति । कर इति । रा-  
माणां रमणोनामतिताम्रोऽतिलोहितः करः पाणिः तन्त्री-  
ताडनविभ्रमं वीणागततन्त्र्याम्फालनरूपं सविलासं कर्म  
करोति, तथा कान्ते च कृतापराधे नायके च सेर्ष्यं यथा तथा  
श्रवणोत्पलन यत्ताडनं तदपि करोति ॥ २१ ॥

सकलापोल्लसनया कलापिन्यानु नृत्यते ।

मेघाली नर्त्तिता वातैः सकलापोविमुञ्चति ॥ २२ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । सकलापोल्लसन-  
येति । वातैर्नर्त्तिता सकला मेघाली अपोजलानि विमुञ्चति  
वर्षति, अनु पश्चाच्च कलापस्य पिच्छस्य यदुल्लसनमुल्लसनं तेन  
सह वर्त्तमानया कलापिन्या मयूर्या नृत्यते । वर्षास्वभावो-  
ऽयम् ॥ २२ ॥



स्वयमेव गलन्मानकलि कामिनि ! ते मनः ।

कलिकामिह नोपस्य दृष्ट्वा कां न स्पृशेद्दशाम् ॥ २३ ॥

तदेव द्वितीयतृतीयपादगतमुदाहरति । स्वयमेवेति । हे कामिनि स्वयमेव नायककृतानुनयमन्तरेणैव गलन् मानरूपः कलिः कलहः मानजनकः कलिर्वा यस्मात् तादृशं ते तव मनः कर्तुं अतिकोमलत्वाद्द्वैर्यंप्रून्यमित्यर्थः, इह प्रावृष्ट्प्रारम्भे उद्गतां नोपस्य कदम्बस्य कलिकां कोरकं दृष्ट्वा कां दशां न स्पृशेत् अपि तु सर्वा अपि कामदशाः प्राप्स्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आरुह्याक्रीडशैलस्य चन्द्रकान्तस्थलीमिमाम् ।

नृत्यत्येष लसच्चारुचन्द्रकान्तः शिखावलः ॥ २४ ॥

तदेव द्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । आरुह्येति । आ-क्रीड उद्यानं तत्र यः शैलः क्रीडापर्वतस्तस्य इमां, चन्द्रकान्तो-मणिविशेषस्तस्य स्थलीमारुह्य एष शिखावल्लोमयूरः लसन् चन्द्रकाणां मेचकानामन्तः प्रान्तभागे यस्य तादृशः सन् नृत्यति ॥ २४ ॥

उद्धृत्य राजकादुर्वी ध्रियतेऽद्य भुजेन ते ।

वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरुपरि स्थिता ॥ २५ ॥

तदेव तृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । उद्धृत्येति । हे राजन् यासौ वराहेण प्रूकरमूर्त्तिना भगवता विष्णुना उद्धृता

पातालादुत्तोलिता सती वराहेः श्रेष्ठनागस्यामन्तस्योपरि  
स्थिता सा उर्वी अद्य तव भुजेन राजकाद्राजवृन्दादुद्धृत्य  
ध्रियते ॥ २५ ॥

करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषतां हताः ।

करेणवः क्षरद्रक्ता भान्ति सन्ध्याघना इव ॥ २६ ॥

तदेव प्रथमद्वितीयतृतीयपादगतमुदाहरति । करेणेति ।  
हे राजन् रणेषु द्विषतां रिपूणामन्तकरेण विनाशकारिणा  
ते तव करेण हस्तैः हताः करेणैव गजाः क्षरद्रक्ता गलद्रुधि-  
राः सन्तः सन्ध्याघना इव सन्ध्याकालीना मेघा इव भान्ति ।  
'करेणुर्गजयोषायां स्त्रियां पुंसि मतङ्गजे' इति मेदिनी ॥ २६ ॥

परागतरुराजीव वातैर्ध्वस्ता भटैश्चमूः ।

परागतमिव कापि परागततमम्बरम् ॥ २७ ॥

तदेव प्रथमतृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । परेति । वा-  
तैर्ध्वस्ता ध्वंसिता उत्पाटितेत्यर्थः अगस्य पर्वतस्य तरुराजीव  
वृक्षश्रेणीव भटैर्वर्णनोयनृपमैत्र्यैः परा परकीया चमूः मेना  
ध्वस्ता विनाशिता, अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् ध्वंसतेः सकर्षकत्वम् ।  
ततश्च परागैः ध्वस्तावशिष्टपलायमानपरचमूत्यापितधूलिभि-  
स्ततं व्याप्तं मदम्बरमाकाशं कापि दीपान्तरे परागतमिव  
पलायितमिव धूलिभिरम्बरमलक्षितमभूदित्यर्थः ॥ २७ ॥

पातु वो भगवान् विष्णुः सदा नवघनद्युतिः ।

स दानवकुलध्वंसी सदानवरदन्तिहा ॥ २८ ॥

तदेव द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । पाल्ति ।  
नवघनस्यैव द्युतिर्यस्य सः, तथा दानवकुलध्वंसी, तथा सदानः  
समदो वरः श्रेष्ठो यो दन्ती कुवल्यापीडाख्यागजस्तस्य हन्ता  
स प्रसिद्धो भगवान् विष्णुर्वो युष्मान् सदा पातु ॥ २८ ॥

कमलेः समकेशन्ते कमलेर्ष्याकरं मुखम् ।

कमलेख्यं करोषि त्वं कमलेवोन्मदिष्णुषु ॥ २९ ॥

सर्वपादगतं तदेवोदाहरति । कमिति । हे सुन्दरि ते  
तव कं शिरः अलेर्भ्रमरस्य समाः सदृशाः अतिश्यामला इत्यर्थः  
केशा यत्र तत्, तथा तव मुखं कमलेर्ष्याकरं पद्मानां द्वेषकृत्  
कमलसदृशमित्यर्थः, अतएव त्वं कमलेव लक्ष्मीरिव कं जनं  
उन्मदिष्णुषु उन्मादवत्सु मध्ये अलेख्यमगणनीयं करोषि अपि तु  
सर्वानेव पुरुषानुन्मत्तान् करोषीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मुदा रमणमन्वीतमुदारमणिभूषणाः ।

मद्भ्रमदृशः कर्तुमद्भ्रजघनाः क्षमाः ॥ ३० ॥

सम्प्रति व्यपेतस्यैव सजातीयविजातीयघटितानि प्रकारान्त-  
राणि दर्शयन् प्रथमं प्रथमद्वितीययोरेकविधं तृतीयचतुर्थयो-

स्वन्वविधमुदाहरति । मुदेति । उदाराणि महान्ति महामूल्या-  
नीत्यर्थः मणिभूषणानि मणिमयासुहरणानि यासां ताः, तथा  
मदेन मद्योपयोगेन मैभाग्यधैवनाद्यवलोपजविकारविशेषेण  
वा भ्रमन्त्यो घूर्णन्त्यो वृञ्जयन्ति यासां ताः, तथा अदभ्रजघनाः  
पृथुजघनाः स्त्रियः मुदा हर्षणं रमणं काममन्वीतमनुगतं  
कर्तुं मुदा मन्वीतं हर्षयुक्तं कर्तुमिति वा समाः समर्थाः ।  
मन्वीतमिति ईमतावित्यस्य रूपम् । अत्रादभ्रजघना इत्यत्र  
अदभ्रमदना इत्येवपाठः सम्यक् पूर्वपादत्रये वर्णचतुष्टयस्यैव  
यस्यमानत्वादिति धेयम् ॥ ३० ॥

उदितैरन्यपुष्टानामारुतैर्म हतं मनः ।

उदितैरपि ते दूतिः । मारुतैरपि दक्षिणैः ॥ ३१ ॥

तदेव प्रथमद्वितीयचतुर्थयाश्चादाहरति । उदि-  
तैरिति । आः इति खेदं, अन्यपुष्टानां काकिलानामुदितैः  
रुद्रतैः 'उत्पूर्वादिण् गतावित्यस्मात् कर्त्तरि क्तः । रुतैः शब्देर्म  
रुना हतं हिंसितं व्यथितमित्यर्थः । न केवलं तैरुतैरेव किन्तु  
हे दूति ते तव उदितैर्वचनैरपि । वदन्तर्भावे क्तः । प्रियाकृशनि-  
वेदकैर्वचनैरपि हतं तथा दक्षिणैर्दक्षिणदिग्भिर्मारुतैर्वायु-  
भिरपि' ॥ ३१ ॥

सुराजितद्वियोयूनां तनुमध्यासते स्त्रियः ।

तनुमध्याः सरत्स्वेदसुराजितमुखेन्दवः ॥ ३२ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयद्वितीययोश्चोदाहरति । सुरे-  
ति । तनुं क्षीणं मध्यं यासां ताः, तथा चरन् सत्त्वोदयाद्गुण-  
यः स्वेदो घर्षजलं तेन सुराजिताः सुभोभिताः मुखानि  
इन्द्रवज्रा इव ते यासां ताः स्त्रियः सुरया मद्येन जिता-  
परास्ता ह्रीर्लज्जा यासां तादृश्याः सत्यः यूनां तनुं देहं  
जात्याश्रयणादेकवचनम्, अध्यासते अधिगरेते 'यत्रार्थोऽधि-  
ष्ठादेरित्याधारस्य कर्मात्मम् ॥ ३२ ॥

इति व्यपेतयमकप्रभेदोऽप्येष दर्शितः ।

अव्यपेतव्यपेतात्मा विकल्पोऽप्यस्ति तद्यथा ॥ ३३ ॥

इत्यमव्यपेतं व्यपेतञ्च यमकं दर्शितं सम्प्रति तयोरेकत्र  
संमिश्रणेन भेदान्तराणि दर्शयन्नाह । इतीति । अपिना पूर्वं-  
दर्शिताव्यपेतयमकसमुच्चयः । अव्यपेतव्यपेतात्मा अव्यपेतव्यपेत-  
संमिश्रणात्मकः, विकल्पो यमकस्य भेदः । तद्यथेति, अव्यपेत-  
व्यपेतात्मकं यमकं यथेत्यर्थः, यद्वा तदित्यव्ययं स विकल्पो  
यथेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

• सानं सानं वक्रान्निक्रामानं सानं न वीक्षितुम् ।

नानीनानोनवकुलानानो नानोकिनोरपि ॥ ३४ ॥

तत्र प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोस्तदुदाहरति । सास-  
मिति । प्रोषितं नायकं प्रति दूत्या नायिकावस्त्रावर्णनमिदं ।  
सा आसी मम सखी सालम्बाः सम्बमानत्वेन सहवर्त्तमाना

याः कलिकाः कोरकाद्याः सञ्चति गच्छतीति शास्त्रकलिका-  
 शालः । कर्षणे सञ्चति सट् । तं शालं वृक्षमात्रं सञ्चवृक्षं वा,  
 'शालः पादपमात्रेऽपि प्राकारे सञ्चपादपे' इति मेदिनी ।  
 वीक्षितुम् उद्दीपकत्वाद्द्रष्टुं शालं न समर्था । शास्त्रकलिकाः  
 शालाः आवरणकारित्वात् प्राकारा इव यचेत्यन्ये । तथा  
 अश्लोक्यन्तेऽचेति अश्लोकाः 'अधिकरणे कः' तादृशा वकुला  
 वकुलवृक्षायैस्तादृशानश्लोक् भ्रमरानपि वीक्षितुं शालं । तथा  
 अश्लोकं मिय्यावचनं तद्विद्यते यासां तास्तथा तादृशीरश्लो-  
 किनीः सञ्चति तव प्रिय आगमिष्यतीति मिय्यावादिनीः सञ्चि-  
 रपि वीक्षितुं शालं, यदा अश्लोकिनीः पद्मिनीः । 'अश्लोकिनी  
 पुटकिनी विशिनी पद्मिनी तथेति व्याडिः । अत्र प्रथमपादे  
 शालं शास्त्रमित्यव्यपेतं तस्यैव द्वितीयपादे व्यवधानेन पुनरा-  
 वृत्तिरिति व्यपेतञ्च, एवमुत्तरार्द्धे शालीशालीत्यत्रापि अत्र  
 वर्षदयस्यापि सञ्चतित्वमस्येवेति न यमकत्वाभावश्चाह ॥ ३४ ॥

कालं कालमनालक्ष्यतारतारकमोक्षितुम् ।

तारतारम्यरसितं कालं कालमहाघनम् ॥ ३५ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयतृतीययोश्चोदाहरति । का-  
 लमिति । का प्रियविरहिणी नारी ईदृशं कालं प्रावृट्समय-  
 मोक्षितुमर्हं समर्था अपि तु न कापि, कालपदञ्च तदुत्पन्ना-  
 द्दीपकवस्तुपरम् । किञ्चूतम् अनालक्ष्याः सम्यगदृश्यास्तारा  
 उज्ज्वलास्तारका नक्षत्राणि यत्र तं, तथा तारतया अत्युच्चत्वेन

अरम्यं अवषदुःखदं रक्षितं मेघानां गच्छितं च तं, तथा  
 कासाः कृष्णवर्णा महान्तो घना मेघा यत्र तम्, अतएव कासं  
 विरहिणां साक्षाद्यममिव । अत्र कासं कासेत्यत्र एकस्य सागु-  
 खारत्वे अपरस्य तदभावे यद्यसन्नोषस्तदा कासं कासं दुरा-  
 लक्ष्येति प्रथमपादः, कासं कासं कृतं घनैरिति चतुर्थपादश्च  
 पठनीयः, घनैः कासं कृतं कुक्षितालङ्कारवन्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

याम यामत्रयाधीनायामया मरणं निशा ।

यामयाम धियाऽस्वर्त्याया मया मथितैव सा ॥ ३६ ॥

तदेव पादचतुष्टयगतमुदाहरति । यामेति । निशायामु-  
 हीप्रमदनस्य स्वावस्थयानुमितनायिकावस्थस्य कस्यचिद्विरहि-  
 णोविलापवर्त्मनिदम् । यामत्रयस्य प्रहरत्रयस्याधीनः प्रहर-  
 त्रयकृत आयामोदैर्घ्यं यस्याः सा तथा तथा निशा रात्र्या हेतुना  
 वयं मरणं याम गच्छाम, निशायास्त्रियामात्मकत्वं यथा  
 'त्रियामां रजनीं प्राङ्मुख्याद्यन्तचतुष्टयम्' इति स्मृतिः । भव-  
 त्स्माकं मरणं न तत्र विशेषेण हानिः किन्तु धिया मनसा वयं  
 यां कान्तामयाम अगच्छाम स्वस्मिन् यस्याः प्रणयमवर्द्धयामे-  
 त्यर्थः, लङ्परस्मैपदोक्तमपुरुषवङ्गवचनं । सा अस्वर्त्याया मां  
 विना अस्वर्त्तिं प्राणपीडामायाति प्राप्नोतीति आयातेः क्विप्,  
 ईदृशी सा मया मथितैव मयैव विदेशागतेन सा विनाशिता  
 मयि प्रणयं कृत्वा सा तपस्विनी म्रियते इत्यमेव मे महतो  
 हानिरिति भावः ॥ ३६ ॥

इतिपादादियमकविकल्पस्येदं गतिः ।

एवमेव विकल्पानि यमकानोतराण्यपि ॥ ३७ ॥

आदिभागयमकमुपसंहरति । इतीति । गतिर्दिक् । इत-  
राणि मध्यान्तभागगतानि अद्यपेतव्यपेततस्मिन्नरूपाणि एवमेव  
पूर्वोक्तप्रकारेणैव एकद्वित्रिचतुष्पादं प्रादिआदिमध्यान्तोत्थादि  
कारिकोक्तप्रकारेणैवेत्यर्थः, विकल्पानि विकल्प्य ज्ञातव्यानि  
कानिचिदेव मया दर्शयिष्यन्ते सकलानि तु पूर्वप्रदर्शितादि-  
भागयमकरीत्या स्वयं ज्ञातव्यानीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

न प्रपञ्चभयाद्भेदाः कार्त्स्न्येनाख्यातुमीहिताः ।

दुष्कराभिमता येतु वर्ण्यन्ते तेऽत्र केचन ॥ ३८ ॥

ननु भवतैव कथं साकल्येन न दर्शितास्तत्राह । नेति ।  
प्रपञ्चभयात् यन्यबाहुल्यकृतश्रोतवैमुख्यभयेन, ईहिताः इष्टाः ।  
दुष्कराभिमताः दुष्करत्वेनान्येषां नियिताः, वर्ण्यन्ते उ-  
च्यन्ते, वर्ण्यन्त इति क्वचित्पाठः । तेऽत्रेत्यत्र तत्रेति क्वचित्पाठः  
तत्र तेषु मध्ये ॥ ३८ ॥

स्थिरायते यतेन्द्रियो न हीयते यतेर्भवान् ।

अमायतेयतेऽप्यभूत् सुखाय तेऽयते क्षयम् ॥ ३९ ॥

तत्राद्यपेतं सर्वपादगतं मध्ययमकमुदाहरति । स्थिरायत  
इति । स्थिरा अविनश्यता आयतिरक्षरकालो यस्य स तथा



तत्सम्बोधनम् 'उत्तरः कास आयतिरित्यमरः । हे स्थिरायते भवान् यतेः संयमात् समाधेरित्यर्थः, न हीयते न च्युतो भवति कर्षकर्त्तरि रूपम्' यतो यतेन्द्रियः इन्द्रियसंयमवान् इन्द्रियाणामसंयमे हि समाधेः स्थिरत्वं न भवति तदुक्तं 'बलवानिन्द्रियग्रामो विदांसमपि कर्षति' इति । तथा ते तव अमायतापि मायारहितत्वमपि इयते एतत्परिमाणाय अतिप्रभृतायेत्यर्थः तथा क्षयं नाशम् अयते न गच्छते नित्यायेत्यर्थः सुखाय परानन्दायाभृत् । अत्र यतेयते इति पादमध्यखण्डस्यावृत्तिः ॥

॥ ३८ ॥

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखै-

र्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः ।

न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः

प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥ ४० ॥

तदेव प्रतिपादं केवल्यपेतमुदाहरति । सभास्त्रिति । हे राजन् ते तव गुणाः सुरान् देवान् न यान्ति सुराणां मुष्ण्भ्याऽप्युक्लृष्टा इत्यर्थः, सुरान्न यान्ति अपि तु यान्त्येवेति केचित् । किम्भूताः महीसुराणां ब्राह्मणानाम् असुराहतैः सुरापानेन हतप्रायभिलैः अतिपवित्रैरित्यर्थः तथा वसुना तेजसा राजितैः शोभितैः धनदानेन प्रफुल्लैरिति वा 'देवभेदेऽनलेरग्नी वसुरत्ने धने वस्त्रित्यमरः' ईदृशैर्मुखैः सभासु स्तुताः प्रशंसिताः, तथा भासुरा उज्ज्वलाः, तथा रागस्वी प्रत्यनुराम आत्मसु मनःसु

यामां तास्तथा तादृशीषु प्रजासु रात्रितां प्रभूततां गताः  
प्रजाभिर्बहुतया गृहीता इत्यर्थः ॥ ४० ॥

तव प्रियाऽसच्चरित ! प्रमत्त या  
विभूषणं धार्यमिहांगुमत्तया ।  
रतोत्सवानन्दविशेषमत्तया  
प्रयोजनं नास्ति हि कान्तिमत्तया ॥ ४१ ॥

अथ व्यपेतं पादचतुष्टयगतमन्तयमकमुदाहरति । तवेति ।  
किमिति विभूषणमियं न परिदधातीति पृच्छन्तं शठनायकं  
प्रति सख्या उक्तिरियं । हे असच्चरित हे प्रमत्त या तव प्रिया  
प्रेयसी लोकसन्निधाने त्वया प्रेमास्पदत्वेनोच्यमानेत्यर्थः, सच्च-  
रिताप्रमत्तेति पाठे सच्चरितेति अप्रमत्तेति च सोऽसुष्ठु-  
सम्बुद्धिपदद्वयं । तथा इह प्रस्तावे रतरूपो य उत्सवस्तज्जन्यो य  
आनन्दविशेषस्तेन मत्तया सत्या अंगुमद्दीप्तिमद्विभूषणं धार्यं,  
सम्प्रति तु त्वयि नायिकान्तरामक्तेऽस्या रतोत्सवानन्दविशेषो ना-  
स्त्येव तत्किमिति विभूषणं धार्यमित्युत्तरवचनमत्र प्रतीयमानं  
बोधं, ननु शोभार्थमपि किमिति न धार्यते तत्राह प्रयोज-  
नमिति हि यतः कान्तिमत्तयानैसर्गिकविलक्षणसौन्दर्यवत्त्वेन  
विभूषणैः प्रयोजनं कार्यं नास्ति, कान्तिरेवास्याः शोभासम्पा-  
दिका न पुनर्विभूषणमित्यर्थः । आनन्देत्यत्र आमोदेति कश्चि-  
त्पाठः । प्रयोजनं नास्ति हीत्यत्र न मे फलं किञ्चनेति पाठस्तु  
न मनोरमः ॥ ४१ ॥

भवादृशा नाथ ! न जानते नते  
रसं विरुद्धे खलु सन्नतेनते ।  
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते  
चरन्त्यलं दैन्यरसेन तेन ते ॥ ४२ ॥

अव्यपेतं तदेवोदाहरति । भवादृशा इति । हे नाथ  
राजन् भवादृशा नृपजनाः नतेर्नमनस्य रसमास्वादं न जानते,  
कुत इत्याह खलु यतः सन्नतं सम्यक् नमनम् इतता प्रभुता च  
ते सन्नतेनते विरुद्धे सामानाधिकरण्यशून्ये, तर्हि के जानत  
इत्यत्राह ये जना दीना एव केवलं दरिद्राः ते तेन प्रसिद्धेन  
दैन्यरसेन दारिद्र्यरूपेण विषेण दैन्यस्य रसेनास्वादेन वा  
हेतुना नतेन शिरसा ते तव अलमत्यर्थं चरन्ति त्वामुपचर-  
न्तीत्यर्थः । ते तुभ्यं नतेन शिरसेति केचित् । 'रसे गन्धरसे  
जले । शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः । देह-  
धातुप्रभेदे च पारदास्वादयोः पुमान्' इति मेदिनी ॥ ४२ ॥

लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन  
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन ।  
व्याजृम्भितेन जघनेन च दशितेन  
सा हन्ति तेन गलितं मम जीवितेन ॥ ४३ ॥

एकच व्यपेतसर्व्वपादगतमध्याक्तयमकद्वयमुदाहरति । ली-  
लेति । सा नायिका शुचिना शुद्धेन लीलास्मितेन सविला-

सेषद्रुसनेन मां हन्ति व्यथयति, एवं मृदुना मधुरेण उदि-  
 तेन वचसा, तथा लघुना दृष्टेन व्यालोकितेन वीक्षितेन,  
 'चिच्छिष्टेऽल्पे लघुरित्यमरः । तथा गुरुणा स्तनजघनगौरवा-  
 न्मन्यरेण गतेन गमनेन, तथा व्याजृम्भितेन जृम्भया, जृम्भा  
 हि स्त्रीणामनुरागं व्यञ्जयति, यदुक्तं 'जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं  
 बालमास्त्रिय चुम्बति' इति । तथा दर्शितेन कथञ्चित् प्रका-  
 शितेन जघनेन च । सर्वत्र करणे तृतीया । तेन तत्तत्करणक-  
 हननेन हेतुना मम जीवितेन गलितं गतमिव । भावे क्तः ।  
 अत्र पादानां मध्येष्वन्तेषु च तेनेत्यस्य पुनःपुनरावृत्तिः ॥ ४३ ॥

श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमान-

मात्मानमानतजगतप्रथमानमानम् ।

भृमानमानमत यः स्थितिमानमान

नामानमानमतमप्रतिमानमानम् ॥ ४४ ॥

तदेवाव्यपेतमुदाहरति । श्रीमानिति । हे जनाः यृगना-  
 त्मानं ब्रह्म आनमत नमस्कुरुत, किम्भूतम् अमरवर्त्म आकाशं  
 तेन समानं मानं परिमाणं यस्य स तथा तम् आकाशवदप-  
 रिच्छिन्नमित्यर्थः, तथा आनते उपामनार्थं नखे जगति  
 प्रथमानो विस्तारं गतो मानः पूजा यस्य स तथा तं, तथा  
 भृमानं महान्तं, यदा भुवा भूरूपेण कार्येण मीयतेऽनुमीयते  
 यस्तम्, अथवा भूराश्रयोऽधिष्ठानमित्यर्थः, तत्त्वेन मीयते  
 ज्ञायत इति तम् भ्रमविषयस्य प्रपञ्चस्याधिष्ठानमित्यर्थः ।

एवञ्चामरवर्त्मसमानमानमित्यनेनैकार्थत्वाभावः । तथा अमानान्यपरिमितानि नामानि यस्य स तथा तं प्रकृतिसम्पर्केण बहुभिर्नामभिः ख्यातिं गतमित्यर्थः, तथा आ ईषत् अनन्ति श्रमन्तीत्यानाः प्राणसंयमवन्तो योगिनस्त्रैर्मतं योगधारणया ज्ञातम्, तथा प्रतिमीयते एभिरिति प्रतिमानानि प्रमाणानि तैर्मानं ज्ञानं यस्य स तथा तद्भिन्नं प्रमाणैरवेद्यमित्यर्थः, यदा अप्रतिमानमनुपमं मानं ज्ञानं यस्य स तथा तं प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाटस्थेन केवलं मनःसंयमेन ज्ञायमानमित्यर्थः । नन्ववभूत आत्मा गगनकुसुमादिवदलोक एवास्तां चार्वाकादिभिरनङ्गीकृतत्वात्तत्राह य आत्मा स्थितिमान् स्थिरतरः जगदुत्पत्तिविनाशकारितयावशाभ्युपेयत्वान्नित्यः स्थिरतरत्वेन योगिनामनुभवविषयतयानपलपनीय इति वा, तथा श्रीमान् स्वयं प्रकाशमानः, तथा अमान् विभुत्वात् क्वचिदपि न माति । यमकानुगोधाद्भ्रवद्वितयोजना मोढव्या । अत्रार्हुद्वयान्ते हलन्तमकारंथाः पद्यपूरकत्वाभावेनागण्यत्वान्मानमानेत्यत्र नान्तयमकत्वहानिः । पादानां मध्यखन्तेषु च मानयुग्मानामव्यवधानेनावर्त्तनात् पादचतुष्टयगतमव्यपेतमध्यान्तयमकमिदं । ननु मध्यपदं यमनयोग्यप्रथमखण्डतादृशान्तखण्डयोरन्तरालवाचि, यमनयोग्यता चैकवर्णस्य न सम्भवति वर्णसंहतेरित्युक्तेः तत् कथमेकवर्णात् परं मध्ययमकप्रदर्शनमिति चेन्नैवम् आद्यन्तवर्णयोरन्तरालस्यैव मध्यपदेनोक्तत्वात्, अपरितोषस्यदिदमपि नमाननमानेति व्यपेतमध्यान्तयमकोदाहरणं बोध्यं पूर्वपद्ये

वर्षद्वयस्य यमनमच तु वर्षत्रयस्येत्युदाहरणान्तरदर्शनायाः फ-  
लम्, अव्यपेतमध्यान्तयमकोदाहरणन्तु स्वयमूहनीयम् ॥ ४४ ॥

सारयन्तमुरमा रमयन्ती  
सारभूतमुरुसारधरा तम् ।  
सारमानुकृतसारसकाञ्ची  
सा रसायनमसारमवैति ॥ ४५ ॥

पादचतुष्टयगतं व्यपेतमादिमध्ययमकमुदाहरति । सार-  
यन्तमिति । सा काचित् स्त्री रसायनममृतमपि असारं तुच्छ-  
मवैति अवगच्छति प्रियालिङ्गनमुखादमृतपानमुखमपचुष्ट-  
मिति जानातीत्यर्थः, किम्भृता सारयन्तं स्वकुञ्जमभिसारयन्तं  
तथा सारभूतम् अयमेव जगत्लोकः सार इत्यभिमन्तमानं तं  
कान्तम् उरसा वत्तसा रमयन्ती वत्तसा आलिङ्ग्य रमयन्ती-  
त्यर्थः, उरसा सारयन्तमाश्लिष्यन्तं तं रमयन्ती प्रत्यालिङ्ग-  
नेन सुखयन्ती 'सृ आस्तरणे' इत्यस्य सौरादिकस्य रूपिणि ।  
वा । तथा उरुसाराणि सुवर्णालङ्कारान् धरतीकुरुसार-  
धरा । उरुसारं सुवर्णं स्यादिति व्याडिः । तथा सारभैः  
पक्षिविशेषैरनुकृता सारसा मशब्दा काञ्ची यस्याः सा ॥ ४५ ॥

नयानयालोचनयाऽनयाऽनया  
नयानयान्धान् विनयानयायते ! ।  
न यानयासोर्जिनयानयानया  
नयानयांस्तान् जनयानयाश्रितान् ॥ ४६ ॥

इदानीमेकत्र प्रथमद्वितीयपादयोरव्यपेतमाद्यन्तयमकं द्वि-  
 तीयचतुर्थयोस्तु तादृशमादिमध्ययमकस्योदाहरति । नयेति ।  
 अत्र पदच्छेदः । नयानयालोचनया, अनया, अनयान्, अया-  
 नयान्, विनय, अनयायते, न, यान्, अयामीः, जिनया-  
 नयान्, अयानयान्, अयान्, तान्, जनय, अनयाश्रितान्, इति ।  
 न अयति गच्छतीति अनया अनपाया आयतिरुत्तरकालो  
 यस्य स तथा तत्सम्बोधनं । हे अनयायते स्थिरायते राजन्  
 अनया ईदृश्या प्रत्यक्षदृशमानयेत्यर्थः, नयेनोतिः अनयो-  
 ऽनोतिः तयोरालोचनया अयं नयः श्रेयस्करः अयमनयो  
 हानिकर इति विवेचनया अनयान् नीतिरहितान् अतएव  
 अयस्य शुभावहविधेरानये आनयने अन्धान् आत्मनः शुभ-  
 मपश्यत इत्यर्थः, ईदृशान् जनान् विनय शिष्य यथा ते नीति-  
 मार्गानुसारिणो भवेयुस्तथा तानुपदिशेत्यर्थः । इति प्रथमार्द्ध-  
 स्मार्थः । किञ्च त्वं यान् जनान् न अयामीः गतवानमि यैः  
 सह सङ्गं न कृतवानमीत्यर्थः, किम्भूतान् यतो जिनयानयान्  
 यात्यनेनेति यानं मार्गः जिनस्य बौद्धस्य यानं जिनयानं  
 दिगम्बरप्रस्थानमित्यर्थः, तद्यान्ति गच्छन्तीति ते तथा तान्  
 दिगम्बरमतप्रविष्टानित्यर्थः, अतएव अयानयान् अयानमपयं  
 यान्तीति ते तथा तान्, अतएव अनयाश्रितान् अशुभमव-  
 लम्बमान् तान् जनान् अयान् अं विष्णुं यान्तीति अया-  
 स्तादृशान् जनय कुरु जेनान् जनान् वैष्णवान् कुर्वित्यर्थः ।  
 अर्ध्वत्र आदन्तादमादेरप्रादेरित्यङ्, इत्युत्तरार्द्धार्थः ॥ ४६ ॥

रवेण भौमो ध्वजवर्त्तिवीरवे-  
रवेजि संयत्यतुलास्तगौरवे ।  
रवेरिवोयस्य पुरोहरेरवे  
रवेत तुल्यं रिपुमस्य भैरवे ॥ ४७ ॥

अथ व्यपेतं पादचतुष्टयगतमाद्यन्तयमकमुदाहरति । रवे-  
 णेति । श्रीकृष्णस्य नरकासुरेण सह युद्धवर्षनमिदं । भूमि-  
 पत्यं भौमो नरकासुरः, ध्वजवर्त्तिनः श्रीकृष्णस्य रथध्वजे  
 वर्त्तमानस्य वीरस्य वीर्यवतो वेः पक्षिणो गरुडस्य रवेण शब्देन  
 कर्त्ता संयति युद्धे अवेजि उद्वेजितः, किम्भूते संयति अतुल-  
 मनुपमम् अस्त्राणां गौरवं गुरुत्वं बाहुल्यं वा यत्र तस्मिन्,  
 स्त्रियां संयदित्यमरे संयच्छब्दस्य स्त्रीत्वात्कावपि बहुषु पुंस्त्वमपि  
 दृश्यत इत्यत्र पुंस्त्वं । तथा भैरवे भयहरे । यदाहनस्येदृशी  
 योग्यता तस्यायमकिञ्चिन्कर इत्याह । रवेः सूर्यस्यैव उयस्य  
 तेजस्विनाऽस्य हरेः श्रीकृष्णस्य अथच सिंहस्य पुरोऽग्रे रिपुं  
 नरकम् अवेर्भेषस्य तुल्यमवेत यूयं जानीत, यथा सिंहस्य भेषः  
 तया श्रीकृष्णस्याये नरक इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

मयामयान्मन्व्यकनामयामया-  
मयामयानं व्यविरामयामया ।  
मयामयार्त्तिं निशयामयामया-  
मयामयामूं करुणामयामया ॥ ४८ ॥

तदेवाव्यपेतमुदाहरति । मयति । सखायं प्रति कस्यचि-  
 द्विरहिणो वचनमिदम् । अत्र पदच्छेदः । तत्र प्रथमपादे



मयामयालम्ब्यकलामयामयाम्, इत्येकमेव पदम् । अयाम्,  
 अयातव्यविरामयामया, इति द्वितीयपादे । मया, अमयान्ति,  
 निशया, अमया, अमया, इति तृतीयपादे । अमय, आमय,  
 अमं, करुणामय, आमया, इति चतुर्थपादे । तदयमन्वयः ।  
 हे अमय ! मिनोति लिपतीति मयः 'डुमिञ् चेषणे इत्यस्य  
 कर्त्तरि डः, तद्धिन्नोऽमयः तत्सम्बोधनं सर्वास्त्रयवस्यासु मा-  
 मनुवर्त्तमानेत्यर्थः, तथा हे करुणामय ! दयामय ! मखे ! मया  
 सह अमं नायिकाम् आमय संगमय 'अमगतावित्यस्य णि-  
 डन्तश्च रूपम् । मया किम्भूतेन आमरोगः 'अमरोगे इत्यस्य  
 चौरादिकस्य रूपम्, आमं कामपीडां याति प्राप्नोतीति  
 आमयाः तेन आमया 'धातेरासुक् शमाद्यचीत्याकारलोपः ।  
 मया सह तस्याः सङ्गमश्च न दुर्घट इति सृचयन् नायिकां  
 विशिनष्टि मयो गमनं कलाचय इत्यर्थः । मयगतावित्यस्य रूपं,  
 तद्विपरीतोऽमयः कलोपचयश्च इत्यर्थः, ताभ्यामालम्ब्य आश्र-  
 यणीयः कलापचयोपचयवानित्यर्थः, तादृशो यः कलामयः  
 कलावांश्चन्द्रस्तस्मादामयो रोगः कामपीडा यस्याः सा तथा  
 तां, मापि मामप्राप्य उद्दीपकेन चन्द्रेण पीडिता अतस्तव  
 लयुनैव यत्नेन तस्याः सङ्गमो भविष्यतीति भावः । तस्याः  
 प्राप्तौ कथमेवं व्याकुलीभवस्योत्यत्राह, यतोऽहं निशया  
 रात्र्या हेतुनां मयो गमनं प्राप्तिरित्यर्थः तस्याभावोऽमयं  
 तस्या अप्राप्तिरित्यर्थः तज्जन्यामर्त्तिं पीडां अयाम् अगच्छं,  
 निशया किम्भूतया अयातव्योऽप्राप्तव्यो विरामोऽवसानं येषां

तादृशा यामाः प्रहरा यस्याः सा तथा तथा दीर्घयामयेत्यर्थः,  
अतएव अमया नास्ति सा परिमाणं यस्याः सा तथा तथा  
अतिदीर्घयेत्यर्थः, अतएव अमया नास्ति सा शोभा यस्याः सा  
तथा तथा कुत्सितयेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

मत्तान्धुनानारमतामकामता  
मतापलब्धाग्रिमतानुलोमता ।  
मतावयत्युत्तमता विलोमता-  
मतास्यतस्ते समता न वामता ॥ ४९ ॥

अथ व्यपेतमादिमध्यान्तयमकं पादचतुष्टयगतमुदाहरति ।  
मतामिति । कश्चिन्नाहाशयं प्रति कस्यचित् स्तुत्युक्तिरियम् ।  
पदच्छेदा यथा । मतां, धुनामा, आरमताम्, अकामता, इति  
प्रथमे । अतापलब्धा, अग्रिमतानुलोमता, इति द्वितीये । मतो,  
अयतो, उत्तमताविलोमताम्, इति तृतीये । अतास्यतः, न,  
समता, न, वामता, इति चतुर्थे । अतास्यतः कथमपि तैस्स-  
गच्छतस्ते तव मतो बुद्धौ समता मित्रामित्रादिषु तुल्यवृत्ति-  
तैव विद्यते, न वामता प्रतिकूलता तु न विद्यते, किञ्चूता समता  
आरमतामात्मारामाणां योगिनां मतां समताम् अकामतां  
निरभिलाषतामपि धुनाना आक्षिपन्ती ततोऽप्युक्तयेत्यर्थः,  
तथा अतापेनाक्षेपेण लब्धा, तथा अग्रिमतायाः श्रेष्ठताया  
अनुलोमता आनुकूल्यं यथा सा श्रेष्ठत्वसम्पादिकेत्यर्थः, तथा  
उत्तमताया गुणिताया विलोमतां प्रतिकूल्यम् अयतो

अगच्छन्ती । अत्र पादानामादौ मध्येऽन्ते च व्यवधानेन मतेति  
वर्षद्वयस्यावृत्तिः ॥ ४८ ॥

कालकालगलकालकालमुखकालकाल

कालकालघनकालकालपनकाल काल ! ।

कालकालसितकालका ललनिकालकाल

कालकालगतु कालकाल कलिकालकाल ॥ ५० ॥

तदेवाव्यपेतमुदाहरति । कालेति । श्रीकृष्णं प्रति श्रीरा-  
धायाः महचर्या उक्तिरियं । हे काल कृष्ण 'अयं द्वितीयपा-  
दान्तकालपदस्यार्थः, ललनिका अनुकम्पनीया ललना 'अनु-  
कम्पायां कप्रत्ययः, श्रीराधेत्यर्थः, आलगतु लघि संसक्ता  
भवत्वित्यन्वयः । तत्र कृष्णस्य विशेषणानि सम्बुद्धिविभक्त्यन्त-  
पदानि । हे कालकालगलकालकालमुखकालकाल ! कालः  
सर्व्वेषां लयकारकः 'कलनात् सर्व्वभूतानां स कालः परि-  
कीर्त्तित इति स्मृतः । तादृशा यः कालगलो नीलकण्ठः शिवः,  
काल्या अयं पतिः कालो यः कालगलः शिव इति कंचित्,  
तथा कालो यमः, तथा कालमुखो वानरविशेषश्च तेषां द्वन्द्वः,  
एषां कालकं कृष्णत्वमालाति गृह्णातीति स तथा तन्सम्बोधनम् ।  
ला आदानं इत्यस्यादन्तादमादेरप्रादेरित्यङ् । शिवकण्ठ-  
यमदेहवानरविशेषमुखवत्कृष्णवर्षेत्यर्थः । तथा हे कालकाल-  
घनकालकालपनकाल ! कं जलमालाति धारयतीति कालः  
अतएव कालः कृष्णवर्षो यो घनो मेघः तस्य काले समये वर्षा-

काले इत्यर्थः, कायन्ति शब्दं कुर्वन्तीति कालकालघनकालका  
मयूराः 'कैशब्दे इत्यस्याङि रूपं' तेषामालपनं मुखं तद्वत्  
कलते शब्दं करोतीति स तथा तत्सम्बोधनं 'कल्शब्दे इत्यस्य  
घणि रूपं, मयूरवत् षड्जस्वरेण भाषमाणेत्यर्थः। कालकालपन-  
कालकालघनकालकालेतिपाठे तु काले वर्षाकाले कायन्तीति  
कालका मयूरास्तेषामालपनं कृतं कालयति प्रेरयति प्रवर्त्त-  
यतीत्यर्थ इति कालकालपनकालः 'कल्पेरणे इत्यस्य चौरा-  
दिकस्य रूपं । तथा कालः पूर्वाकव्युत्पत्त्या सजला यो घनस्तद्वत्  
काल श्यामलेत्यर्थः । तथा हे कालकाल! कालेन समयस्वरू-  
पेणात्मना कालयति लोकान् प्रेरयतीति स तथा तत्सम्बोधनं,  
दृष्ट्वास्तु कालस्वरूपत्वं यथा 'कालस्वरूपं रूपं तद्विष्णोर्मित्रेय  
वर्त्तत इति स्मृतिः । तथा हे कलिकालकाल! कलिकालस्या-  
न्तयुगस्य कालो मृत्युर्दतः स तथा तत्सम्बोधनं कल्किरूपेण  
कलियुगनिवर्त्तकेत्यर्थः भक्तानां कलिकालभयनिवारकेति वा.  
लगतित्यनन्तरं चतुर्थपादभागस्यायमर्थः । 'कालो मृत्यो  
महाकाले समये यमकृष्णयोरिति मेदिनी । ललनिका किम्भूता  
कालकालमितकालका कालकेन कृष्णत्वेन आलसितं शोभितं  
कं मस्तकं यैस्तादृशा अलकाशूर्मकुन्तला यस्याः सा । कं  
जलमालातीति कालं सरस्वत् कायन्तीति कालका हंसा-  
स्तेषामिवालसितं लीलागमनं यथास्तादृशा कालकौ पादौ  
यस्याः सा इति केचित् । तथा अलकालकालका अलकांशूर्म-  
कुन्तलान् अलते मुक्तादिना भूषयतीति अलकाली 'अलञ्

भूषायामित्यस्य णटि रूपं, तथा कालं कलं 'स्वार्थे टण्' मधुर-  
मित्यर्थः, यथा तथा कायति वक्तोति कालका, अलकाली चामौ  
कालका चेति विशेषणयोः कर्षधारयः । अलकायाः कुवेर-  
पुर्या अलको भूषकः कुवेरस्तस्यालको भूषकस्तत्सम्बो-  
धनमित्यन्ये । अत्र समस्तावयवानां केषाञ्चिदेकार्थत्वेऽपि समु-  
दायस्य तथात्वाभावान्न यमकत्वहानिः । षोडशाक्षरमिदं  
वृत्तम् ॥ ५० ॥

सन्दष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः ।

उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते ॥ ५१ ॥

अथ खोक्तान्तर्गतस्याप्यन्यैरुक्तस्य सन्दष्टयमकस्य स्थानं निय-  
मयति । सन्दष्टेति । सन्दष्टयमकं सन्दंशाकारं यमकं सन्दंशो  
यथा उभयभागाक्रमणकारी तद्येदमपि पादयोरन्तादि-  
भागाक्रमणकारीत्यर्थः । तस्य द्वयोः पादयोः सन्निवृष्टयोः  
पूर्वापरचरणयोः, अन्तादौ प्रथमपादस्यान्तभागे द्वितीय-  
पादस्यादिभागस्य, एवं द्वितीयपादस्यान्तभागस्तृतीयपादस्या-  
दिभागस्य तथा तृतीयपादस्यान्तभागस्तुर्थपादस्यादिभाग-  
स्येत्यर्थः एतौ भागौ स्थानं विषयः । एतत्सन्दष्टाख्यं यमकम्  
उक्तान्तर्गतमपि 'रवेण भौम इत्यादावव्यपेतान्तादियमकमध्य-  
पतितमपि, अथ यमकेषु मध्ये, स्वातन्त्र्येण पृथक्त्वेन कीर्त्यते  
प्राचीनमतमनुहन्वानेनोच्यते ॥ ५१ ॥

उपोढरागाप्यवला मदेन सा  
 मदेनसा मन्दुरसेन योजिता ।  
 न योजितात्मानमनङ्गतापिता-  
 ङ्गतापि तापाय ममास नेयते ॥ ५२ ॥

सन्दृष्टमुदाहरति । उपोढेति । कस्यचिद्विरहिणो मिवं प्रति मानिनीकृतस्वावस्थावर्णनमिदं । सा अवला मदेन यौवनविकारेण मद्योपयोगेन वा हेतुना उपोढरागापि मां प्रति प्राप्तानुरागापि, अतएव योजित आत्मा मनो यत्र तादृशीमनङ्गतापिताम् अनङ्गमकृतार्थं कामं तापयतीत्यनङ्गतापिनी तस्या भावोऽनङ्गतापिता तां गतापि, समुद्रिको हि कामस्तुत्कार्यमनाचरन्तीभिः स्त्रीभिस्ताप्यते । तदाह कालिदासः 'आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव सञ्चान्तरत्वादाबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्रकालाः कुमार्य' इति । सानुरागा सकामा च मत्यपीत्यर्थः, मदेनसा मम पापेनापराधेन वा कर्त्रा मन्दुरसेन क्रोधरसेन सह योजिता सती मम इयते एतावत् तापाय एतावन्तं तापं जनयन्तीत्यर्थः न न आस रराज अपि त्वासेव अस्गत्यादानदीप्तिष्वित्यस्य लिटा रूपम् ॥ ५२ ॥

अर्द्धाभ्यासः समुद्रः स्यादस्य भेदास्तयो मताः ।

पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनैः ॥ ५३ ॥

इत्थं पादभागयमकभेदान् प्रदर्श्य सम्प्रति समस्तपादयमकभेदान् दर्शयितुमारभते । अर्द्धाभ्यास इति । अर्द्धस्य पादद्वयस्य

नतु पद्यीयपूर्वाङ्गमात्रस्य अभ्यासः पुनरावृत्तिः समुद्रः समुद्र-  
संज्ञः स्यात्, समुद्रः संपुटकः स च यथा भागद्वयात्मकस्तथायं  
पादद्वयात्मक इति समुद्रसंज्ञा, अस्य भेदास्तयो मता इति  
तथाहि प्रथमद्वितीयौ द्वितीयचतुर्थौ च पादौ तुल्यावित्येकः  
प्रकारः, प्रथमद्वितीयौ तृतीयचतुर्थौ च पादौ तुल्यावित्यपरः,  
प्रथमचतुर्थौ द्वितीयतृतीयौ च पादौ तुल्यावित्यन्य इति त्रयो  
भेदाः, एतत्क्रमेणैवादाहरणानि दर्शयिष्यन्ते । एवञ्च समुद्रेऽभ्या-  
सद्वयात् यमकद्वयं, वक्ष्यमाणसकृत्पादाभ्यासे तु एक एवाभ्यास  
इत्येकमेव यमकमिति बोध्यं । पादाभ्यास इति एकैकपादस्या-  
भ्यास इत्यर्थः, अनेकात्मैति पादस्य सकृद्विस्तिरावृत्तित्वेनैका-  
दशविध इत्यर्थः, तथाहि प्रथमो द्वितीये, प्रथमस्तृतीये, प्रथम-  
चतुर्थे, इति त्रयः । द्वितीयस्तृतीये, द्वितीयश्चतुर्थे, इति द्वौ,  
तृतीयश्चतुर्थे इत्येकः । प्रथमो द्वितीये तृतीये च, प्रथमो द्वि-  
तीये चतुर्थे च, प्रथमस्तृतीये चतुर्थे च, द्वितीयस्तृतीये चतुर्थे  
चेति चत्वारः । प्रथमो द्वितीये तृतीये चतुर्थे चेत्येकः, इति  
मिलित्वा एकादशविधः, सोऽयं पादाभ्यासः निदर्शनैर्यथ्यते  
समुद्रोदाहरणत्रयानन्तरमेव दर्शयिष्यमाणैरुदाहरणैः सूच्यते,  
वर्त्तमानमामोषे लट् ॥ ५ ॥

नास्थेयः सत्वया वज्ज्यः परमायतमानया ।

नास्थेयः स त्वया वज्ज्यः परमायतमानया ॥ ५५ ॥

समुद्रस्य भेदत्रयं क्रमेणोदाहरति । नास्थेयः सत्वयेति । मा-

निनीं प्रति सख्या उपदेशोक्तिरियं । परमायतोऽतिदीर्घा मानः  
 कोपो यस्याः सा तथा तादृश्यापि अस्थेयोऽस्थिरतरं सत्वं स्व-  
 भावो व्यवसायो वा यस्याः सा तथा तादृश्या त्वया स नां पुरुषः  
 प्रेयान् न वर्ज्यः न त्याज्यः, परन्तु आयतमानया सम्यक् यत्नं  
 कुर्वत्या सत्या आस्थेयः आदरणीयः, तथा आवर्ज्यः प्रणय-  
 प्रकाशनेन स्वप्रवणोक्तव्यस्येत्यन्वयः । अस्थेयः सत्वयेति तत्र  
 स्वभावो व्यवसायो वा न स्थिरतरः अतः प्रेयांसं परित्यज्य  
 पश्चात्तापं प्राप्स्यसि तदयमपरित्यज्यानुकम्प्यतामिति भावः ॥

॥ ५४ ॥

नरा जिता माननया समेत्य

न राजिता माननया समेत्य ।

विनाशिता वै भवताऽयनेन

विनाऽशिता वै भवतायनेन ॥ ५५ ॥

नरा इति । कश्चित् समरविजयिणं राजानं स्तौति । मान-  
 या साधुवादादिकृतपूजया समेत्य सङ्गतेन सता भवता अयनेन  
 गमनेन युद्धयात्रयेत्यर्थः, जिताः पराभृता नरा रिपवः मानः  
 सम्मानः नयानीतिश्च तयोरासं क्षेपं परित्यागमित्यर्थः 'असु  
 क्षेपे इत्यस्य भावघणिरूपम्' एत्य प्राप्य न राजिताः न शो-  
 भिताः, भवता विजितानां कथञ्चित्तृणकवल्लमादिना रक्षित-  
 जीवितानां रिपूणां माननयपून्वतया दुरवस्था जातेत्यर्थः,  
 ये तु साहसिकाः न च नद्याक्षेषामवस्थामाह । विनाशिता वै इति



भवता विनाशिता वै हतास्तु 'वै इति त्वर्थे' विना यीभ्रादि-  
पक्षिणा अशिता भक्षिताः । किम्भूतेन भवता वैभवतायनेन  
रिपुजयादिभिर्विभुत्वविस्तारकेण 'तायु पालनविस्तारयोरि-  
त्यस्य नन्दादित्वान्ङनः ॥ ५५ ॥

कलापिनां चारुतयोपयान्ति

वृन्दानि लापोठघनागमानाम् ।

वृन्दानिलापोठघनागमानां

कलापिनां चारुतयोऽपयान्ति ॥ ५६ ॥

कलापिनामिति । वर्षावर्षनमिदं । कलापिनां मयूराणां  
वृन्दानि समूहाः चारुतया वर्षाकालजनितशोभया सह उप-  
यान्ति समुच्छन्ते, किम्भूतानां लापः केकाध्वनिः स ऊठः  
प्राप्ता यस्मात् तादृशो घनानां मेघानामागमो येषां ते तथा  
तेषाम् 'अग्न्यादित्वाङ्गापस्य प्राग्भावः । लापेनोठः सृचितो  
घनागमो यैरिति केचित् । तथा कलं मधुरास्फुटध्वनिमाप्नु-  
वन्ति के जले लपन्तीति वा कलापिने हंसाः तेषाञ्च आरु-  
तयः उत्तमरूतानि अपयान्ति अपगच्छन्ति वर्षासु हंसानां  
निर्झदत्वादिति भावः । किम्भूतानां घनं नृत्यविशेषः 'घनं स्यात्  
कांस्यतालादिवाद्यमध्यमनृत्ययैरिति मेदिनी । तद्युक्त आगम  
आगमनं घनागमः सत्रिलासागमनमित्यर्थः, वृन्दानिलेन  
वार्षिकसंघातवातेनापोठोऽपास्तो घनागमो येषां ते तथा  
तेषाम् । एवं समुद्रयमकस्य चयो भेदा उदाहृताः ॥ ५६ ॥

न मन्दयावर्जितमानसात्मया

नमन्दयावर्जितमानसात्मया ।

उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं

मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वरः ॥ ५७ ॥

अथानेकविधं पादाभ्यासं क्रमेणोदाहरन् प्रथमं प्रथम-  
द्वितीयपादगतमुदाहरति । नेति । नायकोपेक्षया गलित-  
मानाया मानिन्याः पश्चात्तापवर्षनमिदं । मन्दया मूढया  
मया नमन् प्रणामं कुर्वन्नपि जीवितेश्वरः प्राणनाथः उरसि  
तदीयवक्षसि उपास्तीर्णमासञ्चितं पयोधरद्वयं स्तनद्वयं यत्र  
तद्यथा तथा न समालिङ्ग्यत नास्मिष्टः, किम्भूतया यतोऽव-  
र्जितोऽपरित्यक्ते माने सात्मया सयत्नया यत्नेन मानं रक्ष-  
न्त्येत्यर्थः, यदा आवर्जिते अनुकूलतया गृहीते माने सात्मया  
सयत्नया । तथा दयावर्जितौ प्रियस्य कातरतां दृष्ट्वापि करु-  
णाशून्यौ मानसम् आत्मा च तौ यस्याः सा तथा तयः  
'उभयत्र युग्वमानश्च बह्वीहेरित्यनेन' डाप्रत्ययः । सात्मये-  
त्यत्र सार्थयन्ति कचित्पाठः तत्रैकत्र अत्यक्तमानसमूहया,  
अपरत्र दयाशून्यमानसप्रयाजनयेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सभा सुराणामवला विभूषिता

गुणैस्त्वारे हि मृणालनिम्बलः ।

स भासुराणामवला विभूषिता

विहारयन्निविश सम्यद्ः पुराम् ॥ ५८ ॥

प्रथमद्वितीयपादगतमुदाहरति । सभेति । राजानं प्रति कस्यचिच्छाटुकारस्योक्तिरियं । हे राजन् मृणालनिर्मलैः मृणाल-वदतिपरिगुडैस्तव गुणैर्धर्मगाम्भीर्यादिभिः सुराणां देवानां सभा आरोहि आरूढा, देवसभा तव गुणान् गायतीत्यर्थः, किम्भूता सभा यतोऽबला बलनामकदैत्यरहिता इन्द्रेण बलदै-त्यस्य विनाशितत्वाद्दधुना निर्भया सती तद्गुणान् गायतीत्यर्थः, तथा विभोर्ब्रह्मणे विष्णोः शङ्करस्य वा उषितं वामायत्र सा, विभोरिन्द्रस्त्विति केचित् । स तादृशस्त्वं विभूपिता अलङ्कृता अबला नारीर्विहारयन् रमयन् सन् भासुराणां देदीपमानानां पुरां नगरीणां सम्यद्ः सम्यक्तोर्निर्विश उपभुङ्क्षु ॥ ५८ ॥

कलङ्कमुक्तं तनुमञ्जनामिका

स्तनद्वयो च त्वदृते न हन्त्यतः ।

न याति भूतं गणने भवन्मुखे

कलङ्कमुक्तं तनुमञ्जनामिका ॥ ५९ ॥

प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । कलमिति । कस्यचित् संयमिनः स्तुतिरियं । कलं मधुरास्फुटम् उक्तं रमणीनां वचनं, तथा तनोः शरीरस्य मञ्जं मञ्जभागं नमयतीति तनुमञ्जनामिका पृथुतरेत्यर्थः स्तनद्वयो च त्वदृते त्वां विना कं पुरुषं न हन्ति न व्यथयति अपि तु त्वां विहाय सर्वमेव व्यथयतीत्यर्थः रमण्य-स्त्वां मधुरालापादिभिर्न मोहयितुं शक्नुवन्तीत्यतिजितेन्द्रियो-

ऽसीति भावः । अत्र मञ्जेति 'अजादिहलन्तोऽदीर्घादिति पा-  
त्तिको धकारस्य दिर्भावः' अतएवोत्तरेण सह साम्यम् । अतः  
कारणात् 'सीति प्रसिद्धौ' भवन्मुखे त्वत्प्रभृतौ विषये गणने जि-  
तेन्द्रियगणनायाम् अनामिका गणयितुरङ्गुष्ठाच्चतुर्थी अङ्गुली  
कलङ्कमुक्तं निर्दोषं तनुमत् देहभृत् भृतं कमपि जन्तुं न याति  
न प्राप्नोति न गण्यं करोतीत्यर्थः 'भृतं स्नादौ पिशाचादौ जन्तौ  
क्तीवम्' इति मेदिनी । अङ्गुलीभिर्गणना हि कनिष्ठादिक्रमेण  
क्रियते अत्र च जितेन्द्रियगणनायां प्रसुतायां कनिष्ठयाङ्गुल्या  
भवन्तं प्रथमं गणयित्वा अनामिकया भवादृशोऽपरो गणयि-  
तव्यः स च नास्त्येवेत्यनामिका न कमपि विषयीकरोतीति त्वत्  
सदृशः कोऽपि संयमी नास्त्येवेति भावः ॥ ५८ ॥

यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका

वितन्वतेऽजोपम ! दंशिता युधा ।

वितन्वतेजोऽपमदं शितायुधा

द्विपाञ्च कुर्वन्ति कुलं तरस्विनः ॥ ६० ॥

द्वितीयतृतीयपादगतमुदाहरति । यशश्चेति । विजिगीषु  
नृपस्य प्रशंसनमिदं । हे अजोपम ! अजोरघुराजपुत्रः तत्सदृश !  
ते तव सैनिकाः युधा युद्धेन कृत्वा दिक्षु यशश्च तथा रजश्च  
धूलिश्च वितन्वते विस्तारयन्ति, तथा दिषां शत्रूणां कुलश्च  
वितन्तु विगतदेहं तथा अतेजोनिघ्नतापं तथा अपमदं निर-

हङ्कारश्च कुर्वन्ति, किम्भूताः दंशिताः कृतमन्त्राहाः, तथा  
शितायुधाः शितानि तोच्छानि आयुधानि येषां ते, तथा  
तरस्विनो वेगवन्तः ॥ ६० ॥

विभर्त्ति भूमेर्वलयं भुजेन ते

भुजङ्गमोऽमा स्मरतो मदञ्चितम् ।

शृणुक्तमेकं स्वमवेत्य भूधरं ।

भुजङ्गमो मा स्म रतो मदञ्चितम् ॥ ६१ ॥

द्वितीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । विभर्त्ति । राज्ञः  
स्मृतिरियं । हे राजन् ते तव भुजेन अमा सह भुजङ्गमोऽनन्ता  
भूमेर्वलयं मण्डलं विभर्त्ति धारयति, अनन्तदेववत्तव भुजेऽपि  
भूभारं वहति अनेन च गर्व्या न कर्त्तव्य इत्याह स्मरतो विशेषं  
जानतो मत् मत्तः मत्सकाशात् अञ्चितं सर्वजनपूजितमेकमुक्तं  
वचनं शृणु, किं तदित्याह स्वं स्वीयं भुजं भूधरं भूमिधारकम्  
अवेत्य ज्ञात्वा रतः प्रीतः सन् चितमुपचितमत्यधिकमित्यर्थः  
मदं गर्वं मास्म गमः न प्राप्नुहीति ॥ ६१ ॥

स्मरानलामानविवर्द्धितो यः

स निर्वृतिन्ते किमपाकरोति ।

समन्ततस्तामरसेक्षणे ! न

समन्ततस्तामरसे ! क्षणेन ॥ ६२ ॥

तृतीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । स्मरानल इति । मा-  
निर्णो प्रति मख्या उक्तिरियम् । हे तामरसेक्षणे पद्मनयने तथा

अरसे अविदग्धे ते तव यः स्मरानलः कामरूपाग्निः मानेन  
विवर्द्धितो वृद्धिं गमितः सः ततो विस्तृतः सन् क्षणेनोत्सवेन  
समं सह समन्ततः सर्वतोभावेन तां मानप्रागनुभूयमानां  
निर्वृतिं सुखं किं न अपाकरोति निराकरोति अपित्वाकरो-  
त्येव, माने जाते तवेदृशी कामानलज्वाला यया सुखोत्सवादिकं  
सर्वं निवारितं तथापि तं दुर्मानं न मुञ्चसि अहो धन्या ते  
ग्रहिलतेति भावः ॥ ६२ ॥

प्रभावतो नामनः वासवस्य

प्रभावतो नाम नवासवस्य ।

प्रभावतोऽनाम ! न वा सवस्य

विच्छित्तिरासोत्त्वयि विष्टपस्य ॥ ६३ ॥

अथ पादत्रयाभ्यामे उदाहर्त्तव्ये प्रथमं प्रथमद्वितीयद-  
तीयपादविषयमुदाहरति । प्रभावत इति । अत्र पदच्छेद-  
प्रभावतः, नामन, वासवस्य, इति प्रथमे । प्रभावतः, नाम,  
नवासवस्य, इति द्वितीये । प्रभौ, अतः, अनाम, न, वा, स-  
वस्य, इति तृतीये । श्रीकृष्णस्य स्तुतिरियं । हे प्रभावतः स्वप्र-  
भावात् प्रभावतः श्रीमतोवासवस्येन्द्रस्यापि नामन ! नामयति  
नमोकरोतीति नामनः तत्सम्बोधनं, मखभङ्गपारिजातहर-  
णादिना इन्द्रस्यापि गर्वनिवारकेत्यर्थः, नामति प्राकाशे,  
तथा हे अनाम ! नास्ति आमोरोगो यस्य यस्मादा स तथा  
तत्सम्बोधनं, त्वयि विष्टपस्य भुवनस्य प्रभौ स्वामिनि सति

दुर्दान्तदमनादिना भुवनं पालयति सतीत्यर्थः अतोऽस्मात्  
कर्माणः कंसनरकशाब्दादिदमनादित्यर्थः नवासवस्य नवीनायाः  
सुरायाः सवस्य वा यज्ञस्य च विच्छित्तिर्विच्छेदो नासीत्  
भागिनां सुरापानादिविषयभोगो धार्मिकाणां यज्ञादि धर्मा-  
कर्मानुष्ठानञ्च निर्ब्बाधं प्रवृत्ते इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

परम्पराया बलवारणानां

परम्पराया बलवारणानाम् ।

धूलोः स्थलीर्व्याम विधाय रुन्धन्

परम्परायाऽबलवारणानाम् ॥ ६४ ॥

प्रथमद्वितीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । परमिति । राज्ञः  
स्तुतिरियम् । पदच्छेदो यथा । परं, परायाः, बलवाः, रणानाम्,  
इति प्रथमे । परम्परायाः, बलवारणानाम्, इति द्वितीये ।  
परं, पराय, अबलवारणानाम्, इति चतुर्थे । हे पराय ! पर  
उक्त्येऽयः शुभविधिर्यस्य स तथा तस्मैऽधनं, त्वं रणानां संघा-  
माणां परम्परायाः समूहस्य स्थलीः धूलोर्विधाय रेणुमयोः कृत्वा  
व्याम आकाशं रुन्धन् धूलिभिरेवाच्छादयन् सन्, एतेन रथा-  
द्यादिभेनाङ्गानां बाहुल्यं ध्वनितं । परं श्रेष्ठं प्रबलमित्यर्थः,  
परं शत्रुं परायाः गतवानसि 'परापूर्व्याधातोर्लङ्सुडि-  
रूपं । त्वं किम्भूतः बलवाः बलेन सामर्थ्येन परबलानि वा  
वारयतीति सः 'वारयतेः क्विपि रूपं । रणानां किम्भूतानां

बला बलवन्तो वारणा हस्तिनो यत्र ते तथा तेषां, तथा अबल-  
 वारणानाम् अबलान् दुर्बलान् वारयन्तीति ते तथा तेषाम्॥  
 अनन्तरं प्रथमद्वितीयचतुर्थपादाभ्यामोदाहरणं भवितुमर्हति  
 तत्तु कस्मिन्नपि पुस्तके न दृश्यते पादत्रयाभ्यामस्यैकैकपाद-  
 त्यागेन चातुर्विध्यस्यैचित्यात्, तस्मादतिपूर्वमेव लिपिकरप्रमा-  
 दादिनष्टमिति सम्भाव्यते, पुस्तकान्तरे तु एतत्पद्यस्य धूलोः  
 स्यलीर्व्योम विधाय रुन्धन्ति द्वितीयपादो दृश्यते तदा प्रथम-  
 द्वितीयचतुर्थपादाभ्यामोदाहरणं विलुप्तमिति यथा तथा भवतु  
 पतितमेकमुदाहरणं स्वयं ज्ञातव्यम् ॥ ६४ ॥

न श्रद्धे वाचमलज्जः मिथ्या  
 भवद्विधानामसमाहितानाम् ।  
 भवद्विधानामसमाहितानां  
 भवद्विधानामसमाहितानाम् ॥ ६५ ॥

द्वितीयादिपादत्रयाभ्याममुदाहरति । नेति । शठनायकं  
 प्रति नायिकाया उक्तिरियं । हे अलज्ज भवद्विधानां त्वादृ-  
 शानां प्रतारकाणाम् 'अयं चतुर्थपादादिगतभवद्विधानामित्य-  
 स्तार्थः । वाचं न श्रद्धे न प्रत्येमि, वाचं किम्भृतां यतो मि-  
 थ्याभवत् असत्यं भवत् विधीयते यदिति विधानं प्रतिपाद्यं  
 यस्याः सा तथा तां, तथा असमोऽशरलः कुण्डलीभृत इत्यर्थः  
 योऽहिः सर्पस्तस्यैव तानो विस्तारो यस्याः सा तथा ताम्  
 अतिवक्रामित्यर्थः, तथा भवे उत्पत्ता अरणसमकाल एवेत्यर्थः,



हे धाने अर्थपोषणे यस्याः सा तथा तां श्रवणमात्रेणैवार्थदय-  
बोधिकामित्यर्थः । भवद्विधानां किम्भूतानाम् असमाहिता-  
नामनवहितानां, तथा असमा अनुपमा अधिका इत्यर्थः,  
अहिताः शत्रवो येषां ते तथा तेषाम् ॥ ६५ ॥

सन्नाहितोमानमराजसेन !

सन्नाहितोऽमानम ! राजसे न ।

सन्नाहितो मानम ! राजसेन

सन्ना हितोऽमानमराजसेन ! ॥ ६६ ॥

इत्थं पादत्रयविषयं द्विरभ्यासमुदाहृत्य सम्प्रति पादचतु-  
ष्टयविषयं त्रिरभ्यासमुदाहरति । सन्निति । कञ्चित् शैवं रा-  
जानं प्रति कस्यचित् स्मृतिरियम् । अत्र पदच्छेदः । सन्,  
आहितोमानमराजसेन, इति प्रथमे । सन्नाहितः, अमानम,  
राजसे, न, इति द्वितीये । सन्नाहितः, मानम, राजसेन, इति  
तृतीये । सन्ना, हितः, अमानमराजसेन, इति चतुर्थे । तद-  
यमन्वयः, हे सन् ! माधो !, तथा हे आहितोमानमराजसेन !  
न नमन्ति परं नम्यन्त इत्यनमा ब्राह्मणाः तेषां राजा चन्द्रः  
अनमराजः, उमा पार्वती च अनमराजश्च उमानमराजौ  
आहितौ स्वाङ्गे म्यापितौ उमानमराजौ येन स आहितो-  
मानमराजः शिवः तेन सेनः इनेन ईश्वरेण सह वर्त्तमानः  
तत्सम्बोधनं शिवपरायणेत्यर्थः, तथा हे अमानम ! अमाना  
अपरिमिता मा सम्पत्तिर्यस्य स तथा तत्सम्बोधनं, त्वं सन्नाहितः

कृतसन्नाहः सन् युद्धयात्रां कुर्वन्नित्यर्थः, न राजसे शोभसे,  
 कथमित्याह हे राजसेन रजोगुणजेन लोभादिना मानम !  
 मा नम्यते नायत्तीक्रियत इति स तथा तत्सम्बोधनं लोभाद्य-  
 वशीकृतेत्यर्थः, यतस्त्वं सन्नाहितः सन्नाः पूर्वमेवावसादं गता  
 अहिताः शत्रवो यस्य सः, तथा हे अमानमराजसेन ! मानः  
 पूजा मा लक्ष्मीश्च मानमे न विद्येते मानमे यस्याः सा अमा-  
 नमा तादृशी राजसेना प्रतिपत्तनृपसैन्यं यस्य स तथा तत्स-  
 म्बोधनं, त्वं सन्ना सत्पुरुषः अतएव हितः सर्वेषां हितकारी  
 तव शैवत्वादिना परपीडाकरो युद्धोद्यमो न युक्त इति भावः ॥

॥ ६६ ॥

सकृद्विस्त्रिय योऽभ्यासः पादस्यैवं प्रदर्शितः ।

श्लोकद्वयन्तु युक्तार्थं श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा ॥ ६७ ॥

अथ पादाभ्यासमुपसंहरन् श्लोकाभ्यासमाह । सकृदिति ।  
 पादस्य यः सकृदेकवारः, द्विर्द्विवारः, त्रिस्त्रिवारोऽभ्यासः पुन-  
 रावृत्तिः स एवं पूर्वापन्यस्तैरुदाहरणैः प्रदर्शित इत्यर्थः,  
 अत्र स इत्यध्याहार्यं, तत्र सकृदभ्यासः पादद्वयविषयः, द्वि-  
 रभ्यासः पादत्रयविषयः, त्रिरभ्यासः पादचतुष्टयविषयः ।  
 श्लोकद्वयन्विति युक्तार्थं सम्बुद्धार्थम् एकवाक्यतया एकविशेष्य-  
 कान्वयबोधकमित्यर्थः, श्लोकद्वयं समानानुपूर्विकसमानवर्ष-  
 घटितपद्यद्वयं श्लोकाभ्यासः श्लोकाभ्यासाख्ययमकवदित्यन्वयः ।  
 अत्र श्लोकद्वयं श्लोकद्वयमेवेत्यर्थः, तेन द्विस्त्रिरभ्यासात्मकमिदं  
 न भवति केनाप्यनुक्तत्वादिति बोध्यम् ॥ ६७ ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितवाङ्मना ।

स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥ ६८ ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितवाङ्मना ।

स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वी यमतुलाश्रिता ॥ ६९ ॥

विनायकेनेति । राज्ञः स्तुतिरियं । हे राजन् भवता हेतुना इयं पृथ्वी पृथिवी अभीता दुर्जनेभ्यो भयभूत्या जाता, भवता किम्भूतेन यतो विनायकेन दुर्जनानां विनेत्रा दुर्जनान् दण्डयतेत्यर्थः, तथा वृत्तौ वर्तुलौ उपचितौ स्थूलौ च बाहू यस्य स तथा तेन, तथा स्वमित्रान् सुयुरिपून् प्रबलान् रिपूनित्यर्थः, उद्धर्तुं विनाशयितुं शीलं यस्य स तथा तेन, तथा अतुलाश्रिता केनापि सादृश्यं न भजता 'श्रिञ् सेवायामित्यस्य क्विप् ततस्तृतीयैकवचनम् । इति प्रथमश्लोक-स्यार्थः ॥ ६८ ॥

द्वितीयस्य यथा । अभीता युद्धार्थं त्वामभ्यागच्छता 'अभि-पूर्वादिङ्गतावित्यस्मात् क्विप् ततस्तृतीयैकवचनम् । अरिणा तव शत्रुणा विनायकेन नायकरहितेन भवता सता पृथ्वी महती यमस्य कृतान्तस्य तुला मानयन्त्रं 'गौणप्रयोगोऽयं' विचार-स्थलीत्यर्थः, मानयन्त्रे यथा न्यूनाधिकत्वनिश्चयस्तथा यमस्य विचारस्थल्यां पापपुण्यनिश्चय इति गौणता, आश्रिता प्राप्ता मृतमित्यर्थः, किम्भूतेन वृत्तौ जातौ उपचितौ चित्तां अज्ञान-मुपगतौ बाहू यस्य स तथा तेन 'उपचितेति चित्तामुपगता-

विति 'द्वितीययात्यादेः क्रान्तादाविति तत्पुरुषः, तथा खानि धनानि मित्राणि बन्धुंश्च उज्जहाति पणित्यभनोति स्वमित्रोद्धाः तेन स्वमित्रोद्धा 'उत्पूर्व्यात् ओहाकत्यागे इत्यस्मात् क्विन्तात् द्वितीयैकवचनं धातोराम्बुक् शमाद्यचोत्याकारलोपः ॥ ६६ ॥

एकाकारचतुष्पादं तन्महायमकाङ्क्षयम् ।

तत्रापि दृश्यतेऽभ्यासः सा परा यमकक्रिया ॥ ७० ॥

अथ पादचतुष्टयगोचरस्य त्रिरभ्यामस्य प्रतिपादमवा-  
न्तराभ्यामे विच्छित्यन्तरमभवात्तन्महायमकमंज्ञामाह । एका-  
कारेति । महायमकमंज्ञाकरणे हेतुमाह । तत्रापिति । तत्रापि  
पादमध्येऽपि अभ्यासः पादखण्डस्य पुनरावृत्तिर्दृश्यते तस्मा-  
द्यत इयं परा उत्कृष्टा यमकक्रिया यमनविधिस्तत इदं  
महायमकाङ्क्षयमित्यन्वयः, तत्रापित्यत्र तस्यापीति पाठो  
सम्यक् । पादचतुष्टयाभ्यामे यत्र पादखण्डस्याप्यभ्यामस्तन्महा-  
यमकमित्यर्थः, इदञ्च सकृदावृत्तौ द्विरावृत्तौ च सम्भवति  
किन्तु न केनापि गणितमित्युपेक्षितं ग्रन्थकृता ॥ ७० ॥

समानयाम! मानया समानयासमानया ।

समानया समानया समान! या समानया ॥ ७१ ॥

महायमकमुदाहरति । समानयामिति । सखायं प्रति त्रि-  
रक्षिण उक्तिरियं, पदच्छेदा यथा, समानयाम, मा, अनया,

इति प्रथमे । समानय, असमानया, इति द्वितीये । समानया,  
समानया, इति तृतीये । समान, या, समानया, इति चतुर्थे ।  
हे समानयास ! समानो यामो यत्रो यस्य स तथा तत्सम्बो-  
धनं सर्वकार्येषु तुल्यप्रयत्नेत्यर्थः, मा माम् अनया नायि-  
कया सह समानय सङ्गमय, किम्भूतया यतोऽसमानया अनु-  
पमया, तथा समानया मानः कोपस्तत्सहितया मानिन्येत्यर्थः,  
तथापि समानया मानः पूजा तत्सहितया माननीययेत्यर्थः,  
एतदपि कथमित्याह हे समान ! मम आनः प्राणो यस्य स  
तथा तत्सम्बोधनम् एकप्राणेत्यर्थः, या नायिका समानया  
मा लक्ष्मीर्नयो नीतिश्च ताभ्यां सह वर्त्तमाना यतः सा लक्ष्मी-  
मती नीतिमती च अतस्तस्या मानेन बलवद्वायितोऽस्मि तत्त्व-  
रितं मानमपमारयन्नया सह मां सङ्गमयेत्यर्थः । अत्र  
पादानां खण्डद्वयेऽवान्तरयमनम्, एवं त्रिखण्डादौ चेदं भवि-  
तुमर्हतीति बाध्यं । प्रमाणिकावृत्तम् ॥ ७१ ॥

धराधराकारधरा धराभुजा

भुजा महीं पातुमहोनविक्रमाः ।

क्रमात् सहन्ते सहसा हतारयो

रयोद्गुरा मानधुरावलम्बिनः ॥ ७२ ॥

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनय इत्यनेन प्रतिपा-  
दिताः सजातीयसंमिश्रणजनितभेदा उदाहृताः संप्रति वि-  
जातीयसंमिश्रणजनितान्यपि भेदान्तराणि सम्भवितुमर्हन्तीति

प्रतिपादयन् दिङ्मात्रमुदाहरति । धरेति । धराभुजा राज्ञां  
 भुजा बाहवः क्रमात् महीं पृथिवीं पातुं रक्षितुं महन्ते  
 समर्था भवन्ति, किम्भूताः धरां पृथिवीं धरतीति धराधरो-  
 ऽनन्तनागस्तस्याकारं धरन्तीति धराधराकारधराः दीर्घा  
 इत्यर्थः, तथा अहीनाऽपरिच्युतो विक्रमो येषां ते, यदा  
 अहीनां नागानामिनस्य प्रभोरनन्तस्यैव विक्रमो येषां ते आ-  
 कारतो विक्रमतश्चानन्तमदृशा इति विशेषणद्वयेन ज्ञापितं,  
 तथा महमा बलेनैव हता अरयो यैस्त, तथा रयेण वेगेनोद्गुरा  
 उद्गटाः, तथा मानधुरां मानस्य भारमवलम्बन्त इति मान-  
 धुरावलम्बिनः सम्मानरक्षका इत्यर्थः । अत्र प्रथमपादे अव्यपेत-  
 मादिमध्ययमकं पादचतुष्टयमन्ध्रत्रये चाव्यपेतमन्तादियमकं  
 मन्दंशयमकञ्च, द्वितीयपादे च वर्णद्वयव्यवहितं महीमहीति  
 मध्ययमकं, तृतीयपादे च महमहेत्येकवर्णव्यवहितं तदेव ।  
 चतुर्थपादे च पुनर्वर्णद्वयव्यवहितं तदेवेति बहूनां विजातीय-  
 यमकानामत्र सम्भेदः । अथञ्च श्लोकोऽसङ्गत इति कृत्वा वि-  
 राजादिभिरुपेक्षितः, अस्माभिस्तु बहूपु प्रामाणिकपुस्तकेषु दृश्यत  
 इत्यनुपेक्ष्य यथाकथञ्चित् समर्थतो व्याख्यातस्य ॥ ७२ ॥

आवृत्तिः प्रतिलोम्येन पादार्हश्लोकगोचरा ।

यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥ ७३ ॥

इत्यमनुलोमाभ्यामे यमकभेदा दर्शिताः, संप्रति प्रति-  
 लोमाभ्यामे तत्प्रकारान् दर्शयति । आवृत्तिरिति । पादः,

अर्द्धं श्लोकस्य, एते गोचरा विषया यस्यास्तादृशी 'अत्रार्द्धपदं  
श्लोकार्द्धपरं' प्रतिलोम्येन विलोमेनावृत्तिः प्रतिलोमत्वात्  
विलोमावृत्तिरूपत्वात् प्रतिलोमं प्रतिलोमनामकं यमकं  
सूतमित्यन्वयः, पादगतं श्लोकार्द्धगतं श्लोकगतञ्चेत्यस्य त्रयो  
भेदा इत्यर्थः, अयमर्थः यत्र पूर्वपादस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या  
उत्तरपादः उत्तरपादस्यापि तथैवावृत्त्या पूर्वपादः तत्पाद-  
गोचरं, यत्र च पूर्वार्द्धस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या उत्तरार्द्धं उत्त-  
रार्द्धस्य च तथावृत्त्या पूर्वार्द्धं तदार्द्धगोचरं, यत्र च संपूर्ण-  
पूर्वश्लोकस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या श्लोकान्तरं तस्य च तथावृत्त्या  
पूर्वश्लोकः तत् श्लोकगोचरमिति ॥ ७३ ॥

या मतागः कृतायासा सायाता कृशता मया ।

रमणारकता तेऽस्तु स्तुतेताकरणामरः ॥ ७४ ॥

तान् क्रमेणादाहरति । येति । मानिन्या नायकं प्रत्युक्ति-  
रियं । हे मतागः ! मता ज्ञाता आशा परकान्ताविषयिणी  
इच्छा यस्य स तथा तत्सम्बोधनं, या कृशता क्षीणत्वं कृता-  
यासा कृता जनितः आयामः क्रोधा यया सा, मया सा कृशता  
• आयाता प्राप्ता, तव दृष्टेष्टितचिन्तनया पूर्वमेव मे कृशता  
जाता संप्रति त्वां परित्यजन्त्याः काधिका सा भविष्यतीत्यर्थः ।  
हे स्तुतेत ! स्तुतं स्तवमित ! प्राप्त ! स्तुतं प्रशस्तमितं गमनं यस्य  
स तथा तत्सम्बोधनमिति वा, तथा हे अकरणामर ! अकरणे  
निन्दितक्रियायां देवतुल्य ! देववन्निषिद्धकार्यमनाचरन्नित्यर्थः ।

हे रमण ! अस्माकं प्रीतिकर ! । 'सर्व्वाण्येतानि सम्बोधनपदानि  
 सोल्लुण्ठनानि प्रकृतानुपयोगादिति बोध्यं । ते तव आरकता  
 इयत्ति गच्छतीति आरको गन्ता तस्य भावोऽस्तु भवतु इतस्तव  
 गमनं भवतु त्वमितः परकामिनीसविधमेव गच्छेत्यर्थः । अत्र  
 प्रथमपादस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या द्वितीयपादः, द्वितीयपादस्य  
 च तथावृत्त्या प्रथमपादः, एवं तृतीयचतुर्थयोरपि, तन्नात्र  
 पादविषयं प्रतिलोमत्वम् ॥ ७४ ॥

नादिनो मदनाधो स्वा न मे काचन कामिना ।

तामिका न च कामेन स्वाधीनादमनादिना ॥ ७५ ॥

श्लोकार्द्धविषयं प्रतिलोममुदाहरति । नादिन इति । कस्य-  
 चिद्योगिन उक्तिरियं । नादिनो नादविशिष्टस्य नादब्रह्मानु-  
 भवत इत्यर्थः मे मम मदनाधो मदनः कामस्य आधिस्तज्ज-  
 नितमानसव्यथा च तौ, तथा स्वा स्वकीया काचन कापि  
 कामिता विषयाभिलाषश्च न, नादसुखदप्रस्य मम = मः  
 कामजनितमानसपोडा स्वार्थं विषयाभिलाषश्चैते न मन्ती-  
 त्यर्थः, स्वेत्यनेन परार्थं कामिता तु विद्यत एवेति सूचितम् ।  
 अतएव दमनादिना दमो वहिरिन्द्रियमंथमः तं नोदितुं नि-  
 रमितुं शीलमस्य स तथा तेन कामेन हेतुना स्वमात्मा  
 अधीनमायत्तं यस्यास्तादृशी अजितेन्द्रियाणामात्मानं व्या-  
 कुलयन्तीत्यर्थः, तामिका च नानिरपि न, मम नास्तीत्यर्थः ।  
 योगिनां नादात्पत्तिश्च प्राणायामकृता । तदुक्तं सुरेश्वराचा-



र्यण 'सरेचपूरैरनिलस्य कुम्भैः सर्वासु नाडीषु विशेषितासु ।  
अनाहतादम्बुरुहादुदेति स्वात्मावगम्यः स्वयमेव नादः' इति ।  
केचित्तु धीरिति सविसर्गपाठं धृत्वा मम धीरमदनेति व्याच-  
क्षते तत्र रुचिरं प्रतिलोमाभ्यामे विसर्गस्य सम्बन्धासम्भवादिति  
ध्येयम् ॥ ७५ ॥

यानमानय माराविकशोनानजनासना ।

यामुदारशताधीनामायामायमनादि सा ॥ ७६ ॥

सा दिनामयमायामा नाधीना शरदाऽमुया ।

नासनाजनना शोकविरामायनमानया ॥ ७७ ॥

॥ यमकचक्रम् ॥

समस्तशोकगोचरं प्रतिलोममुदाहरति । यानमिति ।  
वेण्यामकस्य सखायं प्रत्युक्तिरियं । हे मखे त्वं यानमश्वाद्यन्यतमं  
वाहनमानय, किमर्थमित्याह अहं याम् उदारशताधीनाम्  
उदाराणां दाहृणां शतमधीनं यस्याः सा उदारशतस्याधीनेति  
वा तां वेण्यामित्यर्थः, आयां पूर्वं गतवान् सा आयमागमनम्  
अनादि मया उक्ता अद्य तव समीपमागमिष्यामीति कथितेत्यर्थः ।  
नद् अव्यक्तशब्दे इत्यस्य कर्मणि लुङि रूपं कथनार्थकत्वविवक्ष-  
यात् सकर्मकता ततएव द्विकर्मकत्वात् सेत्यस्य गौणकर्मण  
उक्तत्वं । तस्माद्गमनस्यावश्यकतया यानस्य प्रयोजनमिति  
तदानयेति हेतुहेतुमद्भावेनान्वयः । सा किञ्चिता मारः काम  
एव अविर्मेषस्तस्य कशा ताडनी कामिनां कामज्वाला निवा-

रिकेत्यर्थः, तथा ऊना धनहीनाः सन्तोऽनन्ति जीवन्तीति  
ऊनानास्तद्रूपा ये जनास्तान् अस्यति क्षिपतीति ऊनानजना-  
सना निर्दूनजनान्नाङ्गीकुर्वतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

श्लोकस्यास्य प्रतिलोमेनावृत्तौ श्लोकान्तरं, तद्दर्शयति । मेति ।  
वेश्यापीयं मयि दृढानुरागा संप्रति मामप्राप्य नितरां व्या-  
कुला भवति तत्त्वरितमेव तत्र गन्तव्यमित्याह । सा वेश्या  
अमुया शरदा अत्युद्दीपकेनानेन शरत्कालेन आधीता आधि-  
मानसव्यथामिता प्राप्ता सती शोकविरामा न शोकस्य विरह-  
दुःखस्य विरामो यस्याः सा न भवति निरन्तरं विरहदुःख-  
मनुभवतीत्यर्थः, शोकविरामेत्यस्य द्वितीयपादादिस्थितेन ने-  
त्यनेनान्वयः । सा कीदृशी दिनामयमायामा दिने दिवसे  
आमयस्य रोगस्य मायां व्याजममति गच्छतीति सा दिवसे  
सखीसमत्तं रोगमपदिश्या विरहदुःखं गोपयन्तीत्यर्थः, तथा  
नासनाजनना नास्ति आसनाया उपवेशनस्य स्थिरत्वस्येत्यर्थः  
जननमनुष्ठानं यस्याः सा सततमस्थिरेत्यर्थः, अत्र नैकस्या  
इत्यादिवक्षिपदबहुव्रीहावुत्तरपदपरत्वाभावाच्चत्त्रोऽल्पाभावः ।  
तथा अयनं मद्गमनवर्त्म तस्य मानं ज्ञानं दर्शनमित्यर्थः,  
याति प्राप्नोतीत्ययनमानया केवलं मद्गमनमार्गं निरोच-  
माणेत्यर्थः । इत्थं विशेषणैरस्या अनुरागः सूचितः । अर्थ-  
लिङ्गरपि वेश्या काव्यनुरक्ता भवति यथा मृच्छकटिकादौ  
वसन्तसेनादिः । अतएवोक्तम् 'एषापि मदनायत्ता कापि  
सत्यानुरागिणीति ॥ ७७ ॥

वर्षानामेकद्वयत्वं यत्त्वेकान्तरमर्द्धयोः ।

गोमूत्रिकेति तत् प्राङ्गर्द्धुष्करं तद्विदो यथा ॥ ७८ ॥

दुष्करयमकनिरूपणप्रसङ्गेन दुष्करांश्चित्रालङ्कारानपि कां-  
श्चिन्निरूपयन् प्रथमं गोमूत्रिकां लक्षयति । वर्षानामिति । तु  
इत्यलङ्कारान्तरत्वज्ञापनाय । अर्द्धयोः ऊर्द्धाधःक्रमेण परिष्क-  
दयेन लिखितयोः श्लोकस्य पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोर्वर्षानामेका-  
न्तरमेकवर्षव्यवहितं यदेकरूपत्वमभिन्नत्वम् अर्द्धद्वयघटकवर्ष-  
संघयोरेकैकाक्षरव्यवधानेन यदेकविधवर्षानामुपन्यास इत्यर्थः,  
तद्विदश्चित्रालङ्कारज्ञास्तत्तथाविधवर्षविन्यसनं दुष्करं सहसा  
कर्त्तुमशक्यं गोमूत्रिकेति प्राङ्गः, चलतो गोमूत्रधाराकार-  
त्वेन श्लोकबन्धस्य लिखितत्वाद्गोमूत्रिकामंज्ञं चित्रालङ्कारं  
वदन्तीत्यन्वयः । दुष्करमिति निरूपणीयत्वे हेतुः एतेन ये  
सुकरा बन्धास्ते सर्वेऽत्र नाच्यन्ते यन्त्यान्तरतो ज्ञातव्या इति  
सूचितम् । यत्त्वित्यत्र यदीति क्वचित्पाठः तत्र तदेत्यध्याहृत्या-  
न्वयः, तदित्यत्र च क्वचित् तमितिपाठः तमलङ्कारमित्यर्थः ।  
इयञ्चोत्तरार्द्धस्यैकान्तरितवर्षानां तादृशपूर्वार्द्धवर्षैरेकरूप्या-  
दर्द्धगोमूत्रिका, यत्र च प्रथमद्वितीयपादयोस्तादृशवर्षाना-  
मेकविधत्वं तृतीयचतुर्थपादयोस्तु तेषामपरविधत्वं तत्र पाद-  
गोमूत्रिका यथा 'काङ्गन् पुलोमतनयास्तनताडितानि वक्ष-  
स्यलात्पितरयाञ्चलपीडितानि । पायादपायभयतो नमुचि-  
प्रहारो मायामपास्य भवतोऽम्बुमुचां प्रसारो' इति । अत्र च



प्राङ्गर्द्धभ्रमं नाम श्लोकार्द्धभ्रमणं यदि ।

तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥ ८० ॥

अथ दुष्करमेवार्द्धभ्रमं सर्वतोभद्रं चित्रद्वयं लक्षयति ।  
प्राङ्गरिति । श्लोकार्द्धभ्रमणं श्लोकस्य बन्धलिखितश्लोकीयपाद-  
चतुष्टयस्य अर्द्धनार्द्धमार्गेण अनुलोमप्रतिलोमरूपयोरुच्चारण-  
मार्गयोर्मध्ये केवलमनुलोममार्गेणेत्यर्थः, यदि भ्रमणं भ्रम-  
णेन पादोत्थितिस्तदा अर्द्धभ्रमं नाम चित्रं प्राङ्गः, यदि च  
सर्वतोऽनुलोमप्रतिलोमाभ्यां भ्रमणं तदा तत् सर्वतोभद्रमिष्ट-  
मित्यन्वयः, अयमर्थः, बन्धद्वयमिदं प्रायेणाष्टाक्षरवृत्तविशेष-  
विषयं, तत्र सन्निवेशप्रकारः, चतुःषष्टिकोष्ठात्मकेऽस्मिन् बन्ध-  
क्रमेणाद्यपङ्क्तिचतुष्टये पादचतुष्टयं लेख्यम्, अनन्तरञ्चाधःस्य-  
पङ्क्तिचतुष्टये चतुर्थतृतीयद्वितीयप्रथमपादा लेख्याः, तत्रार्द्ध-  
भ्रमे अधःस्यपङ्क्तिचतुष्टये परावृत्त्या सर्वतोभद्रे तु परावृत्त्या  
समावृत्त्या वा चतुर्थादिपादलिखनमिति विशेषः । तत्रोद्धार-  
क्रमस्तु अर्द्धभ्रमे ऊर्द्धपङ्क्तौ वामादक्षिणतः अधःपङ्क्तौ दक्षिणा-  
दामतः, एवं वामस्यार्द्धकोष्ठादधःक्रमेण दक्षिणस्याधःकोष्ठा-  
दूर्द्धक्रमेण चानुलोमोच्चारणेन प्रथमादिपादोत्थानं । सर्वतो-  
भद्रे तु वामादक्षिणतो दक्षिणादामतः ऊर्द्धादधस्तः अध-  
स्तादूर्द्धतश्चानुलोमविलोमाभ्यां सर्वत आवर्त्तनेन पादानामु-  
त्थानमिति ॥ ८० ॥

|    |    |    |    |    |    |    |    |
|----|----|----|----|----|----|----|----|
| म  | नो | भ  | व  | त  | वा | नो | कं |
| नो | द  | या | य  | न  | मा | नि | नी |
| भ  | या | द  | मे | या | मा | मा | वा |
| व  | य  | मे | नो | म  | या | न  | त  |
| ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  |
| ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  |
| ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  |
| ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  | ६  |

॥ अर्द्धभ्रमः ॥

तत्रार्द्धभ्रममुदाहरति । मनोभवेति । हे मनोभव ! त्वाम् ।  
 तव अनीकं सेनारूपा मानिनी इयं मानवती तव न न उद-  
 याय जयाय अपि तु उदयायैव, तवेत्युभयत्राम्बयि । ननु वि-  
 जिगीषोरनीकमपराधिनं दण्डयति तव कात्र चिन्तेत्यत्राह,  
 हे मत ! नमस्कृत ! वयमेनोमयाः अपराधिना मा वा न वा  
 कृतापराधा वा न भवामः किन्तु भयात् अमेयोऽपरिमित  
 आमः पीडा येषां ते, यद्यपि वयं नापराधिनः तथापि भयेन  
 व्याकुला जाताः स्म इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

|    |    |    |    |    |    |    |           |
|----|----|----|----|----|----|----|-----------|
| सा | मा | या | मा | मा | या | मा | सा        |
| मा | रा | ना | या | या | ना | रा | मा        |
| या | ना | वा | रा | रा | वा | ना | या        |
| मा | या | रा | मा | मा | रा | या | मा        |
| मा | या | रा | मा | मा | रा | या | मा        |
| या | ना | वा | रा | रा | वा | ना | या        |
| मा | रा | ना | या | या | ना | रा | मा        |
| सा | मा | या | मा | मा | या | मा | सा ॥ ८२ ॥ |

॥ सर्वतोभद्रम् ॥

सर्वतोभद्रमुदाहरति । मेति । अत्र पदच्छेदः । सा, अमायामामाया, मासा, इति प्रथमे । मारानायायानारा-  
मेत्येकमेव पदं द्वितीये । यानावारारावा, अनाया, इति  
द्वितीये । माया, रामा, माराय, अमा, इति चतुर्थे । प्रोषि-  
तस्य विरहिणे विलपनमिदं । सा स्मर्यमाणा रामा रमणी  
मामा चन्द्रेण अमा सह 'कायामृगधरो राजा माः, इति  
चन्द्रपर्याये त्रिकाण्डशेषः । माराय विनाशाय, स्मर्यमाणा  
नायिका दृश्यमानसुन्दर्यालम्बनोद्दीपनविभावानुभौ संप्रति  
मम विनाशाय भवत इत्यर्थः, सा कीदृशी यतोऽमायस्या  
व्याजस्य अमस्थापरिमितस्य आमस्य पीडाया आय आगमनं

यथा सा, तथा मारः काम एव आनायो जालं बन्धनकारित्वात् तस्यायानेनागमनेनारामः क्रीडा यस्याः, मारानायस्यायानं यतस्तादृश आरामो यस्या इति वा सा, तथा यानं गमनमावारयति निवारयतीति यानावारः तादृश आरावो वचनं यस्याः सा मधुरवचनभङ्गा विदेशगमनं निवारयन्तीत्यर्थः, अतएव आनाया नायो नयस्तद्धिता अकार्यज्ञेत्यर्थः नास्ति आयो गमनं यस्याः सेति केचित्, तथा मां लक्ष्मीं यातीति माया अतिसुन्दरीत्यर्थः । इत्थं बन्धेषु दुष्करा एव लक्षिताः खड्गादिवन्धास्त्रितः सुकरा इत्युपेक्षिताः यस्यान्तरतोऽनुसर्त्तव्याः ॥ ८२ ॥

यः स्वरस्थानवर्षानां नियमो दुष्करेष्वसौ ।

दृष्टव्यतुःप्रभृत्येष दृश्यते, सुकरः परः ॥ ८३ ॥

अथ काव्यशोभाजनकत्वेनालङ्कारतया प्राचीनैरभ्युपगम्य स्वरादिनियमस्य बहुभेदस्यापि दुष्करं भेदचतुष्टयं दर्शयति । य इति । स्वरा अकारादयः, स्थानानि कण्ठादीनि एषां काव्ये निवेशामभवात्तद्भवा वर्षा इत्यर्थः, तथा वर्षासु कण्ठदन्त्यत्वाद्यविशेषितवर्षमात्राणि, तेषां नियम इतरव्यवच्छेदेनोपादानं चतुर्भिरेव स्वरैः स्थानैर्वर्णैर्वा निबन्धनमित्याद्यवधारणमित्यर्थः तद्रूपो योऽलङ्कारः प्राचीनैरुक्त इति शेषः, असौ चतुःप्रभृति चतुरादि यथा स्यात्तथा दुष्करेषु मध्ये दृष्टोऽभिमतः यन्यबाहुल्यमिथा दुष्कराणामेव दर्शनाया



आवश्यकत्वात् चतुरादिस्वरस्थानवर्षनियम एव दुष्करतया दर्शयितुमुचित इत्यर्थः, चतुःप्रभृतीति दर्शयत इति क्रियाया विशेषणं वा, तस्मादेष चतुरादिनियम एव दर्शयते, परः पञ्चषडादिनियमस्तु सुकरः सुकरत्वात् स न दर्शयत इत्यर्थः । चतुःप्रभृतीति प्रभृतिपदेन त्रयाणां द्वयोरकस्य च ग्रहणं तेन स्वरस्थानवर्षानां प्रत्येकं चतुस्त्रिद्विकनियमरूपाञ्चत्वारो भेदा दर्शयन्त इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरोतीः, प्रीतीभीतीः ।

भोगो रोगो, मोदो मोहो, ध्येये धेष्के देशे क्षेमे ॥ ८४ ॥

तत्र प्रथमं चतुःस्वरनियममुदाहरति । आम्नायानामिति । आम्नायानां वेदानामन्त्या वाक् उपनिषत् गीतीर्गानानि ईतीः अतिवृष्ट्याद्युपद्रवरूपा आह चित्तमोहकत्वादिति भावः, तथा प्रीतीः कलत्रपुत्रादिषु स्नेहान् भीतीर्भयजनिका आह वियोगादिना दुःखदातृत्वादिति भावः, तस्माद्भोगो गानादिविषयानुभवो रोगो व्याधिरेव, तथा मोदो विषयानन्दो मोहोऽज्ञानमेव, तर्हि विषयसङ्गं परिहृत्य किं कर्त्तव्यमित्याह क्षेमे पुण्ये अनुपद्रवे वा देशे, ध्येये ध्यातये ब्रह्मणि, धेष्के धानं मनःसमाधानं धाः इच्छा तदेकत्वलिप्सा च ते कर्त्तव्ये इति शेषः । धेष्के इति सयकारपाठे तु ध्या ध्यानमिच्छा चेत्यर्थः । अत्र आ ई आ ए इति चतुर्भिरेव स्वरैः पद्यनिबन्धनम् । विद्युन्मालावृत्तम् ॥ ८४ ॥

क्षितिर्विजितिस्थितिर्विहितिव्रतरतयः परगतयः ।

उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥ ८५ ॥

त्रिस्वरनियममुदाहरति । क्षितोति । क्षितेर्विजितिर्विजयः स्थितेर्मर्यादाया विहितिविधानञ्च ते एव व्रतं तत्र रतिर्येषां ते ततश्च स्वजात्युचितकर्मकरणात् परा उक्त्या गतिर्दशा ज्ञानं वा येषां ते । 'गतिः स्त्री मार्गदशयोज्ञाने यात्राभ्युपाययोरिति मेदिनी । ईदृशाः कुरवः कुरुवंशीयाः कुरुदेशजा वा भूपाः युधि युद्धे स्वं स्वीयमरिकुलम् उरु अधिकं यथा तथा रुरुधुरावृतवन्तः, गुरु मातिशयं यथा तथा दुधुवः कम्पयामासुः । अत्र इ अ उ इति त्रय एव स्वराः । त्वरितगतिर्वृत्तम् ॥ ८५ ॥

श्रीदोषी ह्रीकीर्त्ती धीनीती गोःप्रीती ।

एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥ ८६ ॥

द्विस्वरमुदाहरति । श्रीदोषी इति श्रीर्लज्जीर्दीप्तिः शाभा च ते, ह्रीर्लज्जा कीर्त्तिस्य ते, धीर्बुद्धिर्नितिस्य ते, गोर्वाणी प्रीतिः मन्तोषस्य ते, एते द्वे द्वे ते तत्र एधेते वर्द्धेते, ये द्वे द्वे इमे देवेशे इन्द्रोऽपि न विद्येते । अत्र ई ए इति द्वावेव स्वराः । वाणीवृत्तं 'सर्व्वं चेद्दोर्घाणां वाणीति प्रोक्ता मेति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

सामायामामाया मासा मारानायायानारामा ।

यानावारारावानाया माया रामा मारायामा ॥ ८७ ॥

॥ स्वरनियमः ॥

एकस्वरमुदाहरति । सेति । श्लोकोऽयं सर्वतोभद्रोदा-  
हरणत्वेन पूर्वमुक्तस्तत्रैव व्याख्यातः । अत्र आकार एवैकः  
स्वरः ॥ ८७ ॥

नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि ।

अघने गगने दृष्टिरङ्गने ! दीयतां सकृत् ॥ ८८ ॥

अथ स्थाननियमं दर्शयन् प्रथमं चतुःस्थानमुदाहरति ।  
नयनेति । शालिनीं प्रति नायकस्योक्तिरियं । हे अङ्गने ! प्रश-  
स्ताङ्गवति ! अघने मेघरहिते अतएव नक्षत्रगणशालिनि तत  
एव नयनानन्दजनने गगने सकृदेकवारमपि दृष्टिर्दीयतामि-  
त्यन्वयः । ईदृशगगनस्योद्दीपकत्वात् दर्शने जाते मानो न  
स्यास्यतीत्यभिप्रेत्य दर्शनार्थं नायकस्यानुरोध इति भावः ।  
अत्र दन्त्यतालव्यकण्ठमूर्द्धन्यैरेव वर्णैर्निबध्यमानत्वाच्चत्वार्यैव  
स्थानानि ॥ ८८ ॥

अलिनीलालकलतं कं न हन्ति घनस्तनि ! ।

आननं नलिनच्छायनयनं शशिकान्ति ते ॥ ८९ ॥

त्रिस्थानमुदाहरति । अलोति । हे घनस्तनि ! कठिनकुचे  
अलिनी भ्रमरास्तदन्नीला अलकलता यत्र तत्, तथा नलिन-  
च्छाये पद्मसदृशे नयने यत्र तत्, तथा शशिन इव कान्तिर्यस्य  
तत् ईदृशं ते तव आननं कं पुरुषं न हन्ति न व्याकुलयति ।  
अत्र कण्ठदन्त्यतालव्यवर्णैरेव निबन्धनमिति चोच्येव स्था-  
नानि ॥ ८९ ॥

अनङ्गलङ्गनालङ्गनानाङ्गा सदङ्गना ।

सदानघ ! सदानन्दनताङ्गासङ्गसङ्गतः ॥ ८० ॥

द्विस्थानमुदाहरति । अनङ्गेति । भार्यामनादृत्य गीत-  
वाद्यादिप्रमोदेन कालं गमयन्तं सखायं प्रति कस्यचिदुपा-  
लम्भनमिदं । हे सदानघ ! सर्वस्मिन्नपि समये व्यथारहित !  
निश्चिन्तेत्यर्थः, तथा हे सदानन्दनताङ्ग ! सदा आनन्द आ-  
नन्दकरं कर्म गीतवादनादिः तत्र नतं प्रवणं व्याप्तमित्यर्थः  
अङ्गं गात्रं यस्य स तथा तस्मिन्नाधनं, नास्ति मङ्गो येषां तेऽमङ्गा  
दुर्जनास्तेषां सङ्गतः सम्यक्तात् मती चामावङ्गना चेति सदङ्गना  
साध्यपि स्त्री अनङ्गस्य कामस्य लङ्घनया आक्रमणेन लयाः  
सम्भवन्तो नाना बद्धविधा आतङ्का यस्यास्तादृशी भवति  
भर्तृविरहिता हि स्त्री साध्यपि दुर्जनमङ्गात् सदाया भवि-  
तुमर्हति तस्माद्दृष्ट्याप्रमोदं परिहृत्य भार्यानुक्ता भवेति  
भावः । अत्र पाठान्तराण्यनुपादेयानीत्युपेक्षितानि । अत्र  
कण्ठ्यदन्तैरेव वर्षेर्निबन्धनमिति द्विस्थानता ॥ ८० ॥

अगा गाङ्गाङ्गाकाकाकागाहकाघककाकहा ।

अदाहाङ्ग खगाङ्गागकङ्गागखगकाकक ॥ ८१ ॥

॥ स्थाननियमः ॥

एकस्थानमुदाहरति । अगा इति । कस्यचिद्विहितबद्ध-  
तीर्थधर्मणस्य स्मृतिरियं । पदच्छेदो यथा । अगाः, गां, गाङ्ग-

काकाकगाहक, अघककाकहा, इति प्रथमाहुः । अहाहाङ्ग,  
खगाङ्गागकङ्क, अगखगकाकक, इत्युत्तराहुः । तदयमन्वयः ।  
हे गाङ्गाकाकाकगाहक ! गङ्गाया इदं गाङ्गं यत् कं जलं तस्य  
आकाकः मशब्दकुटिलगमनं 'कै' शब्दे इत्यस्मादाङ्पूर्वाङ्गावे  
क्विप्, आकाः तत्सहितोऽकः 'अक् कुटिलायां गतावित्यस्मा-  
ङ्गावे डः' आकाकस्तरङ्ग इत्यर्थः तं गाहत इति गाङ्गाकाका-  
कगाहकस्तत्सम्बोधनं, निन्दितान्यघानि पापान्यघकानि 'कु-  
त्सायां कः' तान्यवोपद्रवहेतुत्वात् काका वायसाः तान् हन्ती-  
ति अघककाकहा तादृशस्त्वं गां पृथिवीम् अगा गतवान् प्रद-  
क्षिणीकृतवानित्यर्थः । अतश्च पापकृतविषादाभावात् हे अहा-  
हाङ्ग ! हाहेतिदीनध्वनिगङ्गति गच्छतीति हाहाङ्गः 'अगि-  
गत्यामित्यस्य णटि रूपं' तद्भिन्नोऽहाहाङ्गस्तत्सम्बोधनं । तथा  
हे खगाङ्गागकङ्क ! खे आकाशे गच्छन्तीति खगाः सूर्यादयः  
ते अङ्गाश्चिह्नानि यस्य तादृशा योऽगः पर्वतः सुमेरुरित्यर्थः  
तं कङ्कते गच्छतीति खगाङ्गागकङ्कः 'ककि गत्यामित्यस्य णटि-  
रूपं' तत्सम्बोधनं, पुण्यप्रभावेन सुमेरुपर्यन्तगामिन् स्वर्गसुखा-  
भिलाषिन्निति वार्थः । तथा हे अगखगकाकक ! अगन्ति कु-  
टिलं गच्छन्तीत्यगानि यानि खानोन्द्रियाणि तानि गच्छति  
कारणतया प्राप्नोतीति अगखगं तादृशं यत् कं सुखं तस्मै न  
ककते चपलीभवतीति अगखगकाककः 'अक् गर्बच्छालौल्ये-  
ष्वित्यस्य रूपं' तत्सम्बोधनम्, इन्द्रियजन्यसुखायालोलुपेत्यर्थः ।  
अत्र कण्ठैरेव वर्षेर्निबन्धनमित्येकस्यानता ॥ ८१ ॥

रे रे रोरुहुरोरुगागोऽगाङ्गोऽगगुः ।

किं केकाकाकुक्कः काको मामा मामम मामम ॥ ८२ ॥

अथ वर्णनियमान् दर्शयन् प्रथमं चतुर्वर्णमुदाहरति । रे रे इति । बङ्गपण्यायाः कस्यासिद्धाराङ्गणायाः स्वमभिलक्ष्यन्तं कश्चित् पुलिन्दं प्रति द्वेषाक्रियं । रे रे इति नीचमन्वाधने । रे रे मामम ! मा लक्ष्मीलक्ष्यां मम ममता यस्य सः तत्सम्वाधनं, ममेत्यव्ययं धर्मपरोऽयं निर्देशः, दरिद्रत्वात् धनव्यये च परेत्यर्थः । मायाम् अममत्वं यस्येति विग्रह्य लक्ष्मीगृह्येत्यर्थः इति केचित् । मामेति निषेधे सम्भ्रमे द्विवचनं, त्वं मां दत्त्वा अममत्वं उपसर्पेत्यर्थः । इति चतुर्थपादस्यार्थः । यथा काको वाचसः किं केकाकाकुको भवति अपि तु नैव, केका मयूरध्वनिः तस्याः काकुर्मदकृतो विकारः तां कायति इत्यतिशब्देन प्रकाशयतीत्यर्थः इति केकाकाकुक्कः 'आदन्त्वादद्' काको यथा केकाकाकुमधिगन्तुं नाहति तथा त्वं मामेत्यर्थः । इति तृतीयपादार्थः । निष्कृष्टकार्यकारित्वादपि त्वं न मे याग्य इत्याह त्वं रोहुरुरुरुगागोः 'रोहुर्यते भयेन भृशं पुनः पुनर्व्या रोतीति रोहुरः 'रोतेर्यनन्तात् क्विप् कौय इति यत्नोपः' तादृशो यो रुरुर्मृगविशेषः तस्यारसो वक्षसो या रुक् शरवेधकृतपोडा तद्रूपमागः पापं तद्गच्छति प्राप्नोतीति रोहुरुरु-रोरुगागोः निरपराधजीवहिंसकत्वात् पापात्म्यार्थः । निष्कृष्टदेशवामित्वाच्च त्वं न मे याग्य इत्याह अगाङ्गः अगस्य पर्वतस्याङ्गमेकदेशं गच्छतीति सः पर्वतीयत्वादविदग्ध इत्यर्थः ।

असम्बद्धप्रलापित्वाच्च त्वं न मे योग्य इत्याह अगगुः न गच्छति  
सम्बद्धविषयं न प्राप्नोतीत्यगा तादृशी गौर्वाणी यस्य सः,  
अगतीत्यगा कुटिला गौर्यस्येति केचित् । अत्र र ग क म इति  
चतुर्भिरेव वर्षैर्निबन्धनमिति चतुर्वर्षता, वर्षपदञ्च वृत्तपूरक-  
वर्षपरं तेनाङ्केत्यत्र उकारमङ्गावेऽपि न चतुर्वर्षनियमव्या-  
घातः तस्य वृत्तपूरकत्वाभावादिति बोध्यम् । उदाहरणे चा-  
स्मिन्नव्यवहितवर्षचतुष्टयेन पादचतुष्टयनिबन्धनादयमेव नि-  
यम इति न मन्तव्यं सव्यवधाननिवेशेऽपि चतुर्वर्षनियमानपा-  
यात् ग्रन्थकृता तु केवलं शक्तिप्रदर्शनार्थमेवं निबद्धमिति ज्ञे-  
यम् ॥ ८२ ॥

देवानां नन्दनो देवो नादनो वेदनिन्दिनः ।

दिवं दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिनः ॥ ८३ ॥

त्रिवर्षमुदाहरति । देवानामिति । देवानामिन्द्रादीनां  
नन्दनो दैत्यगणदमनात् सन्तोषणः तथा वेदनिन्दिनो वेदान्  
निन्दयतो नास्तिकजनस्य नादनो निराकर्त्ता, देवो नरसिंह-  
रूपो भगवान् विष्णुः, दानवान् इन्द्रादिजयादिना नन्दयतीति  
स तथा तस्य दानवनन्दिनो हिमालयप्रदेशे खण्डनसमये  
'दोऽवखण्डने इत्यस्य रूपं' नादेन तारतरसिंहनादेन कृत्वा  
दिवमाकाशं दुदाव उपतापितवान् अन्तरिक्षचरान् सच-  
कितांशुकारेत्यर्थः । अत्र द व न इति त्रिभिरेव वर्षैर्निबन्धन-  
मिति त्रिवर्षता ॥ ८३ ॥

हरिः सुरासुरासारिसारः सारससारसाः ।

ससार सरसीः सीरो सखरुः स सुरारसी ॥ ८४ ॥

द्विवर्षमुदाहरति । हरिरिति । बलदेवस्य जलकीडाप्रक-  
रणीयलोकोऽयं । हरिः पण्डितः, तथा सुरासुरान् देवदैत्या-  
नपि आसक्तुमाक्रमितुं शीलं यस्य तादृशः मारी बलं यस्य सः,  
सुरासुरासारिसारः, तथा शोभनावूरु खरु ताभ्यां सह  
वर्त्तमानः सखरुः, तथा सुराया मद्यस्य रस आस्वादेऽस्वास्तीति  
सुरारसी, स प्राकरणिकः प्रसिद्धो वा सीरो बलदेवः आर-  
सन्ति मधुरशब्दं कुर्वन्तीत्यारसा ये सारसाः पत्तिविशेषाः ते  
सह वर्त्तमानाः सारससारसास्तादृशीः सरसीः सरांसि समार-  
विहर्त्तुं जगाम । अत्र सर इति दाभ्यामेव वर्त्ताभ्यां निबन्धन-  
मिति द्विवर्षता ॥ ८४ ॥

नूनं नुन्नानि नानेन नाननेनानानि नः ।

नाऽनेना ननु नाऽनूनेनेनेनानानिने निनीः ॥ ८५ ॥

॥ वर्णनियमः ॥

एकवर्षमुदाहरति । नूनमिति । प्रबलरिपुपराजितस्य क-  
स्यचिन्नृपतेः सैन्यानां दैर्घ्यात्क्रियम् । अत्र पदच्छेदः, नूनं  
नुन्नानि, न, अनेन, न, आननेन, अननानि, नः, इति पूर्वार्द्धे ।  
न, अनेनाः, ननु, ना, अनूनेन, एनेन, अनान्, इतः, निनीः,  
इत्युत्तरार्द्धे । अनेन विजयिना रिपुणा कर्त्रा आननेन भ्रुकुटि-



मता मुखेनैव कृत्वा नोऽस्माकम् अननानि प्राणाः नूनं निश्चितं  
न न नुन्नानि अपनीतानि अपि तु नुन्नान्येव अस्य मुखमेव  
दृष्ट्वा वयं मृतप्रायाः का कथा युद्धप्रहारादिनेत्यर्थः, इति  
पूर्वार्द्धार्थः । ननु भोः 'सैन्यानां बन्धून् प्रति सम्बाधनमिदम्'  
अनूनेन प्रवलेन एनेन एतेन रिपुणा हेतुना अस्मादित्यर्थः  
'इदमश्च कथितानुकथने द्वितीयाटौःध्वेनः' इत्यनेन इदम  
एनः । इतो ना अस्माकं प्रभुः पुरुषः अनान् प्राणान् निनीः  
नेतुमिच्छुः तृणवल्गनादिना रचितुमिच्छुः सन्नित्यर्थः, 'नि-  
नीरिति नीजः मनन्तस्य क्विपि रूपं' न अनेनाः अपापो न भवति  
शत्रुविजितस्य यथाशक्ति युद्धेनैव मरणं श्रेयो न पुनस्तस्यानु-  
वृत्त्या प्राणरक्षणमिति भावः । अत्र केवलं नकारेणैव निबन्धन-  
मित्येकवर्णनियमः ॥ ६५ ॥

इति दुष्करमार्गेऽपि कश्चिदादर्शितः क्रमः ।

प्रहेलिकाप्रकाराणां पुनरुद्दिश्यते गतिः ॥ ६६ ॥

अथ दुष्करचित्रमुपसंहरन् प्रहेलिकामवतारयति । इतीति ।  
कश्चिदिति स्वल्पतर इत्यर्थः, अन्येऽपि दुष्कराश्चिन्नालङ्काराः  
पद्मादिबन्धक्रियाकारकगुण्यादयः प्राचीनैरुक्ताः सन्ति यन्य-  
बाहुल्यमिथा ते नोक्ताः यन्यान्तरतो ज्ञातव्या इत्यर्थः ।  
प्रहेलिकेति प्रहेलिकायाः प्रकाराणां विशेषाणां गतिर्लक्षणम्  
उद्दिश्यते उद्देशपूर्वकमुच्यते विशेषा उद्दिश्यन्ते तेषां लक्षण-  
सौच्यत इत्यर्थः, सामान्यलक्षणन्तु प्रसिद्धत्वाच्चाकं यन्यान्तरतो

ज्ञातव्यं यथा 'प्रहेलिका तु सा ज्ञेया वचः संवृत्तिकारि  
यदिति' अभिप्रेतार्थसंवरणकारिवचनविन्यासः प्रहेलिकेति सा-  
मान्यलक्षणम् ॥ ६६ ॥

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्जैराकीर्णमन्त्रणे ।

परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥ ६७ ॥

ननु प्रहेलिकाया यमकादिवत् सम्यक् शब्दापस्कारकता  
नास्ति प्रत्युत प्रकृतार्थसंवरणात्मकत्वाच्च रसप्रातिकूल्यमतएवास्य  
अलङ्कारत्वमपि नाङ्गीकृतमन्यैः यदुक्तं 'रमस्य परिपन्थित्वा-  
न्नालङ्कारः प्रहेलिकेति' तत् कुत्रास्या उपयोग इत्यत्राह ।  
क्रीडेति । क्रीडार्था या गोष्ठी सभा तत्र विनोदाः संलाप-  
भङ्गा प्रमोदास्तेषु, यद्वा मिथोवाक्चातुरीकौतुकं क्रीडा,  
विदग्धानामामनवन्धो गोष्ठी, काव्यालापेन कालहरणं विनोदः  
अतएव कादम्बर्यां 'कदाचिदक्षरच्युतकमात्राच्युतकविन्दुमयी  
गूढचतुर्थपादप्रहेलिकाप्रदानादिभिरित्युक्तं' तेषां दन्तः । पु,  
तथा तज्जैः प्रहेलिकाभिर्ज्ञैः सह आकीर्णं जनसङ्कुले देशे य-  
न्मन्त्रणं गुप्तभाषणं तस्मिन्, तथा परस्य बोद्धव्यभिन्नस्य व्या-  
मोहने अपरिज्ञातत्वप्रतिपादने च प्रहेलिकाः सोपयोगाः  
सप्रयोजनाः, तस्मात् क्रीडाद्युपयोगित्वादस्या अलङ्कारत्वम्  
अन्यत्र तु दोष एवेति बोध्यम् ॥ ६७ ॥

आहुः समागता नाम गूढार्था पदमन्थिना ।

वञ्चितान्यत्र हृष्टेन यत्र शब्देन वञ्चना ॥ ६८ ॥

प्रहेलिकाप्रकाराद्यादुष्टा दुष्टाश्च, तत्रादुष्टानामेव षोड-  
शानां पञ्चादुदाहरणैः परीक्षां दर्शयिष्यन् प्रथमं मोद्देशं  
लक्षणमाह । आङ्गिरिति । पदयोः सन्धिना सान्निध्यजनित-  
सन्धिकार्यदीर्घादिना गूढो दुर्बोधोऽर्थो यत्र तां समागतां  
नाम प्रहेलिकामाङ्गरित्यन्वयः । अत्र पञ्चादक्ष्यमाणानां सर्वेषां  
प्रथमान्तत्वात् समागतमित्यत्र द्वितीयान्तता प्रक्रमभङ्गमा-  
वहति तस्मादाङ्गः समागतां नामेत्यादिपाठेः लिपिकरप्र-  
मादकतः मयं समागता नामेत्यादि पठनीयं । तथा अन्यत्र  
विवक्षितभिन्ने कृतेन प्रसिद्धेन शब्देन यत्र वञ्चना प्रतारणा सा  
वञ्चिताख्या ॥ ६८ ॥

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी ।

सा स्यात् प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली ॥ ६९ ॥

व्युत्क्रान्तेति । अतिव्यवहितानामत्यनामन्नपदानां प्रयोगात्  
मोहकारिणी बोद्धुरर्थग्रहवैभुर्यमस्यादिका संवृतिकारिवाक्  
व्युत्क्रान्ता व्युत्क्रान्ताख्येत्यन्वयः, अत्र किञ्चिद्भावधानेन प्रयोगो  
न तथा मोहयतीत्यतिशब्दप्रयोगः, आमत्तिश्चान्वयबोध-  
हेतुः तद्रूपकमलङ्घनाद्भुत्क्रान्तेतिमंज्ञा । सा स्यादिति । दु-  
र्बोधाः तत्तदर्थेषु तत्तत्पदानां प्रयोगप्रसिद्धिरहितत्वात्  
दुःखेन बोध्या अर्था यस्यास्तादृशी पदावली पदसमूहः न त्वेकं  
पदं सा प्रकर्षेण बोद्धुर्मुषितत्वमस्यादनात् प्रमुषिता, निरुक्त-  
वञ्चितायान्तु एकं पदं दुर्बोधार्थमित्यतोऽनयोर्भेदः, किञ्च

वक्षितायां नामार्थस्य पदस्वाप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः अत्र तु पदान्येकार्थानीत्यतोऽपि भेदः ॥ ८८ ॥

समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदैः ।

परुषा लक्षणास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिः ॥ १०० ॥

समानरूपेति । गौणार्थेषु साध्यवसानगौणलक्षणया बोधार्थेषु आरोपितैर्लक्षणाप्रयोजनीभूतारार्थाभेदप्रतीतिजनकतया प्रयुक्तैः पदैर्ग्रथिता निबद्धा संवृतिकारिवाक् सदृशयोः शक्यलक्ष्योर्द्वयोः समानरूपतानिवन्धनत्वात् समानरूपा स्यात् । परुषेति लक्षणस्यानुशासनस्यास्तित्वमात्रेण तदर्थेऽस्य शक्तिरस्ति न वेत्यविविच्य केवलमनुशासनमस्तीति कृत्वा व्युत्पादिता श्रुतिः शब्दो यत्र तादृशी वाक् पारुष्येण प्रयुक्तत्वात् परुषा स्यात् ॥ १०० ॥

सङ्ख्याता नाम सङ्ख्यानं यत्र व्यामोहकारणम् ।

अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता ॥ १०१ ॥

सङ्ख्यातेति । यत्र सङ्ख्यानं वर्णानां गणना यद्वा प्रयुज्यमानः सङ्ख्यावाचकशब्दो व्यामोहकारणं श्रोतुर्द्रष्टितिनिश्चयाभावेन विशेषेण मोह जनयति सा सङ्ख्यानघटितत्वात् सङ्ख्याता । अन्येति यत्र वाक्यार्थाऽन्यथा भासते आपाततः प्रतीयमानादर्थान्यप्रकारेण पर्यवसानं प्राप्य शोभां गच्छति सा अन्यार्थस्य प्रकल्पनात् प्रकल्पिता स्यात् ॥ १०१ ॥

सा नामान्तरिता यस्यां नाम्नि नानाथकल्पना ।

निमृता निमृतान्यार्था तुल्यधर्मसृष्टा गिरा ॥ १०२ ॥

मेति । नाम्नि संज्ञाविशेषे ज्ञातव्ये यस्यां नानार्थानां क-  
ल्पना शब्दस्य नानार्थमङ्केतितत्वात् बहूनामर्थानां विकल्पनं  
घटते सा नामान्तरेणान्तरितार्थविषयत्वान्नामान्तरिताख्या ।  
निमृतेति । तुल्यधर्मसृष्टा प्रकृताप्रकृतयोः साधारणधर्मं प्रति-  
पादयन्त्या गिरा वाक्येन निमृता गोपिताऽन्यार्थाः प्रकृतार्था  
यत्र सा निमृताख्या, अस्याश्चानुपात्तस्य प्रकृतस्य साधारण-  
विशेषणमहिम्ना मुख्यमानत्वात् समामोक्तिमूलकत्वं बाध्यम् ॥  
॥ १०२ ॥

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता ।

संमूढा नाम, या साक्षान्निर्दिष्टार्थापि मूढये ॥ १०३ ॥

समानशब्देति । उपन्यस्तेन शब्दस्य प्रकृतार्थबोधकपदस्य  
पर्यायेण स्वार्थबोधकनामान्तरेण साधिता निबद्धा वाक् स-  
मानशब्दाख्या स्यात् । अत्र पर्यायता च लजितलवणादि-  
नैकार्थबोधकता न त्वमरनिर्जरादिवदेकार्थशक्तता तथात्व अ-  
र्थस्य संवरणीयत्वाभावेन प्रहेलिकात्वानुपपत्तरिति बाध्यम् ।  
संमूढेति । साक्षात् वाचकशब्देन निर्दिष्टार्थापि कथितार्था-  
पि या वाक् मूढये आपाततो मोहाय भवति सा संमूढा  
नाम ॥ १०३ ॥

योगमालात्मिका नाम या स्यात् सा परिहारिका ।  
एकच्छाश्रितं व्यक्तं यस्यामाश्रयगोपनम् ॥ १०४ ॥

योगेति । या वाक् 'नामेति प्राकाशे, योगानां यौगिक-  
शब्दानां माला परम्यरा सैवात्मा स्वरूपं यस्याः सा यौगिक-  
शब्दपरम्यरया एकैकरूढपदप्रतिपाद्यानां बाधिकेत्यर्थः,  
सा परिहारिका स्यात्, हारो मुक्तामाला तां परिगतेति व्यु-  
त्पत्त्या मुक्तामालामदृशयौगिकशब्दमालारूपत्वादस्यैता, यदा  
परिहरति झटिति प्रकृतार्थबाधं निवारयतीति परिहारिका,  
अत्र योगमालात्मकं नाम यस्याः मेति पाठस्तु न मनोरमः ।  
एकेति । यस्यामाश्रितमाधेयमेव व्यक्तम् आश्रयस्थाधारस्त गोपनं  
सा एक आश्रयच्छन्ना निगूहिता यत्रेति व्युत्पत्त्या एकच्छन्ना-  
ख्या ॥ १०४ ॥

सा भवेदुभयच्छन्ना यस्यामुभयगोपनम् ।

सङ्कीर्णा नाम सा यस्यां नानालक्षणासङ्करः ॥ १०५ ॥

मेति । यस्यामुभयोरश्रिताश्रययोगोपनं सा उभयम् आ-  
श्रिताश्रययोर्द्वयं क्वम् यत्रेति व्युत्पत्त्या उभयच्छन्नास्या भवेत् ।  
सङ्कीर्णिति । यस्यां नानालक्षणानां समागतादिपञ्चदशप्रभेदा-  
नां मध्ये द्वित्रिचतुरादीनां सङ्करः साहित्येनावस्थानं सा  
सङ्कीर्णा नाम भवेत् । एवं षोडश प्रभेदाः प्रहेलिकाया उद्दि-  
ष्टास्तत्तल्लक्षणेन लक्षिताश्च ॥ १०५ ॥

एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः ।  
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥ १०६ ॥

एता इति । एताः समागतादयोऽदुष्टाः, षोडशेति षुद्ध-  
सङ्कीर्णभेदेनेत्यर्थः, अदुष्टत्वान्मयापि दर्शिता इति भावः । तैः  
पूर्वाचार्यैरेव, अन्याः च्युताक्षरादत्ताक्षराच्युतदत्ताक्षराविन्दु-  
मतीप्रभृतयः इति केचित्, गुप्तादीनामप्यत्रैवान्तर्भाव इत्यन्ये,  
अधीताः पठिताः ॥ १०६ ॥

दोषानपरिमह्येयान् मन्यमाना वयं पुनः ।

साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वनक्षणाः ॥ १०७ ॥

ननु, दुष्टप्रहेलिकाः पूर्वाचार्यैरुक्ताश्चेत्त्वयाप्यनन्तरमुच्येर-  
न्नित्यत्राह । दोषानिति । अपरिमह्येयानत्यधिकान् तासां  
दोषान् अत्यन्तशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वरूपान् मन्यमानाः दोष-  
वाङ्मन्यादलङ्कारत्वाभावं जानन्त इत्यर्थः साध्वीरेव दोषवा-  
ङ्मन्याभावेनालङ्कारत्वमापन्नाः समागताद्याः षोडशैवाभिधा-  
स्याम उदाहरिष्यामः, अत्राभिधानमुदाहरणेन परीक्षा न  
तूद्देशो लक्षणं वा तयोरुक्तत्वेन अभिधास्याम इति भविष्यत्प्र-  
योगानुपपत्तेः । ननु तर्हि शिष्याणां कथं दुष्टप्रहेलिका-  
परिज्ञानं स्यादित्यत्राह, ता इति । याम्नु प्रहेलिकाः अस-  
क्षणाः निरुक्तसमागतादिलक्षणशून्याः ता दुष्टाः निरुक्तलक्षण-  
शून्यसंवृतिकारिवचनं दुष्टप्रहेलिकेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

न मयागोरसाभिज्ञं चेतः, कस्मात् प्रकुप्यसि ।

अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे ॥ १०८ ॥

तत्रादृष्टाः षोडश क्रमेणोदाहरन् प्रथमं ममागतामुदाहरति । नेति । जनममाजे मानिनीं गोपीं मान्वयतः श्रीकृष्णस्योक्तिरियं । हे अलोहितेक्षणे ! कस्मात् प्रकुप्यसि, तव एभिरीदृशैरस्थानरुदितैरलं, यतो मया गोरसा दुग्धादिस्तस्याभिज्ञं चेतो न, अत्र धार्यत इत्यध्याहृतेन मङ्गलेन क्रियापदेनावयः, तव दुग्धाद्यपचयो मया न कृतः कथं त्वं कुप्यसि वादिपि चेत्युदामीनबोधः संवरणकारी प्रथमोऽर्थः, अत्र सम्भ्रमात् क्रियापदं नोक्तमिति अध्याहृतेन धार्यत इति क्रियापदेनावयबोधं कुर्वन्त उदामीनाः अनन्तास्या दुग्धाद्यपचयः कृतस्तदर्थमियं कुपिता वादितोति जानन्विति वाक्यस्य संवरणकारिता, प्रकृतार्थस्तु मे मम चेतः आगोऽपराधः नायिकान्तरमङ्गादितस्य रसे आस्वादे अभिज्ञं न त्वदितरां चेतमापि नाकारं तत् कथं कुप्यसि मानिनी भवसोति । अत्र मे आगोरसाभिज्ञमित्यत्र सन्धिकार्येण एकारस्यायादेशेन मयागोरसेत्यादि जातं तेनैव प्रकृतार्था गूढः ॥ १०८ ॥

कुञ्जामासेवमानस्य यथा ते वर्द्धते रतिः ।

नैवं निर्विशतो नारीरमरस्त्रोविडम्बिनीः ॥ १०९ ॥

वर्द्धतामुदाहरति । कुञ्जामिति । कान्यकुञ्जनगर्यां तत्रत्य नार्यां वानुरक्तं प्रति कस्यचिदुक्तिरियं । कुञ्जां भुग्नपृष्ठां काञ्चि-



स्त्रीमासेवमानस्य उपभुञ्जानस्य ते तव यथा रतिरनुरागो  
वर्द्धते एवं तथा अमरस्त्रीविडम्बिनीर्देवाङ्गनासदृशीर्नारीर्नि-  
र्विशत उपभुञ्जानस्य ते रतिर्न वर्द्धते इति प्रथमोऽर्थः । संव-  
रणीयार्थस्तु कुञ्जा कान्यकुञ्जाख्यनगरीं तत्रत्यरमणीम्बेत्यादिः,  
अत्र कुञ्जाशब्दो भुङ्गपृष्ठनार्यामेव प्रसिद्धः विवचितायां कान्य-  
कुञ्जनगर्यां तदल्पन्नार्यां वा न तथेत्यप्रसिद्धार्थस्य निपुणमति-  
बाध्यतया संवरणम् ॥ १०८ ॥

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके ।

मुखं वल्गुरवं कुर्व्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ॥ ११० ॥

व्युत्क्रान्तामुदाहरति । दण्डेच्यति । कर्कशकण्टके पद्मिन्या  
दण्डे नाले अङ्गानि घट्टयन् घर्षयन् तथा वल्गुरवं कुर्व्वन् हंसः  
तुण्डेन मुखेन पद्मिन्या मुखं चुम्बतीति योजना, तदियमन्वय-  
बाधहेतोरामत्तविशेषेणातिक्रमाद्भुत्क्रान्ता ॥ ११० ॥

खातयः कनि ! काले ते स्फातयः स्फार्द्धवल्गावः ।

चन्द्रे साक्षाद्भवन्त्यत्र वायवो मम धारिणः ॥ १११ ॥

प्रमुषितामुदाहरति । खातय इति । हे कनि ! कन्ये !  
'कन्या कनी कुमारी चेति हेमचन्द्रः' ते तव कान्यते प्रचिप्यते  
यः स कालः पादः 'कल प्रेरणे इत्यस्य चौरादिकस्य कर्मणि  
घणि रूपं' तस्मिन् खातयः खमाकाशं खस्यायं गुणः खः शब्द  
इत्यर्थः, अतनम् अतिः 'अत् सातत्यगमने इत्यस्य भावे इड्'  
खस्य शब्दस्य अतिर्गमनं येषु ते तथा शब्दकारिणूपुराद्यलङ्कारा

इत्यर्थः 'सुद्रघण्टिका इत्यन्ये' ते स्फातयः स्फायमं स्फाः वृद्धि-  
रित्यर्थः, तस्या अतिर्गमनं यत्र ते स्फीता इत्यर्थः प्रभृता इति  
यावत्, तथा स्फां स्फीततामर्हतीति स्फार्हः वल्लानाज्जातो ध्वनि-  
र्वल्लः स्फार्हो वल्लुर्येषां ते गमनवशात् तव पादे नृपुराद्यल-  
ङ्काराः अधिकं शिञ्जितं कुर्वन्तीत्यर्थः, चन्दति आह्लादयतीति  
चन्द्रस्तस्मिन् अत्र ईदृशे सशिञ्जितनृपुराद्यलङ्कारवतीत्यर्थः तव  
पादे साक्षात् प्रत्यक्षीकृते सति मम वायवः प्राणाः धारिणा-  
ऽवस्थिता भवन्ति 'धृङ् अवस्थाने इत्यस्य रूपम् । अत्राप्रमिद्धा-  
र्थवर्जभिः पदैः श्रावणां प्रमोषणात् प्रमुषितेयं ॥ १११ ॥

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी पञ्चपल्लवा ।

पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममञ्जरी ॥ ११२ ॥

समानरूपामुदाहरति । अत्रोद्यान इति । वल्लरी लता ।  
अन्वयः सुगमः, अत्रोद्यानत्वेन नायिकाया देहः, वल्लरीत्वेन  
बाहुः पल्लवत्वेनाङ्गुलयः, कुसुममञ्जरीत्वेन नखा अध्यानिताः,  
नखानां ताम्रता च ताम्राङ्गुलिसंमर्गात् ॥ ११२ ॥

सुराः सुरालये स्वैरं भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।

मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि संप्रति ॥ ११३ ॥

परूपामुदाहरति । सुरा इति । सुरा मद्यं तां कुर्वन्तीति  
सुराः शौण्डिकाः 'नामण्डन्तात् सुरागब्धात् पचादित्वान्  
ङः' यदा सुरा एषामस्तीति सुरापायिनः, दशनार्चिषा हा-  
स्येन विवृतमुखतया निःसृतेन दन्तकिरणेनोपलक्षिताः, सुराया

इदं सौरं तस्मिन् मरुति मज्जन्त इव मत्ताः सन्तः सुरा-  
लये मद्यगृहे स्वैरं भ्रमन्ति इत्ययं संवरणीयोऽर्थः, अत्र सुरा  
इति पदं देवसमूह एव शक्तम् अनुशासनस्यास्तित्वमात्रमवलम्ब्य  
सुराकारकेषु तत्प्रायिषु चाशक्तमपि प्रयुक्तं तदियं प्रयोक्तुः  
पारुष्यप्रकाशनात् परुषा ॥ ११३ ॥

नामिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभृषिता ।

अस्ति काचित् पुरी, यस्यामष्टवणाङ्कया नृपाः ॥ ११४ ॥

सञ्ज्ञातामुदाहरति । नामिक्यमध्येति । काचित् पुरी नगरी  
अस्ति कीदृशी नामिक्येत्यादिः, अत्र काञ्ची इति संवरणीयो-  
ऽर्थः तथाहि नामिकायां भवो नामिक्यः प्रकृते जकारः स  
मध्ये यस्याः मा, तथा परितः सर्वतः समुदायत इत्यर्थः चतु-  
र्भिर्वर्णैः क आ च ई इति चतुर्भिर्वर्णैः नामिक्यजकारसहितैः  
पञ्चभिरित्यर्थः, विभृषिता यथिता, ईदृशी काञ्चीत्येव, संज्ञा-  
संज्ञिनोरभेदोपचारात् पुर्या विशेषणद्वयं । यस्यां पुर्याम् अष्टौ  
वर्णा अक्षराणि यत्र तादृश आङ्कयो नाम येषां तादृशा नृपा  
आसन्, एतेन पुण्ड्रकनामानो नृपा इत्यायातं पुण्ड्रकशब्दश्च  
प उ ण ड र अ क अ इत्यष्टभिर्वर्णैर्निबद्धः पुण्ड्रकवंशा नृपाश्च  
काञ्च्यां पूर्वमामन्निति प्रसिद्धिः, अत्र चतुरष्टेति वर्णसञ्ज्ञानेन  
आह्वणं मोहनादियं सञ्ज्ञाता ॥ ११४ ॥

गिरा स्वलन्त्या नम्रेण गिरसा दीनया दृशा ।

तिष्ठन्तमपि सेत्कस्यं वृद्धे ! मां नानुकम्पसे ॥ ११५ ॥

प्रकल्पितामुदाहरति । गिरेति । हे वृद्धे ! स्यविरे ! वार्द्ध-  
 क्येन स्वलन्त्या गिरा नम्रेण शिरसा दीनया दूशा चक्षुषा  
 चोपलक्षिता त्वं मोत्कम्पं तिष्ठन्तमपि मां नानुकम्पसे इति  
 प्रथमोऽर्थः । संवरणीयार्थस्तु हे वृद्धे ! अर्द्धे ! लक्ष्मीत्यर्थः  
 'वृद्धि'शब्दस्य सम्बुद्धिप्रथमया रूपं, 'अर्द्धिः सिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धे-  
 रष्याङ्गया इमे इत्यमरः' दारिद्र्यात् स्वलङ्घीः प्रभृतिभिरूप-  
 लक्षितं तथा मोत्कम्पं मां नानुकम्पसे इति, अत्र प्रथमं प्रती-  
 यमानादर्थात्प्रकृतत्वेनार्थान्तरप्रकल्पनादियं प्रकल्पिता ॥ ११५ ॥

आदौ राजेत्यधीराक्षि पार्थिवः कोऽपि गीयते ।

सनातनश्च, नैवामौ राजा नापि सनातनः ॥ ११६ ॥

नामान्तरितामुदाहरति । आदाविति । हे अधीराक्षि  
 चक्षुलनयने कोऽपि पार्थिवः पार्थिवशब्दवाच्यः आदौ प्रथमं  
 राजा इत्यनेन नाम्ना गीयते कथ्यते तथा स सनातनो नित्यः,  
 इत्ययमप्रकृतोऽर्थः, प्रकृतार्थमुद्गावयन्नाह अमौ पार्थिवा वस्तुता  
 नैव राजा भूपतिः तथा नापि सनातनो नित्यः, तस्मात्  
 कोऽमावुच्छतामिति प्रश्नाऽत्र गम्यः, उत्तरभूतः संवरणीया-  
 र्थस्तु कोऽपि पार्थिवः पृथिवीविकारो वृक्षविशेष इत्यर्थः स  
 आदौ प्रथमभागे राजेति गीयते तदाचकनाम्नः प्रथमभागे  
 राजा इति शब्दो वर्त्तते इत्यर्थः, तथा सः सनातनः तमेतिशब्द-  
 शून्यो न, तन्नाम्नोऽन्ते तनशब्दोऽपि वर्त्तते इत्यर्थः तस्मात्  
 राजातनवृक्ष इत्यायातं स च पियालवृक्षः 'राजातनं पियालः

स्यादित्यमरः' राजातनं राजादनमिति च रूपद्वयम् । अत्र राजातनेति नास्ति वक्तव्ये नानार्थकल्पनादियं नामान्तरिता । लक्षणे नामपदञ्च वस्तुपरं न तु संज्ञामात्रपरं बोध्यं, तेन 'तरुण्याल्लिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः । गुरुणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुञ्जमुञ्जः' अत्र सजलकलसरूपवस्तुनिवक्तव्ये प्रथमं नानार्थकल्पनाम्नामान्तरिता । एवं य एवादौ स एवान्ते मध्ये भवतिमध्यमः । अस्यार्थं यो न जानाति तन्मुखे तं ददाम्यहमित्यादावपि, अत्र यवसः प्रतिपाद्यः ॥ ११६ ॥

हृतद्रव्यं नरं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति काः ।

नानाभङ्गिसमाकृष्टलोका वेश्या न दुर्हराः ॥ ११७ ॥

निभृतामुदाहरति । हृतद्रव्यमिति । नानाभङ्गिभिर्बहुविधविदग्धचेष्टाभिः समाकृष्टा वशीकृता लोका याभिस्तादृश्याः काः हृतमपहृतं द्रव्यं धनं यस्य तादृशं नरं पुरुषं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति भजन्ते, इतिप्रश्नस्य तत्तद्विशेषणमहिष्ता वेश्या एव विषया भवितुमर्हन्ति तन्निषेधेन संवरणीयार्थमुक्त्वा वयति दुर्हरा दुःखेन भ्रियमाणाः कथमपि वश्यतामनापाद्यमाना इत्यर्थः, ईदृश्या वेश्या न वेश्या मम प्रश्नविषया नेत्यर्थः, अतस्ताः का उच्यन्तामिति प्रश्नः, अत्रोत्तरभूतसंवरणीयार्थस्तु पर्वतभवा नद्य इति, तथा हि नाना भङ्गास्तरङ्गा विद्यन्तेऽस्येति नानाभङ्गि जलं तेन समाकृष्टा लोका अवतरन्ना याभिस्ताः नानाभङ्गिभ्रताकृष्टेति पाठे तु भङ्गिभ्रन्दो-

भङ्गपरः, तथा दुर्द्धराः धरः पर्वतसप्तस्य दुर्गताः दुर्द्धराऽगम्य  
इत्यर्थः धरोषाभिस्ता इति वा, दुर्द्धरास्तत्सम्बन्धिषाखा-  
पक्षवादीनि द्रव्याणि इतानि स्रोतसा नीतानि द्रव्याणि  
यस्य स तथा तं नरं नरसदृशम् 'आश्रयणीयत्वाद्गौण-  
प्रयोगोऽयं' पर्वतमित्यर्थः, त्यक्त्वा धनवन्तं रत्नाकरं ब्रज-  
न्तीति अत्र विशेषणानामुभयसाधारण्यादेकतरनिषेधेऽन्यतर-  
प्रतीतिर्युज्यत इति नदीप्रतीतिः, तदर्थस्य च तुल्यविशेषण-  
प्रतीतत्वे सत्यपि वाचकशब्दानुपात्तत्वात्तद्विधत्तत्वमित्यस्मात्तद्वि-  
धत्तत्वम् ॥ ११७ ॥

जितप्रकृष्टकेशास्थो यस्तवाभूमिसाङ्गयः ।

स मामद्य प्रभूतोत्कं करोति कलभाषिणि ॥ ११८ ॥

समानशब्दामुदाहरति । जितेति । प्रकृष्ट उक्तयो सः  
केशस्यस्याख्या तदाचकं नाम प्रवाल इत्यर्थः जिता प्रकृष्टकेश-  
स्या येन सः, भूमिर्धरा नास्ति भूमिर्यत्र सः अधर इत्यर्थः  
तेन साङ्गयः समाना, तव ईदृशो यः सोऽद्य मां प्रभूतो-  
त्कमत्युत्कृष्टं करोति प्रवालसदृशस्तवाधरो मां व्याकुल-  
यतीत्यर्थः । अत्र प्रकृष्टकेशास्थोभूमिशब्दौ लक्षितलक्षणया  
प्रवासाधरयोः पर्यायौ, तथा हि प्रकृष्टकेशस्य प्रवालशब्दे  
अभूमिशब्दस्य साधरशब्दे लक्षणा लक्षितयोश्च तयोः शब्दयोः  
शक्तिपक्षेण प्रवासाधररूपार्थयोश्चपस्त्रितिरिति तद्विद्यं प्रकृत-  
प्रयोग्यशब्दस्य समानशब्देनार्थोपस्थापनात् समानशब्दा ॥ ११८ ॥

शयनीये परावृत्त्य शयितौ कामिनौ क्रुधा ।

तथैव शयितौ रागात् स्वैरं मुखमचुम्बताम् ॥ ११९ ॥

संमूढामुदाहरति । शयनीय इति । शयनीये शय्यायां, परावृत्त्य पराङ्मुखीभूय, तथैव शयितौ परावृत्त्य शयितावपि, स्वैरं स्वच्छन्दम्, अत्र क्रुधा परावृत्त्य शयितयोः स्वैरं मुखचुम्बनं दुर्घटमित्यापाततोमोहः । अथ च प्रथमं क्रुधा पराङ्मुखीभूय शयितौ पश्चात्तु रागात् तथैव पुनः परावृत्त्य शयिताविति पराङ्मुखीभूय पार्श्वान्तरेण शयितयोः पुनःपरावर्त्तनेन शयने संमुखीनत्वाच्चुम्बनं सुघटमेवेत्यापातत एव श्रोत्राणां मोहजननादियं संमूढा ॥ ११९ ॥

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।

हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥ १२० ॥

परिहारिकामुदाहरति । विजितात्मेति । विना पक्षिणा गुरुतेन जित इन्द्रस्तस्यात्मभवः पुत्रोऽर्जुनः तस्य द्वेषी कर्णस्तस्य गुरुः पिता सूर्यः तस्य पादाः किरणाः तैर्हतस्तापितो जनः हिमं जास्यमपहन्तीति हिमापहो वज्रिः तस्यामित्रो जलं तद्वरैर्मघैर्व्याप्तं व्योमाकाशमभिनन्दति प्रशंसति, अत्र यौगिक-ब्रह्मज्ञानया प्रकृतार्थबोधनादियं परिहारिका ॥ १२० ॥

न स्पृशत्यायुधं जातु न स्त्रीणां स्तनमण्डलम् ।

अमनुष्यस्य कस्यापि चरतोऽयं न किलाफलः ॥ १२१ ॥

वाच्यते ।

हस्तस्य वायुधरति । नेति । चमनुष्यस्य मनुष्येण गण्यस्य  
कदापि हस्तः वातु कदाचिदपि वायुधमस्य न सृष्टति न वा  
वातु कीर्त्तं सुनमस्यसं सृष्टति, तथाप्ययं हस्तः किल नाफलः  
अव्यर्थो न परन्तु सफल एवेत्यापात्नोऽर्थः, अत्र वायुधस्त्रोस्तन-  
स्पर्शाभावेन मायं वीरो न वा शृङ्गारोति कथमस्य हस्तस्य  
सफलतेति विरोधेन बाधावतारादमनुष्यपदेन गन्धर्व्वो ल-  
क्ष्यते तस्य हस्तो गन्धर्व्वहस्त इति समुदायेन एरण्डवृक्षः प्रति-  
पाद्यते तथाच हारावली 'अमण्डपञ्चाङ्गुलवर्द्धमाना गन्ध-  
र्व्वहस्तस्त्रिपुटीफलस्येति । तस्य फलं विद्यत एवेत्याश्रितं फल-  
मेव व्यक्तं न त्वाश्रयोवृक्षस्तदियमेकच्छत्रा ॥ १२१ ॥

केन कः सह सम्भूय सर्वकार्येषु सन्निधिम् ।  
लब्ध्वा भोजनकाले तु यदि दृष्टो निरस्यते ॥ १२२ ॥

उभयच्छत्रामुदाहरति । केनेति । कः पदार्थः केन पद-  
र्थेन सह सम्भूय मिलित्वा सर्वकार्येषु सन्निधिं सन्निकर्षं लब्ध्वा  
च भोजनकाले तु यदि दृष्टः स्यात्तदा निरस्यते निःसार्यते  
इत्ययं प्रश्नः, उत्तरन्तु केन मस्तकेन सम्भूय कस्य मस्तकस्यायं  
कः केशः इत्यर्थः इदमर्थे टण् । स च सर्वकार्येषु सन्निधिं लब्ध्वा  
भोजनकाले दृष्टो निरस्यत एवेति, अत्राश्रयाश्रितयोर्मस्तक-  
केशयोद्भयोरेव च्छत्रत्वमितीयमुभयच्छत्रा ॥ १२२ ॥

सद्यया सगजा सेना सभटेयं न चेज्जिता ।  
अमात्रिकोऽयं मूढः स्यादक्षरश्च नः सुतः ॥ १२३ ॥



सङ्कीर्णामुदाहरति । सहयेति । सहया हचैरस्यैः सहिता,  
तथा सगजा गजैर्हस्तिभिः सहिता तथा सभटा भटैर्योधैः  
सहिता इयं अत्रुमन्विनी सेना चमूः चेद्यदि न जिता परा-  
भूता स्यात् तदा नोऽस्माकमयं सुतः अक्षरज्ञश्च अक्षरं ब्रह्म  
तज्ज्ञोऽपि मूढो मूर्ख एव स्यात्, तत्र हेतुः यतोऽयममात्रिकः  
मीयन् इति मात्राविषयाः ता अर्हतीति मात्रिकस्तद्धिनः  
ब्रह्मज्ञोऽपि वैषयिकबुद्धभावेन मूर्खत्वेनैव गण्यः स्यादित्यापा-  
तिकोऽर्थः, संवरणीयार्थस्तु हकारेण यकारेण च गकारेण  
जकारेण च भकारेण टकारेण च सहिता इयं सेना वर्ष-  
माना इतः स्यावरजङ्गमानां प्रभुर्ब्रह्मा तेन सहिता ब्रह्मणैव  
सृष्टेत्यर्थः, 'धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढान्यतः पुरेति स्मर-  
णात्' न चेज्जिता अभ्यस्ता तदा अमात्रिको मात्रा अचस्त-  
ज्ज्ञानरहितोऽयं नः सुतः न क्षरतीत्यक्षरो वेदस्तज्ज्ञोऽपि मूढ  
एव स्यात् अभ्यस्तवेदोऽपि वर्षपरिज्ञानप्रून्यसेमूर्ख एवेत्यर्थः ।  
यद्वा जिता लिखितं यत्ना, अक्षरज्ञो वर्षज्ञः वर्षपरिज्ञानवा-  
नपि यदि हकारयकारादिवर्षलिखनानभिज्ञस्तदामूर्ख एवे-  
त्यर्थः ॥ १२३ ॥

सा नामान्तरितामिश्रा वञ्चिताहूपयोगिनी ।

एवमेवेतरासामप्युन्नेयः सङ्करक्रमः ॥ १२४ ॥

॥ प्रहेलिकाचक्रम् ॥

॥ इति शब्दालङ्काराः ॥

अत्र साङ्कर्यमुपपादयति । सेति । सा पूर्वोक्तेयं नामा-  
 न्तरितामिआ हयादिशब्दानां नामार्थकल्पनात्नामान्तरिता-  
 ख्यप्रहेलिकासञ्चययुक्ता । तथा सेनाशब्दस्य समूहपेऽविवक्षि-  
 तेऽर्थे प्रसिद्धत्वेन प्रथमं तदर्थप्रतिपत्त्या वक्ष्यतात् वक्षिताख्य-  
 प्रहेलिकायाः स्वरूपसम्बन्धवती च । एवमेव अनया दिशा,  
 इतरासां समागतादीनाम्, उन्नेयः स्वयं ज्ञातव्यः । अत्र च  
 द्वयोः साङ्कर्यं दर्शितं त्रिचतुःप्रभृतीनामप्येवं साङ्कर्यं स्वयं  
 बोध्यम् ॥ १२४ ॥

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।

शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ॥ १२५ ॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।

इति दोषा दृशैवेते वज्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ १२६ ॥

एवं काव्यस्योपादेयधर्मा गुणा अलङ्काराश्च सपरिक-  
 निरूपिताः, अथ 'दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्रं प्रयोक्तुः सैव शंसतीत्या-  
 दिषन्दर्भेण तदीयहेयधर्मतया प्रतिपादितेषु दोषेषु अग्नि-  
 पुराणादिप्राचीननिबन्धरीत्या गुणासङ्कारूपोपादेयधर्मनि-  
 रूपणानन्तरमेव निरूपयितव्येषु अतिकटुत्वाद्यतिप्रभृतानामेषां  
 कार्त्स्न्येन निरूपणं अन्यबाहुल्यमापादयेत् येनात्र त्रिव्याणा-  
 मप्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्कमानोऽलङ्कारपरिच्छेद एवास्मिन्  
 प्रयोक्तुरत्यन्तानभिज्ञतासु चकतया नितान्तपरित्याज्यानेव द-  
 शविधांस्तान् निरूपयितुमुद्दिशति । अपार्थमिति । यद्यपि

सामान्यलक्षणान्तरमेव विशेषाणां निरूपणमचितं तथापि  
 दोषपदस्य स्फुटार्थत्वेन योगबलादेव सामान्यलक्षणपरिज्ञा-  
 नात्तदप्रतिपाद्यैव विशेषा दर्शिताः । तथाहि काव्यं दुष्यति  
 विकृतं भवतीत्यनेनेति व्युत्पत्त्या दुष् वैकृत्ये इत्यस्य करणघ-  
 णा दोषपदं सिद्धं, प्रकाशकृद्भिस्तु मुख्यार्थइतिर्दोष इत्यनेनास्य  
 भावघणन्तता सूचिता, वैकृत्यस्यापकृत्यत्वं ततश्च काव्यस्यापक-  
 र्षकोऽपकर्षोवा दोष इति सामान्यलक्षणम् । अपकर्षश्च क्वचि-  
 च्छब्दस्य क्वचिदर्थस्य क्वचिच्च तद्वाङ्मरसादेरिति त्रितयवृ-  
 त्तितया तेषां त्रिविधत्वं बोध्यम् । अत्रापार्थमित्यादिदशानां  
 नपुंसकत्वादाक्यमेव विशेष्यं तत्रापार्थत्वादिषमन्वयश्च क्वचित्  
 साक्षात् क्वचित् परम्परयाच बोध्यः । इतीति इत्येते दशैव  
 नतु श्रुतिकटुत्वादयः वज्ज्या अत्यन्तं त्याज्याः शाब्दबोधविघ-  
 टकत्वादिना प्रयोक्तुरत्यनभिज्ञताप्रकाशकत्वात्, श्रुतिकटुत्वा-  
 दयस्तु किञ्चिद्वैरस्यमात्रजनका नत्वन्वयबोधप्रतिकूला इति  
 नात्यन्तं त्याज्याः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ ।

विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥ १२७ ॥

ननु दशैवेति कथमवधारणं न्यायावयवानां प्रतिज्ञादीनां  
 हानिरपि विवक्षितार्थाप्रतिपत्त्या वस्तुतो दोष एव, अतएव  
 भगवता गोतमेन 'प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध'  
 इत्यादि सूत्रेण प्रतिज्ञाहान्यादीनां नियहस्वानत्वमुक्तं, भामह-  
 प्रभृतयस्तु तस्य दोषतां नेच्छान्त यथा 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-

हीनं दुष्टञ्च नेष्यत इति, तत् किमत्र तत्त्वमिति पर्यनुयुक्त इव प्रकृते निष्प्रयोजनत्वात्तद्विवेकमुपेक्षमाण आह । प्रतिज्ञेति । साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, साध्यसाधनं हेतुः, प्रसिद्धोदाहरणोपन्यासो दृष्टान्तः, एषां हानिर्दोषः काव्यापकर्षको न वा इत्यस्मिन् संग्रहे असौ पर्यनुयुज्यमानो विचारो विवेकः एकतरावधारणमित्यर्थः प्रायः कर्कशो न्यायविषयकत्वात् कठिनः, यदा कर्कशो नीरसः निष्प्रयोजन इत्यर्थः, अतश्च आलीढेनास्त्रादितेन परिज्ञातेनेत्यर्थः तेन विचारेण किं फलं सम्यक् फलं नास्तीत्यर्थः, अयमाशयः वैरस्यजनकत्वेन दोषाणां परिज्ञानं स्वत एव बोद्धुं सम्भवति तदर्थञ्च यन्व्यपन्नवनमनुचितं केवलं काव्येष्वत्यन्तपरिहार्या एव ते कतिपये दृश्यन्ते न च प्रतिज्ञादिहानेरत्यन्तपरिहार्यत्वम् अप्रतिज्ञातानां प्रासङ्गिकादिषाध्यानामपि कविवर्णितत्वदर्शनात् । निर्हेतुता च प्रसिद्धसाध्ये वैरस्यं नावहति यथा 'सम्प्रति मन्थ्याममयश्चक इन्दानि विघटयतीत्यादौ, दृष्टान्तोपन्यासस्वरूपकारुण्य एवात तद्भानिरपि नात्यन्तवैरस्यजनिका अतएव 'दृष्टान्तस्य सामयिकत्वेनासार्धत्रिकत्वेऽपि न क्षतिरिति न्यायसूत्रवृत्तिकृताकं तस्माद्यत्र वैरस्यजनकत्वं तत्र दोषत्वं यत्र न तथा तत्र न तथा न पुनः शब्दबोधविघटकत्वाद्यभावादेकान्तपरिहार्यता एवं प्रतिज्ञाविरोधादयोऽपि श्रेयाः, तत्र प्रतिज्ञाविरोधो यथा कण्ठाभरणे 'यावज्जीवमहं मैत्रो ब्रह्मचारी पिता मम । माता च मम बन्ध्याषीदपुत्रश्च पितामहः' इति ॥ १२७ ॥

समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते ।

उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ १२८ ॥

संप्रत्युद्दिष्टान् दोषप्रभेदान् क्रमेण लक्षयति । समुदायार्थ-  
शून्यमिति । समुदायो वाक्यघटकपदसमूहः, महावाक्यघटक-  
वाक्यसमूहश्च तस्यार्था विशेषणविशेष्यभावेनान्विततया एक-  
त्वेन प्रतीयमानः प्रतिपाद्यः, तच्छून्यं यद्वाक्यं महावाक्यं वा  
तदपार्थम् अपार्थत्वाख्यदोषवदिष्यत इत्यन्वयः, यत्र पदा-  
र्थानां वाक्यार्थानां वा योग्यताकाङ्क्षामत्यभावेन विशेषणवि-  
शेष्यत्वेनान्वयो बाधितो भवति तदपार्थत्ववदित्यर्थः । अस्य  
क्वचिद्दोषत्वमपि दर्शयति, उन्मत्तेति । उन्मत्ता उन्मादरो-  
गवन्तः, मत्ता मद्यपानादिना प्राप्तविकाराः, बालाः शिशवः,  
प्रमत्तान्मत्तबालानामिति पाठे प्रमत्ता मद्योपयोगादिनानव-  
धाना इत्यर्थः, एषामुक्तेरन्यत्र अनुन्मत्तादीनामुक्तौ दुष्यति  
वाक्यं महावाक्यं वा द्रष्टुं भवति उन्मत्ताद्युक्तौ तस्य न दोष-  
त्वमित्यर्थः ॥ १२८ ॥

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि जरातुरः ।

अमी गर्जन्ति जीमूता हरैरैरावणः प्रियः ॥ १२९ ॥

तत्र बहुवाक्यगतमपार्थत्वमुदाहरति । समुद्र इति । देवै-  
र्मघैः सुरैर्वा, देवैरित्यत्र सोऽयमिति क्वचित् पाठः । अत्र  
स्वार्थबोधपरिसमाप्तस्यापि वाक्यचतुष्टयस्याकाङ्क्षाभावेनाकाङ्क्षा-  
ङ्गित्वविरहादेकवाक्यत्वाभावस्तत एव समुदायार्था नास्ति,

यदुक्तं 'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया । वाक्यानामे-  
कवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायत इति । एवं योग्यताद्यभावेऽपि  
समुदायार्थशून्यत्वं ज्ञेयं, तथा बहुपदगतमपि यथा 'वङ्गिना  
सिञ्चति, गौरश्चः पुरुषो हस्तोत्यादि ॥ १२६ ॥

इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम् ।

इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् ॥ १३० ॥

उन्मत्तेत्याद्युक्तमनुवदन् दोषस्यातिगुरुत्वं प्रतिपादयति ।  
इदमिति । अस्वस्थचित्तानामुन्मादादिभिर्निर्विवेकमनमाम्,  
इदमेवं समुदायार्थशून्यमभिधानं वचनम् अनिन्दितं शिष्टै-  
र्निन्दितत्वेन परिगृहीतं न भवति प्रयोक्तुरनवहितत्वात्,  
इतरत्र अस्वस्थचित्तप्रयुक्तभिन्ने, एवमनाकाङ्क्षत्वादिकं, यद्वा  
इतरत्र उन्मत्तादिभिन्नेषु मध्ये कोवा कविः पण्डितः सचेता  
इत्यर्थः, वस्तुतस्तु इतरस्त्वितिपाठः सम्यक् । को वा प्रयुञ्जी-  
तेति एतेन समुदायार्थशून्यवाक्यस्य सचेतःप्रयुक्तत्वामर्थ-  
प्रतिपादनेन कथञ्चित् प्रयोगे वैरस्यातिशय इति सूचितम्,  
अतएव दोषस्यास्य प्रथमोपन्यास इति बोध्यम् ॥ १३० ॥

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।

विरुद्धान्यतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥ १३१ ॥

व्यर्थं लक्षयति । एकवाक्य इति । एकस्मिन् वाक्ये तथा  
प्रबन्धे वाक्यसमूहे वा यत्पदं वाक्यम्वा पूर्वापरपराहतं पूर्वापर-

सङ्गतिशून्यं तद्व्यर्थं व्यर्थत्वदोषवदिति कृत्वा दोषेषु दोषवत्सु मध्ये पश्यते इत्यन्वयः, यदा पूर्वापरपराहतं पूर्वापरसङ्गतिशून्यत्वमिति व्यर्थं व्यर्थत्वमिति च धर्मपरोऽयं निर्देशः सप्तमीद्वयञ्च षष्ठ्यर्थं तत्र हेतुरदन्ततेत्यादिवत्, ननु वर्षकदम्बात्मकयोर्वाक्यप्रबन्धयोः कथं परस्परमसङ्गतत्वसम्भव इत्यत्राह विरुद्धार्थतयेति वाक्यप्रबन्धयोः पूर्वापरविरुद्धार्थप्रत्यायकत्वं व्यर्थत्वाख्योदोष इत्यर्थः एतेनात्र विपदं विरुद्धार्थकं नतु विगताद्यर्थकमिति सूचितम् । अर्थविरोधप्रतीतिश्चात्र शाब्दबोधानन्तरं पर्यालोचनया, अपार्थितु आकाङ्क्षाद्यभावाच्छाब्दबोध एव न सम्भवतीत्यनयोर्भेदः, एकवाक्ये प्रबन्धेवेत्यनेन च वाक्यप्रबन्धार्थपर्यालोचनयैव विरोधप्रतीभासोऽस्य विषयः प्रकरणादिपर्यालोचनया विरोधप्रतीभासस्तु वक्ष्यमाणदेशकालादिविरोधविषय इति सूचितं । अस्यात्यन्तवर्ज्यता च प्रयोक्तुरत्यनभिज्ञताप्रकाशकत्वात्, अत्रैवान्यैरुक्ता विरुद्धमतिकारित्वप्रकाशितविरुद्धत्वामतपरार्थत्वपरिपन्थिरसाङ्गपरिग्रहादयो दोषा अन्तर्भवन्ति ॥ १११ ॥

जहि शत्रुबलं कृत्स्नं जय विश्वम्भरामिमाम् ।

तव नैकोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥ १३२ ॥

तत्र प्रबन्धगतव्यर्थत्वमुदाहरति । जहोति । अत्र शत्रुमात्रशून्यस्य कृत्स्नशत्रुबलहननं सर्वभूतानुकम्पिनः सर्वलोकजयस्य पूर्वापरपर्यालोचनया विरुद्धत्वेन प्रतीयते । एवं वा-

क्यगतं बोध्यम् । तत्र नैकोऽपीत्यत्र न च ते कोऽपीति क्वचित्  
पाठः ॥ १३२ ॥

अस्ति काचिद्वस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः ।  
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥ १३३ ॥

वक्तृविशेषस्योक्तौ विरुद्धार्थत्वस्य गुणत्वं दर्शयति । अस्तीति ।  
साभिषङ्गस्य विद्योगाद्यभिभूतस्य, साभिलाषस्तीति पाठस्तु न  
सम्यक्, काचिद्विलक्षणा इष्टानिष्टरेणोपादेयवक्तृत्वात्कदाचि-  
विवेकशून्येत्यर्थः, अवस्था अस्ति भवति, यस्यामवस्थायां वर्त-  
मानस्य प्रयोक्तृविरुद्धार्थाऽपि पूर्वापरपराहतापि भारती  
अभिमता श्रोतृणामादृता भवेत्, अभिमतेत्यनेन न केवल-  
मस्यादोषत्वं किन्तु गुणत्वमपीति सूचितम् ॥ १३३ ॥

परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते ।  
पिवामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम् ॥ १३४ ॥

उदाहरति । परदारेति । तरलं लज्जावशात् मत्वाद्-  
द्यादा सकम्पं, तस्याः परकान्तायाः, दशनच्छदमधरम् ।  
अत्र स्वस्यार्याभिमानितया परदाराभिलाषस्यायुक्तत्वं प्रति-  
पादयत एव प्रयोक्तुः परदाराधरपानाशंमनसि पूर्वार्द्ध-  
व्यङ्ग्यस्य शान्तव्यभिचारिणोमत्याख्यभावस्य उत्तरार्द्धव्यङ्ग्येन  
शृङ्गारव्यभिचारिणोक्तुशब्देन सह सन्नपि विरोधः प्रयोक्तु-  
र्विद्योगाभिभूतत्वव्यञ्जकतया शृङ्गारोपकत्वात् कमपि चम-



त्कारमावहतीति गुण एव, अत्र द्वयोर्विरोधः, एवमेकत्र बहूनां विरोधे चमत्कारातिशयः यथा 'काकार्यं शशलक्षणः कचकुलं भूयोऽपि दृश्येत सा, दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् । किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा, चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति' । इत्यत्र शान्ताङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधतीनां विप्रलम्भाङ्गैरौत्सुक्यसृष्टिदैन्यचिन्ताभिः सह सन्नपि विरोधः प्रयोक्तुर्विरहाभिभूतत्वव्यञ्जनात् शृङ्गारप्रकर्षमाविर्भावयति । नव्यास्त्वेवंविधस्यले विरुद्धानां बाधत्वेनोक्ताङ्गुणत्वमित्याह । यथा 'सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाधत्वेन वचोगुण' इति ॥ १३४ ॥

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।

अर्थतः शब्दतोवापि तदेकार्थं मतं यथा ॥ १३५ ॥

एकार्थं लक्षयति । अविशेषेणेति । पूर्वोक्तमिति सामान्यत्वान्नपुंसकम् । अर्थतः शब्दत इति प्रथमान्तम्, अत्र यत्रेत्यध्याहार्यं, तदयमन्वयः, पूर्वोक्तोऽर्थः शब्दो वा यत्र वाक्ये यद्यविशेषेण भूयोऽपि कीर्त्यते तदा तदाक्यम् एकार्थम् एकार्थत्वाख्यदोषवन्मतं, यदा अर्थतः शब्दत इति च सप्तम्यन्तम् एकार्थमित्यनेनाश्वितम् अर्थनिष्ठं शब्दनिष्ठञ्चैकार्थमित्यर्थः । अविशेषेणेति एकरूपेणेत्यर्थः, यदा विशेषविवक्षाया अभावेन यत्र विशेषविवक्षार्थमुक्तस्य पुनःकीर्तनं तत्रास्य न दोषत्वं विशेषस्य प्रस्तुतस्यानुकम्पनीयत्वादि एतच्चानन्तरमेव व्यक्ती-

भविष्यति, अर्थतः शब्दतोषेत्यनेनान्यैरुक्तस्य पौनरुक्त्याख्यार्थ-  
 दोषस्य कथितप्रदत्ताख्यशब्ददोषस्य च द्वयोरेवैकार्थसंज्ञया  
 संयहः सूचितः, न च शब्दपौनरुक्त्ये कथमेकार्थेति यौगिकसंज्ञा-  
 प्रवेष्टः गुणदोषालङ्कारसंज्ञानां प्रायेण योगबलादेव प्रवृत्ते-  
 रिति वाच्यं शब्दपदस्य तदर्थकशब्दपरत्वात् अतएव भिन्ना-  
 र्थकशब्दपौनरुक्तस्य वैरस्यानावहत्वान्नदोषत्वं यथा 'सुरा विप्रैः  
 सुरा नीचैः सेव्यन्ते भक्तिभावतः । विप्राणान्तु फलं दूरे नीचा-  
 नान्तु तदैव हि' इत्यादौ सुरा इति पदं पुनरुक्तमपि सुरा  
 देवाः सुरा मद्यानीति विभिन्नार्थकत्वेन न दूषणमावहति  
 तस्मादर्थस्य एकार्थकशब्दस्य वा पुनरुक्तत्वमेकार्थत्वं, यत्र शब्द-  
 भेदस्तत्रार्थमात्रस्य पौनरुक्तं यत्र तु तदभेदस्तत्र द्वयोरपीति  
 निष्कर्षः ॥ १३५ ॥

उत्कामुन्मनयन्त्येते वालां तदलकत्वपः ।

अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्त्ववः ॥ १३६ ॥

तत्रार्थगतमेकार्थत्वमुदाहरति । उत्कामिति । उत्कामु-  
 त्कण्ठिताम्, उन्मनयन्ति उद्दीपकलादुत्कण्ठयन्ति, अत्रोत्का-  
 न्मनःशब्दयोः, अम्भोधरतडित्वत्स्तनयित्त्वशब्दानाञ्च स्वरूप-  
 भेदेऽप्येकपर्यायत्वेनैकार्थशक्तत्वादर्थस्य पौनरुक्त्यम्, एवं पर्या-  
 यान्तरानुपादानेऽपि प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तार्थस्य पुनःप्रतीता-  
 वयस्य सङ्गावा ज्ञेयः, यथा 'सहसा विदधोत न क्रियामविवेकः  
 परमापदां पदम् । वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणसुधाः स्व-

यमेव सम्पद इति, अत्र द्वितीयाद्धे व्यतिरेकेण द्वितीयपाद-  
 स्यैवार्थ इति पुनरुक्तत्वमेव, यदि तु उत्कामुग्धनयन्तीत्यस्य  
 विरहेणोत्कण्ठितामपि अभोधराः पुनरुद्दीपकतया अत्युत्क-  
 ण्ठितां कुर्वन्तीत्यत्र तात्पर्यम् एवमभोधरादीनामेकस्यैव  
 समुदायार्थशक्तस्य विशेष्यतायामन्ययोश्चावयवार्थशक्तयोर्विशेष-  
 णतायां तात्पर्यं तदार्थभेदान्नास्य सङ्गाव इति बोध्यम्, यथा  
 'सा त्रियामा तदारत्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता । राज्ञो विलप-  
 मानस्य न व्यभासत शर्वरी' । अत्र त्रियामाशर्वरीशब्दयो-  
 रेकपर्यायत्वेऽप्यवयवार्थशक्तत्वमङ्गीकृत्य त्रियामाशब्दः शर्वरी-  
 विशेषणत्वेनोपन्यस्तः । अत्र शब्दभेदादर्थत एव पुनरुक्तत्वं ।  
 शब्दतो यथा 'अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला परिमलन-  
 निमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली । सुतनु ! कथय कस्य व्यञ्जय-  
 त्यञ्जसैव स्मरनरपतिलीलायैवराज्याभिषेकम्' अत्र लीला-  
 शब्दः पुनरुक्तः ॥ १३६ ॥

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विचक्षते ।

न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्कार्या ॥ १३७ ॥

अविशेषेणेत्युक्तस्य प्रयोजनं दर्शयन् दोषमिमं प्रतिप्रसृते ।  
 अनुकम्पेति । अनुकम्पाद्यतिशयः प्रसृतस्यानुकम्पनीयत्वादि-  
 विशेषः, आदिना विधेयानुवादादिपरिग्रहः, तदुक्तं गुण इत्यनु-  
 वृत्तौ दर्पणकृता 'कथितञ्च पदं पुनः । विहितस्यानुवाद्यत्वे  
 विषादे विस्मये क्रुधि । दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसा-

दने । अर्थान्तरसंकमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे' इति । एवमुक्त-  
 ताद्युक्तावपि पौनरुक्तस्य गुणत्वं ज्ञेयं, यथा मृच्छकटिके  
 शकारोक्तौ 'मम मन्त्रणमण्डलं मन्त्रहं बहुअन्तोत्यादि, एवं  
 धनुर्ज्याकर्षावतंसादयोऽप्याहृत्वादिविशेषविवक्षया न दृष्टाः ।  
 न दोषो न दूषणावहः, पुनरुक्तः शब्दोऽर्थो वा, इयं पुनरुक्तिः,  
 अलङ्कारगुण एव काव्यशोभाजनकत्वात्, अनुप्रासालङ्कार  
 इति केचित् ॥ १३७ ॥

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा ।

हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥ १३८ ॥

तत्रानुकम्पायामुदाहरति । हन्यत इति । अत्र हन्यत इति  
 पदं पुनःपुनरुक्तं सत् प्रसृतस्यानुकम्पनीयत्वस्यापनया कमपि  
 चमत्कारमावहन् काव्यशोभां जनयति । एवं विधेयानुवादादौ  
 ज्ञेयं, यथा 'उदेति सविता तामस्ताम एवास्तमेति चेत्यादि ॥  
 ॥ १३८ ॥

निर्णयार्थं प्रयुक्तानि संशयं जनयन्ति चेत् ।

वर्चांसि, दोष एवासौ संशय इति स्मृतः ॥ १३९ ॥

संशयं लक्षयति । निर्णयार्थमिति । निर्णयार्थं बोद्धव्यस्य  
 प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरनिश्चयाय, संशयार्थं प्रयुक्तस्य संशयजनकत्वे  
 तु न दूषणमित्यर्थे वक्ष्यते । संशयमुभयकोटिकज्ञानं, वर्चां-  
 सोति बहुवचनमविवक्षितम् एकपदस्य पदद्वयस्य वा संशय-

जनकत्वे दूषणसम्भवात्, चेदित्यत्र यदिति पाठः सम्यक्, संशयः संशयत्वाख्यः, अयमपि दोषः शब्दगतोऽर्थगतश्च, यत्र संशयोत्पत्त्यान्वयबोधो विहन्यते तत्र शब्दगतः यथोदाहरिष्यते, यत्र त्वर्थप्रतीत्यनन्तरं वक्त्राद्यनिश्चयस्तत्रार्थगतः यथा 'मात्सर्य-मुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु । सेव्या नित-म्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' । अत्रप्रकर-णाद्यभावात् शान्तशृङ्गारिणाः को वक्त्रेति संशयः ॥ १३८ ॥

मनोरथप्रियालोकरसलोलेश्णो सखि ! ।

आराद्वृत्तिरसौ माता न चमा द्रष्टुमीदृशम् ॥ १४० ॥

शब्दगतं संशयमुदाहरति । मनोरथेति । जारं मानुरागं पश्यन्तीं मातुः परिज्ञानशङ्कया च चकितां प्रति सख्या उक्तिरियं । मनोरथप्रियोऽभिलषितप्रेयान् जार इत्यर्थः, तस्या-लोके दर्शने रमेनानुरागेण लोले व्यापृते ईक्षणे यस्याः सा तथा तत्सम्बाधनम्, आरादिति अत्र किम् 'आरादूरसमीप-योरित्यभिधानादाराद्वृत्तिर्दूरवर्त्तिनी ते माता विषयविप्र-कर्षादीदृशं त्वदीयजारदर्शनरूपकर्षं द्रष्टुं न चमा शक्ना तत् प्रवर्त्तस्वेत्यर्थः, किम्वा समीपवर्त्तिनी ईदृशमसमञ्जसं कर्षं द्रष्टुं न चमा तन्निवर्त्तस्वेत्यर्थः ! इत्येकतरनिश्चयाभावात् संशयः, अयञ्च मानार्थशब्दप्रयोगनिबन्धन इति शब्दगतः, अर्थगतस्तु पूर्व्वं दर्शितः ॥ १४० ॥

ईदृशं संशयायैव यदि वातु प्रयुज्यते ।

स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥ १४१ ॥

अस्य कश्चिद्गुणत्वमपि दर्शयति । ईदृशमिति । यदि वा तु ईदृशं संशयजनकमपि वाक्यं संशयायैव संशयप्रतिपादनमुद्दिश्यैव प्रयुज्यते तदा तदासौ संशयोऽलङ्कार एव शोभाजनक एव गुण एवेत्यर्थः संशय एव यदि प्रतिपाद्यमानतया विवक्षितः तदासौ गुण एवेत्यर्थः, एवञ्चाविवक्षितः संशयो दोषो विवक्षितस्तु गुण इत्यर्थः । तत् तस्योदाहरणं । वात्वित्यत्र जात्विति कश्चित्पाठः ॥ १४१ ॥

पश्याम्यनङ्गजातकलङ्कितां तामनिन्दिताम् ।

कालेनैव कठोरेण यस्तां किं नस्त्वदाशया ॥ १४२ ॥

पश्यामीति । नायकं प्रति दूत्या उक्तिरियं । अनङ्गः कामः तज्जघ्नातङ्गः पीडा तेन लङ्कितामाक्रान्तां तां कठोरेण निर्दयेन कालेन मृत्युनैव यस्तां पश्यामि त्वदाशया तव प्रत्याशया मोऽस्माकं किं, सा कामपीडया घ्रियते किं तव प्रत्याशयेत्यर्थः किं श्लोकस्यास्य प्रतिपाद्यः, किम्वा अनङ्गजातेनातङ्गेन लङ्किता या तङ्कितां तां कठोरेण दुःसहेन कालेनैव केवलं योऽप्यसमयेन यस्तां पीडितां पश्यामि त्वदाशया नः किं, तस्याः शारीरिकी कापि पीडा नास्ति किन्तु केवलं त्वामनासादयन्ती चिन्ताजागरणपरा योऽप्येव पीडयते इत्यर्थं प्रतिपाद्यः, इत्येष संशयः स च दूत्या विवक्षित इति गुण एव । किं नस्त्वदाशयेत्यत्र किन्तु त्वदाशयेति, किं नस्त्वदाशयेति च पुस्तकान्तरेषु पाठः ॥

॥ १४२ ॥

कामार्त्ता घर्मातप्तावेत्यनिश्चयकरं वचः ।

युवानमाकुलीकर्त्तुमिति दूत्याह नर्मणा ॥ १४३ ॥

अत्र संशयस्य विवक्षितत्वं प्रतिपादयति । कामार्त्तेति ।  
संशयस्य विवक्षितत्वे हेतुर्युवानमाकुलीकर्त्तुमिति, कामपीडां  
योऽपि पीडां वा बुद्ध्या नायकोऽयं व्याकुलीभूय तत्समीपं गमि-  
ष्यतीति विविच्य दूत्या तादृशं संशयजनकवाक्यं प्रयुक्तमिति  
भावः, एतदुपलक्षणं व्याजस्तुतिपर्यवसानादावपि संशयस्य गु-  
णत्वं यथा 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।  
विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम्' । अत्राद्यो वा  
दरिद्रो वा वक्रंति संशयः वाक्यस्य च व्याजस्तुतौ पर्यवसानम् ॥  
॥ १४३ ॥

उद्देशानुगुणोऽर्थानामनूद्देशो न चेत् कृतः ।

अपक्रमाभिधानं तं दोषमाचक्षते बुधाः ॥ १४४ ॥

अपक्रमं लक्षयति । उद्देशानुगुण इति । अर्थानां प्रथम-  
मुपन्यास उद्देशः तस्यानुगुणोऽनुरूपः सम्बन्धयोग्य इत्यर्थः  
अनूद्देशः पश्चादुद्देशः क्रमः स चालङ्कारतया पूर्वमुक्तः, स चेन्न  
कृतस्तदा तं कमलङ्काररूपत्वादपक्रमाभिधानं दोषं बुधाः  
कथयन्ति, क्रमिकाणां क्रमिकैरेवान्वय इति नियमः तत्राङ्-  
नादन्वयबोधमान्यर्थमत्र दूषकतावोजं बोध्यम्, अतएवास्या-  
त्यन्तपरिहार्यमध्ये गणनं, नबौरङ्गीकृतयोः शब्दार्थदोषयोर-  
कमत्वदुष्कमत्वयोस्तु न शब्दबोधविघटकत्वमिति नात्यन्तपरि-

हार्यता यथा 'समय एव करोति बलावलं प्रणिगदन्त इतीव  
शरीरिणाम् । शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणी-  
यताम्' इति । अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरं हि इतिशब्दः  
प्रयुज्यत इति क्रमः, अत्र तल्लङ्घनादक्रमता सा च व्यवहित-  
योजनयान्वयसम्भवेन नात्यन्तपरिहार्या । एवं 'देहि मे वा-  
जिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसमिति । उक्तं हि वस्तु प्रथमं  
याचनीयं तद्दाने दातुरशक्तौ ततो न्यूनं याचनीयमिति क्रमः  
स चात्र गजेन्द्रान्यूनस्य वाजिनः प्रथमयाचनालङ्घित इति दू-  
ष्कमता सा चान्वयस्य निर्बाधप्रवृत्त्या नात्यन्तपरिहार्या ॥

॥ १४४ ॥

स्थितिनिर्माणसंहारहेतवो जगताममी ।

शम्भुनारायणाम्भोजयोनयः पालयन्तु वः ॥ १४५ ॥

अपक्रममुदाहरति । स्थितीति । अत्र प्रथममुद्दिष्टानां  
स्थितिनिर्माणसंहाराणां हेतुत्वेनान्वययोग्या नारायणाम्भो-  
जयोनिशम्भव एव क्रमेणानुद्दिष्टमुचिता इति तादृशोपन्यास-  
क्रमातिक्रमादपक्रमता । न चात्तरोत्तरस्य बलत्वात् परभावा-  
युक्त इति वाच्यं क्रमान्वयानुरोधेनान्वययोग्यस्वरूपस्वरविण्वा-  
दिपदोपन्यासस्यैव कवेरौचित्यात् तादृशपदानाञ्च मौलभ्यात्

॥ १४५ ॥

यत्नः सम्बन्धविज्ञानहेतुकोऽपि कृतेऽयदि ।

क्रमलङ्घनमप्याहुः स्वरयो नैव दूषणम् ॥ १४६ ॥



अस्यादोषत्वमपि दर्शयति । यत्र इति । सम्बन्धः कस्मिं-  
श्चिदेकस्मिन् पदार्थे अक्रमिकयोरप्युभयोः सम्बन्धित्वं तस्य  
विज्ञानं विशेषेण ज्ञानं तद्धेतुर्यस्य तादृशो यत्रः प्रयासो  
यद्यपि कविना कृतः स्यात्तदा क्रमलङ्घनमपि दूषणं नैव भव-  
तीति सूत्रय आङ्गित्यन्वयः, एकतरान्वयिनि पदार्थे अक्र-  
मिकस्याप्यपरस्यान्वयित्वप्रतिपादनाय यतमानेन कविना यदि  
क्रमातिक्रमेणोपन्यस्यते तदा स न दोष इत्यर्थः, न पुनरस्य  
गुणत्वं सविशेषशोभाजनकत्वाभावादिति बोध्यम् ॥ १४६ ॥

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु ।

आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यमः क्षणिकज्वरः ॥ १४७ ॥

उदाहरति । बन्धुत्याग इति । आद्यन्तौ बन्धुत्यागदेश-  
त्यागौ, आयतक्लेशौ दीर्घकालं क्लेशानुभावकौ, मध्यमस्तनुत्यागः,  
क्षणिकज्वरः अल्पक्षणमेव सन्तापजनकः, वरं तनुत्यागः श्रे-  
यान् न पुनर्बन्धुत्यागोदेशत्यागो वेत्यर्थः । अत्रादिपदोपात्त  
बन्धुत्यागान्वयिन्यायतक्लेशत्वं तदुत्तरोद्दिष्टस्य तनुत्यागस्यान्वया-  
योगात् तं त्रिहाय योग्यत्वात्तदन्तस्य देशत्यागस्यान्वयित्वं  
प्रतिपादितमिति क्रमलङ्घनं युज्यते ॥ १४७ ॥

शब्दहीनमनानक्षयनक्षयनक्षणपट्टति ।

पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ १४८ ॥

शब्दहीनं लक्षयति । शब्दहीनमिति । लक्ष्यं मजातीय-  
मुदाहरणान्तरं तथा लक्षणमनुशासनं सूत्रं कोषो धातुपा-

ठश्च, तद्रूपा पद्धतिर्वर्त्म प्रयोगनियामक इत्यर्थः, अनालक्ष्या  
 अपरिदृश्या लक्ष्यलक्षणपद्धतिर्यस्य तादृशः पदप्रयोगः कृद-  
 भिहितभावत्वात् प्रयुज्यमानं पदमित्यर्थः शब्दहीनं शब्द-  
 हीनत्वाख्यदोषवान्, यस्य सजातीयप्रयोगान्तरं केनापि प्रयुक्तं न  
 दृश्यते नापि निष्पादकमनुशासनं, तथाविधपदप्रयोगः शब्द-  
 हीन इत्यर्थः, सत्यप्यनुशासनाभावे बह्वभिः प्रयुज्यमानस्य प्रयोगो  
 न दूषणमावहति यथा 'चेतः परं वलति शैलवनस्यलोष्वित्यादि'  
 अत्र वलतीति सञ्चलनार्थवलधातोः परस्मैपदित्वमनुशासना-  
 सिद्धमपि बह्वभिः प्रयुक्तमिति तत्प्रयुञ्जानः कविर्नापराध्यति  
 इत्यतो लक्ष्यग्याप्यनानलक्ष्यत्वं दूषणवोजत्वेनोक्तं । तथा अशि-  
 ष्टेष्टः यश्च पदप्रयोगः शिष्टानामिष्टो न भवति सत्यप्यनुशासने  
 तत्पदं यदि तत्तस्मिन्नादिमत्त्वेन तत्तदर्थकत्वेन वा कदापि  
 शिष्टैर्न प्रयुक्तदा तत्प्रयोगोऽपि दोषायेत्यर्थः यथा 'दैवतानि  
 पुंसि वेति कोषे सत्यपि पुंसिङ्गोदैवतशब्दः, हन् हिंसागत्योगिति  
 गणोक्तावपि गमनार्थाहन्धातुश्च न केनापि शिष्टेन प्रयुक्तः,  
 इत्यश्च विशेषणद्वयेनान्यैरुक्तानाममाधुत्वाप्रयुक्तत्वासमर्थत्वाख्य-  
 दोषाणां स्वमते शब्दहीनपदेन संयहः, ततश्च शब्दोही-  
 नोऽपकृष्टो यत्रेति व्युत्पत्तिमिद्धं शब्दहीनमितिपदं, अपकृष्ट-  
 त्वश्चासाधुत्वादिकं । किञ्चानुशासनविरुद्धोऽपि शिष्टेष्टो न  
 दोषायत्याह शिष्टेष्टस्तु न दुष्यतीति, अयम्भावः शिष्टप्रयुक्ताना-  
 मेव पदानां व्युत्पत्त्यर्थमनुशासनं पाणिन्यादिभिः कृतं न पुन-  
 रनुशासनं दृष्ट्वा शिष्टैकानि प्रयुक्तानि तेषां नित्यत्वात्, यदुक्तं

गोथीचन्द्रेण 'नित्यानां पदानां प्रतिपत्त्यर्थं प्रकृतिप्रत्ययविभा-  
गपरिकल्पनं शास्त्रेण क्रियत इति । तस्मादनुशासनमिद्वयस्य  
तद्विरुद्धस्य वा शिष्टेष्टस्य प्रयोगो न दोषाय तद्विपरीतस्तु दो-  
षायेति । यद्वा अनालक्ष्या लक्ष्यलक्षणपद्धतिर्लक्ष्यलक्षणनि-  
यमो यत्र सः, अनेन लक्षणेनेदमेव लक्ष्यं सम्पद्यते अस्य  
लक्ष्यस्येदमेव लक्षणमित्येवं रूपो नियमो यत्र न लक्ष्यते ता-  
दृशपदप्रयोगः शब्दहीन इत्यर्थः एतेनासाधुत्वस्य दोषत्वमुक्तं  
यदुक्तमाग्नेये 'शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्वधाः' इति, तथा  
अशिष्टेष्टः अशिष्टैः शिष्टभिन्नैर्ग्रामिकजनैरिष्टोऽपि शब्दहीन  
इत्यर्थः अनेन साम्यताया दोषत्वमुक्तं, शिष्टेष्टस्तु न दुष्यतीति तु  
प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४८ ॥

अवते भवते वाङ्मर्महीमर्षवशक्करोम् ।

महाराजन्नजिज्ञासा, नास्तीत्यासां गिरां रसः ॥ १४९ ॥

उदाहरति । अवते इति । हे महाराजन् भवते भवत-  
स्त्वव वाङ्मः, अर्षवः शक्करो मेखला यस्यास्तां सार्षवामित्यर्थः  
'शक्करो च्छन्दसो भेदे नदीमेखलथोरपि' इति मेदिनी ।  
शक्करीति सरफः पाठः प्राचीनमेदिनीपुस्तके दृश्यते । मही-  
मवते रक्षति, अस्मिन् विषये संशयाभावाज्जिज्ञासा नास्ति  
सत्यमेवैतदित्यर्थः, इत्यासामोदृशीनां गिरां रसः प्रकृते ष्ट-  
कारानुप्राणितो राजविषयरतिभावो नास्ति सन्नपि नास्वाद्यते  
पदानामसाधुत्वप्रतिपत्त्या तत्पूर्वभाविनोऽन्वयबोधस्याभावात्,

तथाहि अवते इत्यत्रात्मनेपदं, भवते इत्यत्र षष्ठीविषये च-  
तुर्थी, अर्षवशक्करीत्यत्र कप्रत्ययाभावः, महाराजन्नित्यत्रापि  
टप्रत्ययाभावः, सर्वमेतदनुशासनविरुद्धं, किञ्च शक्करीशब्दो  
मेखलायां न केनापि प्रयुक्त इत्यप्रयुक्तः, तदिदं सर्वं प्रयुज्यमानं  
बोद्धुंबुद्धिमान्यर्थं जनयदन्वयबाधं विघटयति ॥ १४८ ॥

दक्षिणाद्रेरुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।

कुरुते ललिताधूतप्रबालाङ्कुरशोभिनः ॥ १५० ॥

इत्यादिशास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम् ।

अपभाषणवद्भानि नच सौभाग्यमुज्झति ॥ १५१ ॥

शिष्टेष्टसु न दुष्यतीत्यस्य विषयं दर्शयति । दक्षिणाद्रेरिति ।  
मलयपर्वतस्य वायुकम्पितचूतवनं कश्चिद्वर्णयति । दक्षि-  
णाद्रेरुपसरन् मलयाचलमिममुपगच्छन्, ललितं मन्दं यथा  
तथा आधूतैः प्रबालाङ्कुरैः शोभिनः । इत्यादीति । इत्यादि  
दक्षिणाद्रेरित्यादिपदं, शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम्, आ-  
लस्येमानुशासनशास्त्ररहस्यमनालोचयताम्, अपभाषणवदप-  
शब्दवत्, नच सौभाग्यमुज्झति वस्तुतः शिष्टेष्टत्वात् सौष्टवं न  
त्यजति, अयमर्थः कर्माणि द्वितीयेत्यनुशासनादुपसरणक्रिया  
कर्मातया दक्षिणाद्रिशब्दस्य द्वितीयान्तता युज्यते किन्तु तद-  
भावेऽपि नेदं दुष्टं शिष्टानां सर्वत्र सम्बन्धव्यन्तताया अदुष्ट-  
त्वाभ्युपगमात्, तथा चोक्तं, कर्मादिविषयेऽप्यविवक्षिते कर्मादौ  
सम्बन्धविवक्षायां षष्ठीति ॥ १५० ॥ १५१ ॥

श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।

तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्देजनं, यथा ॥ १५२ ॥

अथ यतिनिरूपणपूर्वकं यतिभ्रष्टं लक्षयति । श्लोकेष्विति । श्लोकेषु नियतं कन्दःशास्त्रैर्नियमितं स्थानं यस्य तादृशं पदस्य सुवन्तस्य तिङन्तस्य वा क्तेदं विरामं यतिं विदुः जिह्वेष्टविश्रामस्थानत्वेन यत्र कन्दःशास्त्रैः पदसमाप्तिरूपदिष्टा तां यतिं जानन्ति पदान्ते जिह्वाया विश्रामो यतिरिति निष्कृष्टार्थः । उक्तञ्च 'यतिर्जिह्वेष्टविश्रामस्थानं कविभिरुच्यते इति । तदपेतं तादृशयतिशून्यं वचनं यतिभ्रष्टं, यत्र पदमध्ये जिह्वा विश्राम्यति तद्यतिभ्रष्टत्वाख्यदोषवदित्यर्थः, दोषत्वे हेतुः यतः श्रवणस्योद्देजनं दुःखदं श्रवणोद्देजकत्वादस्यात्यन्तपरिहार्यत्वमित्यर्थः । श्लोकेष्वित्यनेन गद्येषु यतिर्नादरणीयेति सूचितम् ॥ १५२ ॥

स्त्रीणां सङ्गीतविधिमयमादित्यवंशेनरेन्द्रः

पश्यत्यक्लिष्टरसमिह शिष्टैरमेत्यादि दुष्टम् ।

कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्यन्

वश्यामुर्वीं वहति नृप इत्यस्ति चैवं प्रयोगः ॥ १५३ ॥

स्त्रीणामिति । आदित्यवंशोऽयं कश्चिन्नरेन्द्रः शिष्टैः सामाजिकैरमा सह अक्लिष्टाः पुष्कला रसा यत्र तादृशं स्त्रीणां सङ्गीतविधिं सङ्गीतसहितं विधानं ग्राह्यमित्यर्थः, इह पश्यतीत्यन्वयः । इत्यादि दुष्टमिति सप्तदशाक्षरं मन्दाक्रान्तावृत्त-

मिदम्, अत्र प्रथमं चतुर्थे ततः षष्ठे ततश्च सप्तमे यतिनिर्वेष्ट्या  
 यद्गुणं 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्षी भनौ तौ गयुग्ममिति,  
 प्रकृते तु चतुर्थादिवर्षानां पदमध्यपातित्वाद्यतिभ्रष्टत्वम् । अस्य  
 क्वचिददोषत्वमप्याह कार्याकार्याणीति अविकलानि सकला-  
 नि, आगमेन नीतिशास्त्रादिना, वक्ष्यामायत्तां, वंश्यामिति  
 पाठे कुलपरम्परागताम् । इत्यस्ति चैवं प्रयोग इति एवं प्रया-  
 गो न यतिभ्रष्ट इत्यर्थः ॥ १५७ ॥

सुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।

तथा सन्धिविकारान्तपदमेवेति वर्ण्यते ॥ १५४ ॥

ननु स्त्रीणां सङ्गीतविधीत्यादौ यतिभ्रंशः कार्याकार्या-  
 ष्ययमित्यादौ तदभावः कथमेतत् उभयत्रापि पदमध्य एव  
 विश्रामादित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुपपादयति । सुप्ते इति । पदस्य  
 सुवन्तस्य तिङन्तस्य वा अन्ते अन्तवर्त्ते सुप्ते सति यथा शिष्ट-  
 स्यावशिष्टभागस्य पदत्वं निश्चितं वारि पच इत्यादौ विभक्ति-  
 लोपे जातेऽवशिष्टस्य प्रकृतिभागस्य यथा पदत्वं निर्विवादं सर्व-  
 रण्यङ्गीकृतमित्यर्थः । अत्र पदान्ते इत्येकत्वमविवक्षितं राजे-  
 त्यादौ द्वयोरपि लोपेऽवशिष्टस्य राजेत्यादिभागस्य पदत्वान-  
 पायात् । तथा सन्धिविकारान्तं सन्धिः स्वरद्वयसन्धानं तत्कृते  
 विकारो दीर्घयलाद्यादेशः तादृशविकारयुक्तव्यञ्जनमित्यर्थः सा-  
 ऽन्त यस्य तत् पदमेव पदमध्यमपि पदान्त एवेति वर्ण्यते कृन्दा-  
 शैरङ्गीक्रियत इत्यन्वयः पदमध्यंऽपि तस्मिन् निवेष्टिता यति-

न दोषायेत्यर्थः, एतदेवोक्तं छन्दोगोविन्दे गङ्गादासेन 'कश्चि-  
च्छन्दस्यास्ते यतिरभिहितः पूर्वकृतिभिः पदान्ते सा शोभां  
अयति पदमध्ये त्यजति च । पुनस्तत्रैवामौ स्वरविहितसन्धिः  
अयति तां यथा 'कृष्णः पुष्णात्वतुलमहिमा मां करुणया' इति ।  
प्रकृते च कार्याकार्याण्ययमित्यादौ श्येत्यादिस्वरसन्धिकृत-  
यकारादिविकारवद्वर्णान्ते र्या इत्यादौ पदमध्येऽपि यतिर्न  
दोषाय, एतद्विपरीते स्त्रीणां सङ्गीतेत्यादौ तु दोषायैवेति  
दोषादोषयोर्विषयविभागः ॥ १५४ ॥

तथापि कटु कर्षाणां कवयो न प्रयुञ्जते ।

ध्वजिनी तस्य राज्ञः केतुदस्तजलदेत्यदः ॥ १५५ ॥

स्वरसन्धिकृतप्रतिप्रसवस्थाप्यसाम्बन्धिकत्वं दर्शयति । तथा-  
पीति । तथापि स्वरसन्धिना पदमध्यस्य पदान्तताभ्युपगमेऽपि ।  
ध्वजिनी मेना, केतवो ध्वजवंशास्तैरुदस्ता अत्युच्यत्वादुत्सिप्रा  
जलदा मेघा यया सा । इत्यादौ ध्वजिनोत्यादिकं यतः कर्षा-  
णां कटु दःखदम् अतः कवयः प्रतिप्रसृतमपि न प्रयुञ्जते  
कटुकर्षं तदिति पाठे कटवः सपीडाः कर्षा यत्र तदिति  
वज्रप्रोक्षिः, अत्र केतुदस्तेत्यत्र तू इति स्वरसन्धिकार्यदीर्घ-  
युक्तं तदन्तमपि के इत्येतद्यतिस्थानतया श्रोतृणां कर्षा-  
दन्तदं भवति, इत्यत्र सत्यपि स्वरसन्धौ पादान्ते पदमध्य-  
यतिर्दोषाय पादमध्ये तु न तथा प्रकृते के इत्यस्य पादान्तत्व-  
मिति बोध्यम् ॥ १५५ ॥

वर्षानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः ।

तत्र तद्भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ॥ १५६ ॥

भिन्नवृत्तं लक्षयति । वर्षानामिति । अत्र यत्रेत्यध्याहार्यम्  
उत्तरवाक्ये तत्रेत्युक्तेः, वर्षानामिति बहुवचनमविवक्षितं, यत्र पद्ये  
एकस्य द्वयोस्त्रिप्रभृतीनाम्वा वर्षानां न्यूनता आधिक्यम्वा,  
यदा वर्षानामिति निर्द्धारणे षष्ठी वृत्तघटकवर्षानां मध्ये कस्य-  
चिन्न्यूनत्वमधिकत्वम्वा, तथा यत्र गुरुलघ्वयथास्थितिः गुरो-  
लघोर्व्या वर्षस्यायथास्थानं सन्निवेशः तत्र पद्ये तद्भिन्नं भग्नं  
वृत्तं क्वन्द इति वृत्तभङ्गाख्योदोषः यदा तदाक्यं भिन्नं वृत्तं  
यत्रैति वृत्तभङ्गाख्योदोषवत् स्यादित्यन्वयः, एष भिन्नवृत्त-  
त्वाख्यः, सुनिन्दित इति काव्यकर्तृक्कन्दोऽनभिज्ञत्वेनापहमनो-  
यत्वख्यापनादिति भावः । इतवृत्तत्वमङ्गयान्यैरुक्तो लक्षणा-  
नुसरणेऽप्यश्रव्यत्वरूपः प्रकृतरसाननुगुणत्वरूपश्च दोषो ना-  
त्यन्तमिन्दित इत्युपेक्षितः । यथा 'इत्तसततमेतस्या इदयं  
भिन्ने मनोभवः कुपितः, अत्र भगणसगणौ कन्दोलक्षणकृद्भि-  
रनिषिद्धनैरन्तर्यामिवेशावपि तथा निवेश्यमानौ किञ्चि-  
च्छ्रुतिदुःखमावहतः, एवं 'सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसा-  
न्तरविञ्जनो वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियारदनच्छ-  
दात् । अत्रान्यत् स्वादु स्यादिति श्रुतिकटु । अयि मयि मा-  
निमि माकुरु मानं, वृत्तमिदं हास्यरमस्यैवानुकूलमिति प्रकृता  
ननुगुणम् ॥ १५६ ॥



इन्दुपादाः शिशिराः स्पृशन्तीत्यूनवर्षता ।

सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणीत्यधिकाक्षरम् ॥ १५७ ॥

क्रमेणोदाहरति । इन्दुपादा इति । अत्र प्रथमपादे पा-  
दारम्भस्य प्राक् इन्दुपादा इत्यनन्तरम् वा वर्ष एकोन्यूनः, द्विती-  
यपादे च नवाक्षरत्वादेकोवर्षोऽधिकः ॥ १५७ ॥

कामेन वाणा निशिता विमुक्ता

मृगेक्षणास्वित्ययथागुरुत्वम् ।

स्मरस्य वाणा निशिताः पतन्ति

वामेक्षणास्वित्ययथालघुत्वम् ॥ १५८ ॥

कामेनेति । अत्र पूर्वाद्धे मृगेक्षणास्वित्यादिश्रवणादुपेन्द्र-  
वञ्चाख्येऽस्मिन् वृत्ते 'उपेन्द्रवञ्चा जतजास्ततोगाविति लक्षणा-  
ञ्जगणस्य प्रथमं निवेशनीयतया कामेनेत्यादि प्रथमपादे का  
इति गुरुवर्षोऽयथास्थानं निवेशितः । एवमुत्तराद्धे वामेक्षणा-  
स्वित्यादिश्रवणादिन्द्रवञ्चाख्येऽस्मिन् वृत्ते 'स्यादिन्द्रवञ्चा ततजा-  
स्ततोगाविति लक्षणात्तगणस्य प्रथमं निवेशनीयतया स्मरस्ये-  
त्यादिपादे स्मेतिलघुवर्षोऽयथानिवेशितः । अत्र द्वितीयादि-  
पादत्रयस्य लघ्वादित्वेन गुर्वादित्वेन वा साम्यमभिप्रेत्य दू-  
षणद्वयप्रदर्शनमिदम् अन्यथा यथाश्रुते अयथागुरुत्वोदाह-  
रणेऽयथालघुत्वमथालघुत्वोदाहरणे चायथागुरुत्वमपि वक्तुं  
शक्येत पादद्वयादौ द्वयोरपि गुरुलघ्वोः सत्त्वादिति ध्येयम्,

स्मरस्येत्यत्र स्मरेणेति पाठे निश्चिता इति क्रियापेक्षया कर्तृत्वम् ।  
 दूषणद्वयस्येदम् इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः संमिश्रणेनोपजात्याख्यं  
 कृन्दोऽन्तरं ये न मन्यन्ते तेषां मत एव श्रेयम्, उपजात्यभ्युपगमे  
 तु नैतत्, वस्तुतस्तु युज्यत एव तदभ्युपगमः 'अस्त्युत्तरस्यां  
 दिशि देवतात्मा हिमास्येनाम नगाधिराज इत्यादिमहाकवि-  
 प्रयोगाणामुपजातिवृत्तवतां भूरिशोदर्शनात्, तस्मात् कामे-  
 नेत्यत्र स्वभुवा इति स्मरस्येत्यत्र च मदनेति पाठो ज्ञातव्यः तत्र  
 पूर्वत्र द्वितीयस्य गुरुत्वमुत्तरत्र द्वितीयस्य लघुत्वमयथाप्रयुक्त-  
 मिति दूषणसम्भवः, किञ्चाप्राप्तगुरुभावान्तलघुत्वमप्ययथालघुत्वं  
 बोध्यं यथा 'विकसितमहकारभारहारिपरिमल एष समाग-  
 तो वसन्त' इत्यादौ भारहारीत्यत्र रि इत्यस्य लघोः प्रथमपा-  
 दान्तत्वाद्गुरुत्वाभाव इति वृत्तभेदः, यत्तु पादान्तलघोर्गुरुभाव  
 उक्तस्तत् सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयं प्रथमद्वितीयपाद-  
 विषयन्तु इन्द्रवज्रावसन्तिसलकादावेवेति श्रेयम् ॥ १५८ ॥

न संहितां विवक्षामोत्यसन्धानं पदेषु यत् ।

तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादि हेतुकम् ॥ १५९ ॥

विसन्धिकं लक्षयति । नेति । संहितां वर्णयोः सन्धिं न  
 विवक्षामि सत्यप्यनुशासनं न प्रयोक्तुमिच्छामि इतीच्छया पदेषु  
 पदघटकवर्षेषु यदसन्धानं नास्ति सन्धानं तत्तत्सूत्रोक्तकार्येण  
 परस्परसंयोजनं यत्र वाक्ये तदाक्यं विसन्धीति निर्दिष्टं विस-  
 न्धित्वाख्यदोषवत् कथितमित्यन्वयः, एवञ्च विगतः सन्धिर्यत्रेति

सङ्ग्रीहिणा विसन्धीति पदं वाक्यविशेषणमन्यथा क्लीवत्वा-  
नुपपत्तेरिति ज्ञेयम्, न विवचामीति एतेन सन्धिस्तु पुरुषे-  
च्छेयेति सैवान्यत्र विभाषित इत्यादिकमन्यैरुक्तं प्रत्युक्तम् ।  
इच्छाकृतस्यैव सन्धिविशेषस्य दोषत्वं स्पष्टयति न प्रगृह्यादि-  
हेतुकमिति अनुशासनबलेनैव यत्र सन्धिर्निषिद्धते तत्प्रगृह्यम्  
आदिना अनुकरणादिपरिग्रहः, प्रगृह्यादिजन्यः सन्धिविशे-  
षस्तु न दोष इत्यर्थः, अयञ्च दोषाभावः सकृत्प्रयोगे, असकृत्प्र-  
योगे तु अवर्णाद्वेजकत्वादोष एव यथा 'दक्षिते उत्पले एते  
अक्षिणी अञ्जनाङ्किते इत्यादि । विसन्धिपदेन चान्यैरुक्तं सन्धौ  
कष्टत्वमश्लोत्वञ्च नात्यन्तदूषकमित्युपेक्षितं यथा 'उर्व्यामावत्र  
तर्व्यालो मर्व्वन्ते चार्ष्ववस्थितिः । नात्रर्ज्जु युज्यते गन्तुं शिरोनमय  
तन्मनाक्' । अत्र सन्धौ कष्टत्वं । 'वेगादुडुय गगने चलण्डामर-  
चेष्टितः । अयमुत्पतते पत्री तदत्रैव हचिङ्कुह' अत्र लण्डेति  
जुगुप्साव्यञ्जकमश्लोत्वं, चिङ्कु इति ब्रीडाव्यञ्जकम् ॥ १५८ ॥

मन्दानिलेन चलता अङ्गनागण्डमण्डले ।

लुप्तमुद्गेद घर्म्माम्भो नभस्यस्मदपुष्यपि ॥ १६० ॥

विवचाकृतं सन्धिविशेषमुदाहरति । मन्दानिलेनेति । न-  
भस्याकाशे चलता मन्दानिलेन अङ्गनाया गण्डमण्डले उद्गेदि  
उद्गिम्नं घर्म्माम्भोलुप्तं तथा अस्मदपुष्यपुद्गेदि घर्म्माम्भो लुप्तमि-  
त्यन्वयः । अस्मदपुष्यपीत्यत्र अस्मन्नमस्यपीति पाठो न सम्यक् ।  
अत्र वृत्तभङ्गभयमात्रेण प्रथमपादान्तस्याकारस्य द्वितीयपा-  
दादिस्थेनाकारेण सह सन्धिकार्यदोषाभावो न कृतः ॥ १६० ॥

मानेर्धे इह शीर्येते स्त्रीणां हिमच्छतौ प्रिये ।

आसु रात्रिष्विति प्राञ्चैराम्नातं व्यस्तमोदशम् ॥ १६१ ॥

प्रगृह्यादिहेतुकत्वेन प्रतिप्रसृतं सन्धिविशेषं दर्शयति । मानेर्धे इति । मानः प्रणयकोपः ईर्ष्या नायकापराधकृतकापः तयोर्द्वन्द्वः शीर्येते शीर्से भवतः हिमच्छतोरत्यन्तोद्दीपकत्वादिति भावः, प्रिये प्रियं प्रिति, आसु उपस्थितासु । इतोद्दृशं व्यस्तं सन्धिविशेषः प्राञ्चैरनुशासनकृद्भिराम्नातमुक्तं, तथाहि मानेर्धे इहेत्यत्र एकारस्य द्विवचनसिद्धत्वात् 'द्विवचनसिद्धानामीदृदेतामिति' सूत्रेण सन्धिकार्यायादेशः प्रतिषिद्धः, तथा हिमच्छतावित्यत्र च ऋद्धत्तोरको ह्रस्वस्येत्यनेन ऋकारस्य गुणोनिषिद्धः । मानेर्धे ईदृशी स्त्रीणां नास्तामिति क्वचित्पाठः क्वचिच्च आसु रात्रिष्वित्यत्र अमू आदिष्विति पाठः तत्र अमू आदिष्वित्यत्र द्विवचनसिद्धानामित्यादिना 'अदसोमादिन' इत्यनेन च सन्धिर्निषिद्धः ॥ १६१ ॥

देशोऽद्विनराद्गादिः कालोरात्रिन्दिवर्त्तवः ।

नृत्यगीतप्रमृतयः कला कामार्थसंश्रयाः ॥ १६२ ॥

चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लाकसंज्ञिता ।

हेतुविद्यात्मकेन्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥ १६३ ॥

तेषु तेष्वयथाकृढं यदि किञ्चित् प्रवर्त्तते ।

कवेः प्रमादाद्देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥ १६४ ॥

अथ देशादिनिरूपणपूर्वकं तद्विरोधं लक्षयति । देश इति । अद्रिवनराशादिदेशः अदिना समुद्रादिपरिग्रहः । रात्रिन्दिवर्त्तवः कालः बह्वचनान्मासादिपरिग्रहः, कामार्थ-संश्रयाः कामेनार्थलिप्तया वा क्रियमाणाः कामार्थरूपपुरुषार्थद्वयजनका इत्यर्थः नृत्यगोतप्रभृतयश्चतुःषष्टिसङ्ख्याकाः कला, ते च शैवतन्त्रोक्ताः यथा 'नृत्यं, गीतं, वाद्यं, नाट्यम्, आलेख्यं, विशेषकच्छेद्यं, तण्डुलकुम्भवनिविकाराः, पुष्पास्तरणं, दशनवसनाङ्गरागाः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकघातः, चित्रायोगाः, माल्यग्रथनविकल्पाः, शेखरापीडयोजनं, नेपथ्ययोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालं, कौचुमारयोगाः, हस्तलाघवं, चित्रशाकपूपभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनं, सूचीवापकर्माणि, सूत्रक्रीडा, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वचकयोगाः, पुस्तकवाचनं, नाटिकाख्यायिकादर्शनं, काव्यसमस्या-पूरणं, पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः, तर्ककर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागज्ञानम्, आकरज्ञानं, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुक्रसारिकाप्रलापनम्, उत्सादनम्, केशमार्जनकौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनं, स्लेच्छितकविकल्पाः, देशभाषाज्ञानं, पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानं, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पाद्यं, मानसी काव्यक्रिया, क्रियाविकल्पाः, क्लृप्तकयोगाः, अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानं, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषः, आकर्षक्रीडा,

बालकक्रोडनकानि, वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानं, वैजयिकी-  
नां विद्यानां ज्ञानं, वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानञ्चेति ॥  
॥ १६२ ॥

चराचराणां जङ्गमस्थावराणां भूतानां प्रवृत्तिवृत्तान्तो  
लोकसंज्ञिता लोकपदवाच्या । हेतुविद्या हेतुर्युक्तिः विदन्त्य-  
नया विद्या युक्तिमूलकशास्त्रमित्यर्थः दर्शनशास्त्रमिति यावत्  
तत्र प्रायशोयुक्त्युपन्यासेनैव सिद्धान्तस्थिरीकरणात्, दर्शनानि च  
तर्कादीनि सौगतादीनि च तदात्मकस्तद्रूपान्यायः । स्मृतयो म-  
न्वादिप्रणीतधर्मसंहितास्तत्संहिता श्रुतिर्वेद आगमः ॥ १६३ ॥

तेषु तेषु देशादिषु अयथाकृद्गमप्रसिद्धं कीकटेषु कुङ्कुमो-  
त्पत्तिः कश्मीरेषु गुवाकनारिलकेवनमित्येवंरूपं किञ्चित् किमपि  
यदि कवेर्वर्णयितुः प्रमादादनवधानात् प्रवर्तते वर्णितं भवति  
तदा एतत् एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यं देशादिविरोधीत्युच्यते  
इत्यन्वयः, अनेन चान्यैरुक्तयोः ख्यातविरुद्धताविद्याविरुद्धतयो-  
र्द्वयोरपि संघर्षः, तत्र देशकाललोकविरोधः ख्यातविरुद्धता,  
कलान्यायागमविरोधस्तु विद्याविरुद्धता, सस्मृतिश्रुतिरागम  
इत्यत्र च श्रुतिपदं कामशास्त्रकृषिशास्त्रगजतुरगखड्गादिलक्षण-  
शास्त्रादीनामुपलक्षकं तेन 'अधरे करजक्षतं मृगास्या' इत्यादौ  
अधरे करजक्षतवर्णनं कामशास्त्रविरुद्धमित्यागमविरोध एव  
एवं शास्त्रान्तरविरोधोऽप्युन्नेयः ॥ १६४ ॥

कर्पूरपादपामर्गसुरभिर्मलयानिनः ।

कलिङ्गवनसम्भूता मृगप्राया मतङ्गजाः ॥ १६५ ॥

देशादिविरोधानुद्देशक्रमेणोदाहरति । कर्पूरेति । मलयानिलो मलयपर्वतस्थो वातः, कर्पूरपादपामर्गसुरभिरिति कर्पूरपादपा हि चीनादिदेश एव जायन्ते नतु मलयाद्राविति तत्र तद्वर्णनं विरुद्धमित्यत्राद्रिरूपदेशविरोधः । कलिङ्गेति मृगप्रायाः अतिक्षुद्राः, मतङ्गजा हि कलिङ्गवनेषु न सम्भवन्तीति वनरूपदेशविरोधः ॥ १६५ ॥

चोलाः कालागुरुश्यामकावेरीतीरभूमयः ।

इति देशविरोधिन्या वाचः प्रस्थानमोटशम् ॥ १६६ ॥

राष्ट्ररूपदेशविरोधमुदाहरति । चोला इति । चोलाः कर्णाटान्तर्गतदेशविशेषाः संप्रति ताञ्जोरितिनाम्ना व्यपदिश्यन्ते तत्र चैका केवेरीनद्याः शाखा वर्तते तत्तीरभूमिषु कालागुरुश्यामा न जायन्ते इति राष्ट्ररूपदेशविरोधः । अत्र पुस्तकान्तरे 'चोलाः कालागुरुश्यामाः केरलाः कुङ्कुमारुणाः । न मेरुवनसंस्कन्नाः कावेरीतीरभूमयः' इति पाठान्तरं दृश्यते, तत्र कावेरीतीरभूमिपदेन कर्णाटराष्ट्रमुपलक्ष्यते तत्रैव कावेर्याः प्रादुर्भावात् ॥ १६६ ॥

पद्मिनी नक्तमन्निद्रा स्फुटत्यङ्गि कुमुदती ।

मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्द्दिनः ॥ १६७ ॥

श्रव्यहंसगिरो वर्षाः शरदो मत्तवर्हिणाः ।

हेमन्तो निर्मलादित्यः शिशिरः श्लाघ्यचन्दनः ॥ १६८ ॥

कालविरोधमुदाहरति । पद्मिनीति । दिवस एव पद्मिनी  
 उन्मिद्रा भवति नतु नक्षमिति रात्रिरूपकालविरोधः, कुमु-  
 दती रात्रावेव स्फुटति नतु दिवेति दिवारूपकालविरोधः ।  
 मधुरुत्फुल्लनिचुलइत्यादिवाक्यानि ऋतुरूपकालविरोधस्यादा-  
 हरणानि । मधुर्वसन्तः, निचुल्ला इज्जलवृत्ताः तेषामुत्फु-  
 ल्लता प्रावृष्येव भवति, निदाघो मेघदुर्दिन, इत्यनेन कदा-  
 चिन्निदाघादौ मेघदुर्दिनत्वसम्भवेऽपि ऋतुविशेषप्रतिनियत-  
 वस्तुन ऋत्वन्तरे वर्णनं दोष एवेति सूचितं, वस्तुतस्तु मृच्छक-  
 टिकादावाकालिकदुर्दिनस्यापि वर्णनात् 'निदाघो हिमजाद्य-  
 कृदित्येवात्र पाठो ज्ञेयः निदाघे हिमजाद्यस्यात्यन्तासम्भवात्,  
 अथेति हंसगिरां अथत्वं हि शरत्स्वेव नतु वर्षास्त्विति वि-  
 रोधः, शरद इति वर्हिणां मत्तता हि वर्षास्वेव नतु शरत्सु,  
 हेमन्त इति निर्मला हिमावरणापगमेन सुप्रकाश आदित्या  
 यत्र सः हेमन्ते आदित्यमण्डलस्य हिमावरणशून्यता निरुद्धा,  
 शिशिर इति श्लाघ्यमभ्यर्थनीयं चन्दनं चन्दनद्रवो यत्र सः  
 निदाघ एव शैत्यार्थं चन्दनद्रवस्यादर इति शिशिरे तद्वर्णनं  
 विरुद्धम्, इत्यमृतुषट्कविरोधा दर्शिताः ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

इति कालविरोधस्य दर्शिता गतिरीदृशी ।

मार्गः कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ॥ १६९ ॥

कालविरोधमुपसंहरन् कलाविरोधमुदाहर्तुमाह । इती-  
 ति । गतिः प्रकारः, ईदृशीति एवरूपा अन्येऽपि कालविरोधा



ज्ञातव्या इत्यर्थः । कलाविरोधस्य मार्गः प्रकारो मनागु-  
द्दिश्यते चतुःषष्टिविधायाः कलाया विरोधस्य कार्त्स्न्येन प्रद-  
र्शनं ग्रन्थबाहुल्यकरमिति दिग्दर्शनार्थं किञ्चिदेव दर्शयत  
इत्यर्थः ॥ १६८ ॥

वीरशृङ्गारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोधविस्मयौ ।

पूर्वसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः प्रवर्तते ॥ १७० ॥

कलासु नाय्यस्यैव मन्तोषातिशयजनकत्वेनाभ्यर्चितत्वात्तद्वि-  
रोधमेव प्रथममुदाहरति । वीरेति । वीरशृङ्गारयोर्वीररस-  
शृङ्गाररसयोः, स्थायिनौ रमस्यारम्भावधिपर्यवसानान्तमुद्रिक-  
तयास्वादमूलत्वेन स्थिरतया वर्तमानत्वात् स्थायिपदवाच्यौ तदुक्तं  
'अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः । आस्वादाङ्कुर-  
कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मत' इति रसावस्थः परं भावः  
स्थायितां प्रतिपद्यत इति च । क्रोधः 'प्रतिकूलेषु तैत्तण्यस्याव-  
बोधः क्रोध इत्यत इत्युक्तलक्षणः, विस्मयः 'विविधेषु पदार्थेषु  
लोकमीमातिवर्तिषु । विस्फारश्चेतसो यस्तु सविस्मय उदाहृत  
इत्युक्तलक्षणः, एतौ च भावौ रौद्राङ्कुरयोरेव रसयोः स्था-  
यितया नाय्यशास्त्रकारैर्भरतादिभिरुक्तौ नतु वीरशृङ्गारयोः  
तयोस्तु उत्साहो रतिश्च स्थायित्वेनोक्तौ तदत्र वीरशृङ्गारयो-  
र्व्यभिचारिरूपयोरेव क्रोधविस्मययोः स्थायित्वेन व्यपदेशो विरुद्धः,  
रमविवेकश्च भरतादिभिर्नाय्यशास्त्र एव कृत इति नाय्यरूप-  
कलाविरोधोऽयं, प्रकाशकताप्युक्तम् 'अष्टौ नाय्ये रसाः स्मृता

इति । गीतरूपकलाया अपि तथात्वात् तद्विरोधमणुदाहरति ।  
 पूर्वेति । पूर्णाः साकल्येन प्रयुक्ताः सप्त स्वरा निषादर्वभगा-  
 न्धारषड्जमध्यमधैवतपञ्चमाख्या यत्र सः भिन्नमार्गः भिन्नः  
 तत्कालनिषिद्धस्वरान्तरासङ्कीर्णा मार्गस्तत्कालविहित-  
 स्वरविशेषप्रयोगः सोऽयं प्रवर्तत इत्यन्वयः, भिन्नपदस्यास-  
 ङ्कीर्णाऽर्थस्य 'भिन्नकीकृत्य षड्जमिति माघश्लोकटीकायां भिन्न-  
 कीकृत्य तत्कालनिषिद्धस्वरासङ्कीर्णं कृतेति व्याचक्षाणेन मन्त्रि-  
 नाथेनापि स्फुटीकृतः, कालविशेषे स्वरविशेषप्रयोगनिषेधा  
 यथा भरते 'प्रभाते सुरतोनिन्द्य ऋषभः पञ्चमोऽपि च ।  
 जनयेत् प्रधनं ह्युक्ता पञ्चत्वं पञ्चमोऽपि च । पञ्चमस्य विशे-  
 षोऽयं कथितः पूर्वसुरिभिः । प्रगे प्रगीतो जनयेद्दशमस्य विप-  
 र्ययम्' इत्यादि । प्रकृते चामङ्गीर्णस्वरप्रयोगस्य पूर्वसप्तस्वरत्वं  
 विरुद्धम् ॥ १७० ॥

इत्थं कलाचतुःषष्टिविरोधः साधु नीयताम् ।

तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ॥ १७१ ॥

कलाविरोधमुपसंहरति । इत्यमिति । इत्यमनया दिशा,  
 साधु नीयतां सम्यगुन्नीयताम्, नाय्यगीतरूपयोः कलयोर्विरो-  
 धा यथा दर्शितः तथापरामामपि कलानां विरोधो ज्ञातव्य  
 इत्यर्थः, ननु कलास्तावच्चतुःषष्टिप्रकारास्तासां परिज्ञानं विना  
 तद्विरोधः कथं सुज्ञेय इत्यागङ्गाह तस्या इति । तस्याश्चतुः-  
 षष्टिविधायाः कलायाः, कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यतीति

अनन्तरं कलापरिच्छेदनामकं प्रबन्धं करिष्यामि तत्रैव कला-  
विवेकोच्चातव्य इत्यर्थः, एतेन कलापरिच्छेदोऽपि ग्रन्थकृता  
कृत इति प्रतिपद्यते ॥ १७१ ॥

आधूतकेशरोहस्ती, तीक्ष्णशृङ्गस्तुरङ्गमः ।

गुरुसारोऽयमेरण्डो, निःसारः खदिरद्रुमः ॥ १७२ ॥

लोकविरोधमुदाहरति । आधूतेति । हस्तिनः केशराः, तु-  
रङ्गमस्य च शृङ्गम्, एरण्डवृक्षस्य गुरुसारत्वं, खदिरद्रुमस्य च  
निःसारत्वमसम्भवीति लोकविरोधः, स च पूर्वार्द्धे चरभृतवृत्त-  
विषयः उत्तरार्द्धे त्वचरभृतवृत्तविषयः ॥ १७२ ॥

इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः ।

विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्शयते ॥ १७३ ॥

इतीति । लौकिक एवेति न तु दैशिकः कालिकादिको वेत्यर्थः,  
सर्वगर्हित इति देशादिविरोधापेक्षया लोकविरुद्धवर्णनं वर्ण-  
यितुर्नितान्तमनभिज्ञत्वं ख्यापयतीति तत्र सर्वथा कविना सा-  
वधानेन भवितव्यमिति भावः । न्यायविरोधमुदाहरन् प्रति-  
जानीते । विरोध इति । यद्यपि हेतुविद्यात्मकोन्याय इत्य-  
नेन न्यायस्य हेतुविद्यात्मकत्वं पूर्वमेव परिभाषितं तथापि  
हेतुविद्यासु न्यायाख्यास्त्रिति पुनर्वचनं न्यायस्य प्रतिज्ञा दि-  
पञ्चावयवात्मकत्वप्रसिद्ध्या बोद्धव्यां तद्गुमनिरासार्थम् ॥ १७३ ॥

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्यरान् ।

तथाहि सा चकोराली स्थितैवाद्यापि मे हृदि ॥१७४॥

तत्र मौगतदर्शनरूपन्यायविरोधमुदाहरति । सत्यमेवेति ।  
कस्य चिच्चिरविरहिण उक्तिरियं । सुगते बुद्धः, संस्कारान्  
भावनास्थान् तेषामेव प्रकृतोपयोगात्, अविनश्यरान् नाश  
प्रतियोगिताशून्यान्, सा सुचिरमनुभूता, स्थितैवाद्यापि मे  
हृदीति अद्यापि सा स्मरणधारया विषयोभवतीत्यर्थः सति  
प्रति संस्कारस्य जनकत्वात् तस्य चाविनश्यरत्वेन सर्वकालीन-  
त्वादयुज्यत एव सतिधारारूपकार्यमश्वत्, अत्र क्षणभङ्ग-  
वादिनां मौगतानां मते भावमात्रस्यैव क्षणिकत्वात् संस्कार-  
स्यापि क्षणिकत्वमेव प्रकृते तस्याविनश्यरत्ववर्णनं मौगतन्याय-  
विरुद्धम् ॥ १७४ ॥

कापिलैरसदुद्भृतिः स्थान एवोपवर्ष्यते ।

असतामेव दृश्यन्ते यस्माद्स्माभिरुद्भवाः ॥ १७५ ॥

माह्यदर्शनरूपन्यायविरोधमुदाहरति । कापिलैरिति । कापि-  
लैः माह्यविद्भिः, असदुद्भृतिरसतामनित्यानामयच्च दुर्दृत्ताना-  
मुद्भृतिरुत्पत्तिः स्थान एव युक्ततरमेव उपवर्ष्यते, कुत इत्याह  
यस्माद्स्माभिः संप्रति असतामेव सद्भिन्नानामेव खलानामेवेत्यर्थः  
उद्भवा दृश्यन्ते, अत्रामच्छब्दस्य श्लिष्टतया वाक्यार्थयोर्हेतुहेतु-  
सद्भावः । मतः सदेव जायते न त्वमदिति कापिला मन्यन्ते तद्-  
कम् 'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वमश्वत्वाभावात् । शक्तस्य

शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यमिति । तेनात्रासदुद्भूति-  
वर्षनं साङ्गन्यायविरुद्धम् ॥ १७५ ॥

गतिर्न्यायविरोधस्य सैषा सर्वत्र दृश्यते ।

अथागमविरोधस्य प्रस्थानमुपदिश्यते ॥ १७६ ॥

न्यायविरोधमुपसंहरति । गतिरिति । सैषा सौगत-  
कार्पिलोक्तप्रकारा, सर्वत्र वैशेषिकादिष्वसि, दृश्यत इत्यत्र दर्शितेति  
क्वचित्पाठः, सैषाद्यन्यत्र दृश्यतामिति पाठस्तु सम्भक् ।  
आगमविरोधं दर्शयन्नाह अथेति ॥ १७६ ॥

अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।

विप्रा वैश्वानरोमिष्टिमक्तिष्टाचारभूषणाः ॥ १७७ ॥

तत्र श्रुतिविरोधमुदाहरति । अनाहिताग्नय इति ।  
अनाहिताग्नयोऽकृताग्न्याधानाः, वैश्वानरोमिति विश्वानरो  
भूतसमस्यात्मको विराट् पुरुषः 'विश्वानरमुपास्ते विद्युदा-  
दित्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यात्मकैः षड्भिरूपेतमिति श्रुतेः' तत्स-  
म्बन्धिनीमिष्टिं यागम्, अत्र जाताग्न्याधानादेरेव श्रुतौ वैश्वान-  
नरयागाधिकारविधानादनाहिताग्न्यादीनां तद्वर्षनं श्रुति-  
विरुद्धम् ॥ १७७ ॥

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः ।

स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥ १७८ ॥

श्रुतिविरोधमुदाहरति । असाविति । अनुपनीतोऽपि

अजातोपनयनाख्यसंस्कारोऽपि, अधिजने अधीतवान्, दृष्टा-  
 क्तेनेदं द्रढयति स्वभावेति, अत्रानुपनीतस्य वेदाध्ययनं  
 सतिविरुद्धं, तथाच मनुः 'नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनैयना-  
 दृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावदेदे न जायत' इति ॥ १७८ ॥

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।

उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥ १७९ ॥

इदानीं निरुक्तविरोधाख्यदोषस्य क्वचिद्गुणत्वमपि भवतीति  
 दर्शयन्नाह । विरोध इति । सकलोऽपि देशाद्यागमान्तवि-  
 षयोऽपि, कवेर्वर्णयितुः कौशलं प्रोढोक्त्या विरुद्धार्थस्यापि वर्ण-  
 नेन वैचित्र्यप्रतिपादनं वैचित्र्यञ्च क्वचिदलङ्कारविशेषरूपं  
 क्वचिद्भङ्गविशेषरूपञ्च तस्मात्, दोषगणनां दोषेषु गण्यत्वमु-  
 त्क्रम्य परित्यज्य, गुणस्य वीथीं मार्गं गुणत्वमित्यर्थः ॥ १७९ ॥

तस्य राज्ञः प्रभावेन तदुद्यानानि जज्ञिरे ।

आर्द्राण्युकप्रवालानामास्यद् सुरशाखिनाम् ॥ १८० ॥

तत्र देशविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । तस्येति । तस्य कस्य-  
 चिद्भौडादिदेशविशेषीयस्य, तदुद्यानानीति काकाचिन्यायेना-  
 नुषङ्गेण वान्वयो न रुचिर इत्यभिप्रेत्य तत्पदेन राजा परा-  
 मृष्टः, तानि प्रसिद्धान्युद्यानानि तदुद्यानानीति वा, आ-  
 र्द्राण्यभिभवान्यणुकानि वस्त्राण्येव प्रवालानि पद्मवा येषां  
 ते तथा तेषां सुरशाखिनां कल्पवृक्षाणाम्, जज्ञिरे इति

उद्देश्यापेक्षया बहुवचनम्, अत्र मर्त्यलोकोद्यानेषु स्वर्गिय-  
सुरशाखिसम्भवे वर्णित इति देशविरोधः स च वर्णनीयस्य  
राज्ञो विभूतिमहत्त्वरूपोदात्तालङ्कारमाविष्करोतीति चम-  
त्कारजननाहुण एव, कविकौशलञ्चात्र उदात्तालङ्कृतिप्रति-  
पादनम् ॥ १८० ॥

राज्ञां विनाशपिण्डुनश्चार खरमारुतः ।

धुन्वन् कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोद्गमान् ॥ १८१ ॥

कालविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । राज्ञामिति । राज्ञां  
वर्णनीयनृपस्य यातव्यभूपानां, सप्तच्छदोद्गमान् सप्तपर्षवृक्षा-  
णामुद्गतपुष्पाणि, अत्र विजिगीषेर्युद्धयात्रा सप्तच्छदोद्गमाश्च  
शरत्काले भवन्ति तत्र च कदम्बपुष्पाणि न जायन्ते तेषां  
वर्षाभवत्वादिति कालविरोधः, स च 'अकाले फलपुष्पाणि  
देशविद्रवकारणमिति विष्णुधर्मोत्तरात् खरमारुतवदाका-  
लिकपुष्पफलोद्गमस्यापि लोकविनाशसूचकत्वात् प्रतिपन्नभूपा-  
नामवग्यम्भाविमरणद्योतनेन विजिगीषोरुत्कर्षातिशयव्यञ्जनाद्-  
गुण एव, तादृशव्यङ्ग्यप्रतिपादनञ्चात्र कविकौशलम् ॥ १८१ ॥

दोलाभिप्रेरणत्रस्तबधूजनमुखोद्गतम् ।

कामिनां लयवैषम्यं गेयं रागमवर्द्धयत् ॥ १८२ ॥

कलाविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । दोलेति । दोलाया अभि-  
प्रेरणं सवेगचालनं तेन त्रस्ता ये बधूजनास्तेषां मुखेभ्य उद्गतम्

अतएव लयस्य गीतादिषाम्बस्य वैषम्यं वैपरीत्यं यच्च तादृशमपि  
गेयं गानं कामिनां रागमवर्द्धयदित्यन्वयः, लयशुद्धमेव  
गानं श्रोतॄणां रागवर्द्धकमिति संगीतशास्त्रस्थितिः प्रकृते  
च तद्वैपरीत्यमिति गीतरूपकलाविरोधः सच बधुजनेषु का-  
मिनामत्यनुरागित्वव्यञ्जनाद्गुण एव ॥ १८२ ॥

ऐन्दवादर्चिषः कामो शिशिरं हव्यवाहनम् ।

अबलाविरहक्लेशविह्वलेः गणयत्ययम् ॥ १८३ ॥

लोकविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । ऐन्दवादिति । ऐन्दवा-  
दिन्दुसम्बन्धिनाऽर्चिषः किरणात्, अर्चिःशब्दस्य किरणवा-  
चित्वं क्लीवञ्च बहुषु दृश्यते, अपेक्ष्येति यजन्तगर्भत्वात्  
पञ्चमी, हव्यवाहनं वह्निमपि शिशिरं शीतलं गणयति यतो-  
ऽबलाविरहक्लेशविह्वलः, अत्र हव्यवाहनोऽपि शिशिर इति  
लोकविरोधः सच विरहिषु चन्द्रकिरणस्यात्युद्दीपकत्वव्यञ्ज-  
नाद्गुण एव ॥ १८३ ॥

प्रमेयोऽप्यप्रमेयोऽसि सफलोऽप्यसि निष्फलः ।

एकस्वमप्यनेकोऽसि नमस्ते विश्वमूर्त्तये ॥ १८४ ॥

न्यायविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । प्रमेय इति । प्रमेयः  
प्रमाणजन्यप्रमितिविषयः अप्रमेयस्तद्भिन्नः, सफलः फलं कार्यं  
तत्सहितः जगत्कारणमित्यर्थः, निष्फलस्तद्भिन्नः, एकस्तत्त्व-  
तोऽद्वितीयः, अनेकः 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादि-



श्रुतेः' प्रपञ्चात्मकत्वेन बहुरूपतया प्रतीयमानः, अत्र प्रमेयत्वा प्रमेयत्वादीनां सामानाधिकरण्यं केनापि दर्शनकृता नोक्त-  
मिति न्यायविरोधः सच प्रकृतेऽलङ्काररूपः परमात्मनोऽचि-  
न्यमहिमत्वं व्यञ्जयन् गुण एव ॥ १८४ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां पत्नी पाञ्चालपुत्रिका ।

सतीनामग्रणीश्चासीद्देवो हि विधिरोदृशः ॥ १८५ ॥

आगमविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । पञ्चानामिति । पाञ्चाल-  
पुत्रिका द्रौपदी, अग्रणीः श्रेष्ठा, देवो देवसम्बन्धी विधिर्विधा-  
नम् ईदृशः आगमापरतन्त्रः युधिष्ठिरादीनां धर्माद्यंशतया  
द्रौपद्याश्च पृथिव्यधिष्ठातृरूपतया देवत्वादिति भावः, अत्रै-  
कस्याः पञ्चपतित्वं सत्यपि तस्मिन् साध्वीश्रेष्ठत्वञ्च श्रुत्या मन्वा-  
दिभिर्वा नोक्तमित्यागमविरोधः सच दैवविधानस्य शास्त्रान-  
पेक्षितया वैलक्षण्यं व्यञ्जयन् गुण एव ॥ १८५ ॥

शब्दार्थालङ्कियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः ।

गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिताः ॥ १८६ ॥

इत्थं प्रतिज्ञातान् गुणादीन् निरूप्य ग्रन्थमिममुपसंहरति ।  
शब्दार्थेति । शब्दार्थालङ्कियाः शब्दार्थोभयात्मककाव्यशोभा-  
जनकाः स्वभावाख्यानाद्यलङ्काराः तेषां द्वयोरपि शब्दार्थयोः  
कचित् साक्षात् क्वचित् परस्परया वा शोभाजनकत्वात् पूर्वोक्त-  
युक्त्या शब्दार्थयास्तादात्म्याभ्युपगमाच्च । तथा सुकरदुष्कराः

केचित् सुकराः केचिदुष्कराश्च चित्रमार्गाः शब्दमात्रालङ्कारा यमकादयः, एषां शब्दमात्रस्यैव शोभाजनकत्वात् । गुणाः श्लेषादयः, दोषा अपार्यत्वादयः, चकारात् काव्यलक्षणतद्भेदतन्मार्गाश्च, संचिष्य दर्शिता इति सर्वेषां कार्त्स्न्यभेदस्यादर्शितत्वादिति भावः । अत्र य एव निरूपितास्त-एवोपसंहारवाक्ये दर्शितत्वेनोक्ताः नतु निरूपणक्रमेण तथा-त्वे गुणानां पश्चादुपादानं न स्यादिति बोध्यम् ॥ १८६ ॥

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन  
मार्गेण दोषगुणयोर्विशवर्त्तिनीभिः ।  
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि  
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्त्तिम् ॥ १८७ ॥

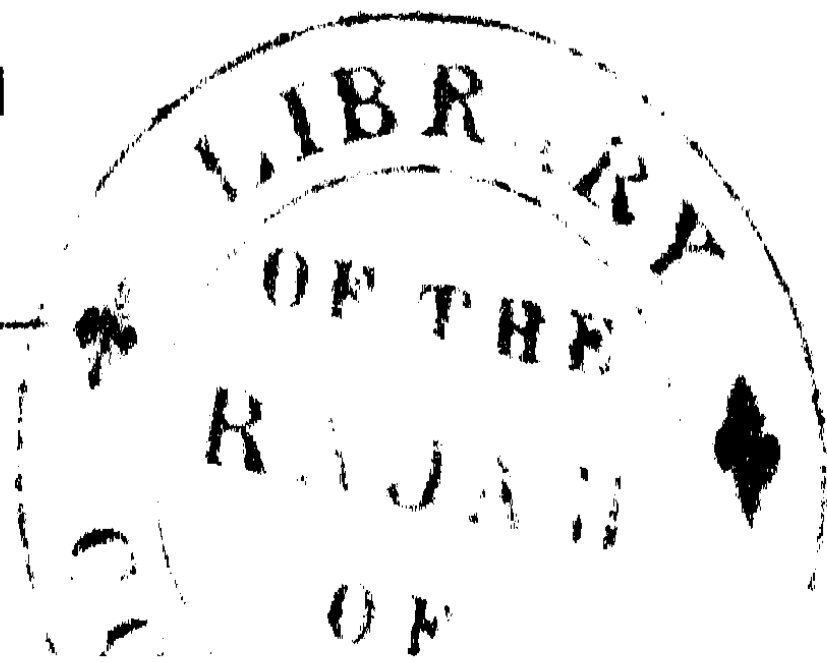
इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शं शब्दालङ्कारदोष-  
विभागोनाम तृतीयः परिच्छेदः ।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

ननु संचिष्य दर्शिता इत्युक्तं तत्र संचेपेण दर्शनायां कथं  
ग्रन्थप्रयोजनसिद्धिरित्याशङ्कोपपादयन् ग्रन्थं समापयति ।  
व्युत्पन्नेति । अमुना निरुक्तेन विधीयन्ते निरूप्यन्ते एभिरिति  
विधयो लक्षणादयः तैर्दर्शितेन दोषगुणयोर्हेयोपादेयधर्मयो-  
र्मार्गेणावस्थितिप्रकारेण परिज्ञातेनेति शेषः व्युत्पन्ना ग्रन्थप्रयो-  
जनभूतव्युत्पत्तिमती बुद्धिर्यस्य सः, तथा अमुनैव मार्गेण कृता-  
भिसरणः काव्यं कर्त्तुमवगन्तुं वा कृतोद्यमः कविर्वाङ्मा वा

वशवर्तिनीभिः पुनःपुनरनुशीलनेनायत्ताभिर्वाग्भिः काव्य-  
रूपाभीरमते निर्वृतिमान् भवति तथा कीर्त्तिञ्च लभते इत्य-  
न्वयः एतेन निर्वृतिः कीर्त्तिश्चापि काव्यस्य प्रयोजनमिति  
पर्यावसाने प्रतिपादितम्, अत्र काकात्तिन्यायात् मार्गेणेत्यस्य  
प्रथमान्तकर्तृविशेषणद्वयेनाप्यन्वयः, गुणपदञ्चालङ्कारोपलक्षकं  
तेषामपि काव्यशोभाजनकत्वेनोपादेयधर्मत्वात् । यद्वा व्युत्प-  
न्नबुद्धिर्देशकालादिविषयपरिशीलनेन निपुणमतिः वाग्भिः  
स्वयमेवामुना मार्गेण कृतमभिसरणं यस्य तादृशः सन् कृता-  
स्पदः सन्नित्यर्थः रमते कीर्त्तिञ्च लभते इत्यन्वयः, अत्रापमि-  
नोति मदिरंक्षणाभिर्धन्यः पुण्यवान् युवेवेति यथा वशवर्त्ति-  
नीभिः प्रेमवशीकृताभिर्मदिरंक्षणाभिर्वराङ्गणाभिः विधिदर्शि-  
तेन विधिर्देवं तेन दर्शितेन विद्युत्प्रकाशादिना प्रकाशितेन  
दोषो जनपरिज्ञानादिरूपः गुणस्तदभावः तयोर्मार्गेण अनेन  
मार्गेणाभिसरणेऽयं दोषः अनेन तु गुण इति दोषगुणौ विविच्य  
स्वानुकूलतया परिगृहीतेन वर्त्मनेत्यर्थः कृतमभिसरणमभि-  
मारो यस्य तादृशो धन्यो युवा रमते वराङ्गणाप्रेमास्पदत्वकी-  
र्त्तिञ्च लभते तथेत्यर्थः ॥ १८७ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचितायां मालिन्य-  
प्राञ्छनीसमाख्यायां काव्यादर्शटीकायां शब्दालङ्कारदोष-  
विभागोनाम तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥



उद्दृष्टैस्त्रयुषोपतिविजितमिदं भारतं वर्षमस्मिन्  
 कल्क्याता राजधानी धनिगुणिवणिजां वासभृभुविभूषा ।  
 अस्यामस्यातिकास्या समितिरमितधीवैभवैः कालजीर्णै-  
 प्राच्याश्चर्यप्रमेयोद्भूतिपरमतिभिः सज्जनैः सज्जितभृत् ॥ १ ॥  
 आदेश एव तस्याः कृशमतिवचसोऽपि मेऽजनघत्  
 व्याख्यानेऽस्मिन् शक्तिं, गरयति हि सद्यं परियहो रताम् ॥ २ ॥

क वयं मन्दमतयः क च प्राची वचोऽम्बुधिः ।  
 मन्ये विखोडमादस्य विषमेव समुत्थितम् ॥ ३ ॥

याचे नतः कविवरानवरापि यायाद्  
 दुष्प्रकमोक्षणपथं विवृतिर्ममेयं ।

नाङ्गीकृतं स्वपयदङ्गमनङ्गजेना

संप्रार्थितेन गरसं सरसात्मना किम् ॥ ४ ॥

उत्कर्षी कश्चापर्वेवल्लवलिजयिनोर्ज्ज्वलनोऽम्बुधितश्री  
 वैशो विश्वावतंसोऽवमथिकुलमितश्यामलं प्रादुगामीत्  
 एतस्मान्मध्यगाढाविततगुणगणो यामणीः सज्जनानां  
 समुत्तोरामनारायणधरणिपुरः शाकराढानिवासा ॥ ५ ॥

तस्यात्मजेन जनदुर्गमकाव्यमार्गसातत्यसञ्चरणसुखसमादरेण ।

रोपदिपाश्र्वशश्रुद्विमिते शकाब्दे श्रीप्रेमचन्द्रकविना विवृतिः

कृतयम् ॥ ६ ॥

काठिन्यमालिन्यनिवारणेन सुदर्शमादर्शमसौ चकार ।

पुरस्कृतेऽस्मिन् प्रतिविम्बमाप्तान् पश्यन्तु भावान् सुधियः सुखेन

॥ ७ ॥





